श्रीधन्वन्तरये नमः

'इद नमः ऋषिभ्य पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।'

(ऋ० १०।१४।१५)

पूर्वकाल के पूर्वज ऋषियो, जिन्होने
ज्ञान के अरण्य में पगडण्डियो का
निर्माण किया है, को प्रणाम ।

प्राक्कथन

व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के सवर्धन का सबसे प्रबल कार्य है—उनके स्वास्थ्य, उनके जीवन के विकास और उनके आनन्द की साधना। प्रगति और उन्नति की धुरी है—मानव का सुन्दर एव अनिन्द्य स्वास्थ्य तथा बलिष्ठ शरीर एव सुदृढ मन की सरचना। निरन्तर गति मानव-जीवन की प्रगति का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, उसके कानो मे 'चलते रहो, चलते रहो' की ध्वनि गूँजती रहनी चाहिए। जागृत और सचेत रहना ही जीवन है। सोने का नाम कलि है, अँगडाई लेने का नाम द्वापर है, उठकर खडे हो जाने का नाम त्रेता और चल पडने का नाम सतयुग है[1]। अत. हमे सतयुग के रास्ते पर चलने का व्रत लेना चाहिए।

जब तक 'चरैवेति चरैवेति' के सगीत की धुन व्यक्ति या राष्ट्र के रथचक्रो मे गूँजती रहती है, तब तक ही वे प्रगति और उन्नति के सोपान पर आरूढ होकर अपने प्राप्तव्य उच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहते हैं। मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना सास्कृतिक विकास की एक बहुफलप्रदा विधा है। इस परिप्रेक्ष्य मे पूर्व और नूतन के समन्वयन की कल्पना करना एक उच्च सस्कृति की उर्वर भूमिका तैयार करना है।

यह एक सुविचारित सूक्ति है कि 'किसी वस्तु की उत्तमता की कसौटी उसका पुरानापन नही है और न तो किसी वस्तु की अनर्हता की कसौटी उसका नयापन है'[2]।

वे लोग मूढ हैं, जो बुद्धि-दारिद्र्य के कारण दूसरो की बात पर बिना सोचे-विचारे अमल करते है। जो बुद्धि-सम्पन्न है, वे गुण-दोष के आधार पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् किसी की बात मानते है या इनकार करते है।

नयेपन और पुरानेपन के प्रपञ्च मे न पडकर विवेक और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखकर नये-पुराने ज्ञान-विज्ञान के मेल-जोल के पक्ष को अपनाकर

---

१ कलि शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति। —(ऐतरेयब्राह्मण)

२ पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धि॥

जहाँ कही से जीवनवृक्ष को सर्वधित करनेवाली मूल्यवती सामग्री प्राप्त हो सकती है, उसे ग्रहण कर अपनी जीवदायिनी प्राणविद्या की ज्ञानसम्पदा के विस्तार मे सातत्येन अभिरुचि रखते हुए आयुर्वेद के साथ नव्य चिकित्सा-विज्ञान का सामञ्जस्य-स्थापन एक स्पृहणीय बुद्धिकौशल है।

इसी चित्तवृत्ति के उन्मेष से अनुप्राणित होकर अधुनातन आयुर्वेद-मनीषियो ने आयुर्वेद के नवीन पाठ्यक्रम मे अनेक आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के विषयो का समावेश किया है, जो एक रमणीय निवेश है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थ **कायचिकित्सा** भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद, नई दिल्ली के आयुर्वेदाचार्य के पाठ्यक्रम मे कायचिकित्सा विषय के तृतीय प्रश्नपत्र से सम्बद्ध है। इस प्रश्नपत्र मे अनेक ऐसे विषय है, जो नवीन चिकित्सा-विज्ञान के है और जिन पर हिन्दी भाषा मे लिखित पुस्तको का अभाव है, अत मेरा यह प्रयास उस अभाव को भरने का है। पाठ्यक्रम मे निहित विषयो के तमस को विदीर्ण करने के लिए यह प्रस्तुति एक दीपशिखा है, अथवा नवीन विषय के दण्डकवन मे प्रवेश के लिए एक पगडण्डी है। अधिक प्रकाश और राजपथ के निर्माण की दिशा मे विशेषज्ञ आधुनिक तकनीकविद् शिल्पकारो को आगे आना चाहिए।

यह ग्रन्थ १६ अध्यायो मे विभक्त है। अध्याय-क्रम से विषयो का निर्धारण निम्नाङ्कित प्रकार से किया गया है—

१ **प्रथम अध्याय**—इसके अन्तर्गत वातव्याधि-निदान-लक्षण-आवरण, चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त, चिकित्सासूत्र, सामान्य चिकित्सा, विशिष्ट वातरोगो के लक्षण और विशिष्ट चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

२ **द्वितीय अध्याय**—इसमे स्थौल्य-निदान, दोष-दूष्य आदि चिकित्सा सूत्र और चिकित्सा का वर्णन है। कार्श्यरोग का सर्वाङ्ग वर्णन तथा रिकेट्स, ऑस्टियोमैलेसिया, बेरी-बेरी और पेलाग्रा के निदान, लक्षण एव चिकित्सा का वर्णन और कुपोषणजन्य विकारो की रोकथाम का वर्णन किया गया है।

३ **तृतीय अध्याय**—इसमे प्रमुख अन्त स्रावी ग्रन्थियो के रोगो के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन किया गया है। जैसे—चुल्लिका-ग्रन्थि, उपचुल्लिका, उपवृक्क, थाइमस, पोषणिका, अग्न्याशय, बीजग्रन्थि, अन्त फल और अपरा का वर्णन है।

४ **चतुर्थ अध्याय**—इसमे आनुवंशिक रोग, पर्यावरण, देश-काल-जल-वायु, पर्यावरण-परिवर्तनजन्य रोग, अंशुघात और यात्राजन्य विकारो का वर्णन है।

५ **पञ्चम अध्याय**—इसमें खाद्यान्न-विषाक्तता, भारी धातुजन्य विषाक्तता, पारद-नाग-यशद के विष-लक्षण और विषाक्तता की सामान्य चिकित्सा का वर्णन है।

६ **षष्ठ अध्याय**—इसमें दंशजनित विकार और उनका प्रतिकार, कालाजार आदि, सर्पदंशज विकार और उपचार, वृश्चिकदंश, अलर्कविष, विषजन्तु दंश, लूता, मूषक, मक्षिका, शतपदी आदि तथा शङ्काविष-लक्षण और चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

७ **सप्तम अध्याय**—इसमें व्याधिक्षमित्व, सीरम चिकित्सा, लसीका-रोग, अनूर्जता एवं चिकित्सा-प्रेरित विकारों और उपचारों का वर्णन है।

८ **अष्टम अध्याय**—इसमें क्षुद्ररोगों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

९. **नवम अध्याय**—इसमें मन का निरूपण किया गया है।

१० **दशम अध्याय**—इसमें मनोविज्ञान की उपादेयता, मानस रोगों का निदान और उनके लक्षणों का वर्णन है।

११ **एकादश अध्याय**—इसमें मानसरोगों का चिकित्सासूत्र एवं उन्माद रोग विस्तारपूर्वक वर्णित है।

१२ **द्वादश अध्याय**—इसमें अपस्मार, अतत्त्वाभिनिवेश, मनोविक्षिप्ति (Psychosis), अव्यवस्थितचित्तता (Schizophrenia), विषाद (Depression), भ्रम (Illusion), विभ्रम (Hallucination), सविभ्रम (Paranoia), व्यामोह (Delusion), मनःश्रान्ति (Neuresthenia) और मनोग्रन्थि—इनके लक्षण और उपचार का वर्णन किया गया है।

१३ **त्रयोदश अध्याय**—इसमें आत्ययिक चिकित्सा की परिभाषा, उसके स्वरूप, प्रकार एव सामान्य सिद्धान्त का वर्णन है। तरल-वैद्युत्-अम्ल-क्षार के असन्तुलनजन्य विकारों तथा दग्ध और रक्तस्राव के विविध स्वरूपों का सोपचार वर्णन है।

१४. **चतुर्दश अध्याय**—इसमें तीव्र उदरशूल, अन्नद्रवशूल, परिणामशूल, आनाह, उदावर्त, तीव्र श्वासकाठिन्य और वृक्कशूल के निदान-लक्षण-चिकित्सा का वर्णन है।

१५ **पञ्चदश अध्याय**—इसमें मूत्रावरोध, अन्त्रावरोध, हृच्छूल और मूर्च्छा का सविस्तर वर्णन किया गया है।

१६. **षोडश अध्याय**—इसमें मधुमेहजन्य उपद्रव यथा—मधुमयताधिक्य

एवं उपमधुमयता, उदर्याकलाशोथ, तीव्रज्वर, औषधप्रतिक्रिया एवं विषाक्तता का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार कायचिकित्सा के तृतीय प्रश्नपत्र के समग्र विषय इस ग्रन्थ मे सन्निविष्ट है और मुझे यह विश्वास है कि यह ग्रन्थ इस विषय के लिए उपयोगी ज्ञान प्रदान करने मे पूर्णत सामर्थ्यवान् सिद्ध होगा।

स्वाध्याय और निष्ठा का सम्बल सँजोकर ही इन विषयो पर लेखनी चलाने का साहस अर्जित किया जा सका है, क्योकि अधिकाश शीर्षक नये है और प्रथम उन्हे आत्मसात् करके ही लेखन का आरम्भ किया गया। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थो का पर्यालोचन कर उनसे साराश लेकर अपनी स्वय की शैली मे विषयो का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

इस ग्रन्थ के लेखन मे यह प्रयास किया गया है कि कायचिकित्सा के तृतीय प्रश्नपत्र के सभी विषय इस ग्रन्थ मे सुनियोजित ढग से सरल एव सुबोध भाषा मे लिखे जाये। पाठक-वृन्द अल्पश्रम से ही अध्येतव्य विषय को अपना बना सके, स्वाध्याय मे तल्लीनता हो, अभिरुचि हो, मनस्तोष हो, जिज्ञासा का उदय हो, अध्ययन मे मनोयोग हो, गतिशीलता हो और सहज ही विषय हृदयङ्गम हो जायँ, इस बात के लिए सभी विषय मनोरम रमणीय शैली मे प्रस्तुत किये गये है। अध्येता की सन्तुष्टि ही लेखन की महनीयता की परख है।

हमारे पूर्व प्रकाशित पाठ्यग्रन्थो को समादर और स्पृहणीयता मिली है और वही मेरी लेखनी'को सतत गति देनेवाली प्रेरणा है। यह ग्रन्थ जैसा भी बन पडा है, आप सहृदय भावकजनो के समक्ष है। इस ग्रन्थ के सन्दर्भ मे आप विद्वज्जनो की अवधारणा का स्वागत है। यो तो इस सृष्टि मे सर्वत्र कुछ गुण है तो दोष का होना भी स्वाभाविक है—'नहि किञ्चिददोषनिर्गुणम्' के अनुसार जहाँ प्रकाश है, वहाँ तम के अस्तित्व का भान होगा ही।

आभार

मेरे आत्मज डा० आशुतोष शुक्ल (बी० ए० एम० एस०, साहित्यरत्न) और मेरी ममता की मूर्ति पत्नी श्रीमती सुशीला देवी अनेकश धन्यवाद के पात्र हे, जिन्होने मुझे अनेक प्रकार की बाधाओ से मुक्त कर लेखन-कार्य मे प्रोत्साहन दिया तथा मनोयोगपूर्वक सहयोग देकर उत्साहवर्धन किया।

मेरे ज्येष्ठ भ्राता प० राजदेव शुक्ल वैद्य, आयुर्वेदाचार्य और उनके कनिष्ठ पुत्र डा० श्यामजी शुक्ल (बी० ए० एम० एस, एम० डी० एवाई, पी-एच डी० का० हि० वि० वि०) के प्रति आभार व्यक्त करना भी मैं

अपना नैतिक धर्म मानता हूँ, जिनके सतत अनुरोध से इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न हो सका ।

मैने इस ग्रन्थ के लेखन मे यत्र क्वापि अनेक विषयो के लेखन मे आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थो से सहायता ली है तथा ज्ञानाग्निहोत्र के व्रती जिन अन्य ऋषिकल्प विद्वज्जनो की कृतियो से किसी भी प्रकार की सहायता ली है, उन सभी के प्रति सादर आभार प्रकट करना अपना मधुर कर्तव्य समझता हूँ ।

अन्त मे मै चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी परिवार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने पुन पुन स्मरण और प्रेरणा प्रदान कर इस ग्रन्थ को पूरा कराया तथा इसका सुन्दर एव सुरुचिपूर्ण प्रकाशन-कार्य सम्पन्न किया । भगवान् विश्वनाथ उनकी सारस्वत-सेवा की प्रवृत्ति को अधिकाधिक समुन्नत करे, यही प्रार्थना है ।

ये तु शास्त्रविदो दक्षा शुचय कर्मकोविदा ।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्य कृत सम ॥

दशहरा
१८ अक्टूबर, १९९१
आशुतोष औषधालय,
जलकल रोड, देवरिया

विद्वज्जनानुचर
विद्याधर शुक्ल

विषय-सूची

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित
आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस) का पाठ्यक्रम
कायचिकित्सा : तृतीय प्रश्नपत्र
(भाग–क : ५० अंक)

१ वातव्याधि का निदान, लक्षण, सम्प्राप्ति सम्बन्धी वर्णन एवं उसके प्रतिकार का सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त तथा प्रमुख वातव्याधियों की विशिष्ट चिकित्सा का वर्णन। (द्रष्टव्य पृष्ठ १–३२)

२. कुपोषणजन्य विकार, यथा—स्थौल्य एवं कार्श्य आदि का कारण, लक्षण, सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा का वर्णन। (पृष्ठ ३३–५१)

३. विभिन्न अन्तःस्रावी-ग्रन्थियों (Indocrine, pituitary, thyroid and parathyroid glands etc.) की व्याधियाँ, उनका निदान, सम्प्राप्ति और चिकित्सा का वर्णन। (पृष्ठ ५२–६५)

४. रोगोत्पत्ति में आनुवंशिकी (Hereditary), पर्यावरणीय (Environmental), व्याधिक्षमत्व (Immunity), चिकित्सक प्रेरक, आनुवंशिकी कारक, सामान्य परिचय, उनका मूल सिद्धान्त, दोष प्रकार, परामर्श तथा प्रतिकार का ज्ञान। (पृष्ठ ६६–९६)

खाद्य पदार्थों की विषाक्तता (Food poisoning) का प्रकार एवं प्रतिकार क्रम। भारी धातु (Heavy metal) जन्य विषाक्तता (व्याधि) का प्रकार, स्वरूप और प्रतिकार। उष्णता एवं शीतता जन्य विकार और उसके प्रतिकार। यात्राजन्य विकार, उसका प्रतिकार, वातावरण का प्रभाव, वातावरण की परिवर्तन जनित व्याधि एवं उसके प्रतिकार तथा प्रतिश्याय। (पृष्ठ ९७–११५)

किसी भी प्राणियों के द्वारा काटे जाने से उत्पन्न विकार और उनका प्रतिकार। (पृष्ठ ११६–१३६), व्याधिक्षमित्व (Immunity), विकृतिजन्य (Pathological) व्याधियाँ, उनका सामान्य परिचय और प्रतिकार (चिकित्सा)। यथा—प्राथमिक व्याधिक्षमता एवं व्याधिक्षमत्वहीनता, द्वितीय व्याधिहीनत्वक्षमता, सीरमजनित विकार, औषध अनूर्जता, चिकित्सक प्रेरित रोग और उनका सामान्य परिचय, प्रकार और प्रतिकार। (पृष्ठ १३७–१५३)

५ क्षुद्र रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा। (पृष्ठ १५४–१६६)

(भाग–ख ५० अंक)

१ **मानस रोग**—मन पद की निरुक्ति, मन का स्थान, मन के गुण और कर्म। मानस रोगों के सामान्य कारण। मन के भावों—लोभ, मोह, क्रोध, हठ, विलाप, प्रीति,

---

ज्ञातव्य—विषय के आगे कोष्ठक मे उल्लिखित अंक पुस्तक की पृष्ठ सख्या के सूचक हैं।

भय, धैर्य, श्रद्धा, चेष्टा, स्मृति, ईर्ष्या, द्वेष, हर्ष एवं शोक आदि के मानस रोगोत्पादन करने में महत्त्व। मानस रोगों के उत्पन्न होने में सामाजिक आचार, यथा—भ्रान्ति, शील, शौच आदि का महत्त्व। मानस रोगों का निदान, लक्षण, भेद, सम्प्राप्ति-वर्णन और चिकित्साक्रम। (पृष्ठ २१०–२१५); यथा—उन्माद, अपस्मार, अतत्त्वाभिनिवेश, अव्यवस्थितचित्तता, अपतन्त्रक, मनोविक्षिप्ति, अवसाद, भ्रम, विभ्रम, विश्वाससघर्ष, मनोसघर्ष एव मनोग्रन्थि। मनोपसृष्टजनित मानसिक विकार, उनकी दैवव्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय चिकित्सा। (पृष्ठ २१६–२५१)

२. वार्धक्य—वृद्धावस्थाजन्य विशिष्ट व्याधियों के कारण, लक्षण और चिकित्सा।

(पृष्ठ २५०)

३. आत्ययिक चिकित्सा—आत्ययिक चिकित्सा की परिभाषा, स्वरूप एवं प्रकार और आत्ययिक चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त का ज्ञान। (पृष्ठ २५२)

अधोलिखित कायचिकित्सा में आत्ययिक अवस्था का प्रबन्ध (व्यवस्था)। यथा—जल एवं वैद्युत (Electrolight Substance) की हीनता (पृष्ठ २५४–२६७), जलना (पृष्ठ २६८–२७७), तीव्र रक्तस्राव (पृष्ठ २७७–२८४), तीव्र उदरशूल (पृष्ठ २८५–२८७), तीव्र वृक्कशूल (पृष्ठ २९१–२९४), तीव्र श्वासजन्य कष्ट (पृष्ठ (२८७ –२८८), मूत्रावरोध (२९५–२९७), अन्त्रावरोध (पृष्ठ २९८–३००), हृच्छूल (पृष्ठ ३००–३०५), मूर्च्छा (पृष्ठ ३०५–३१०), मधुमेहजन्य (Hypoglasia-Hyperglasia) उपद्रव (पृष्ठ ३११–३१४), उदर्याकलाशोथ (पृष्ठ ३१५–३१७), आन्त्रशोथ (३१७–३१९), तीव्र ज्वर (पृष्ठ ३२०), औषध-प्रतिक्रिया (Medicinal reaction) और विषाक्तता। (पृष्ठ ३२२–३२६)

॥ श्री ॥

काय-चिकित्सा

प्रथम अध्याय

वातव्याधि

परिचय

जो रोग केवल वातदोष के विकृत होने से होते है, उन्हे **वातव्याधि** कहते है, जैसे चरक (च० सू० २०) ने अस्सी प्रकार के वातज विकार कहा है । वातव्याधियो के स्थान अग-विशेष या सर्वाङ्ग या कोष्ठ या दूष्य धातु हो सकते है । वायु आशुकारी, चलनशील, अतिवलवान् तथा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओ का प्रेरक होता है और पित्त एव कफ भी उसी के द्वारा सचालित होते है । अत सर्वगुणी दोष होने के कारण स्वतन्त्र अध्यायो के रूप मे वातव्याधि का वर्णन आचार्यों ने किया है ।

इन वातरोगो मे कही वात के कर्म की वृद्धि देखी जाती है और कही कर्मक्षय देखने मे आता है, अत वातव्याधि मे वात की वृद्धि तथा ह्रास एव विचित्र चित्र देखने मे आते है ।

निरुक्ति

मधुकोषकार ने वातव्याधि शब्द की तीन प्रकार से निरुक्ति कर निम्नलिखित रूप मे शङ्का-समाधान प्रस्तुत किया है—

(१) 'वात एव व्याधि , इति वातव्याधि ' **'वात ही व्याधि है'** इस निरुक्ति के करने से नीरोग और स्वस्थ व्यक्तियो मे वात की उपस्थिति होने से उनमे भी वातव्याधि की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी ? अत यह निरुक्ति मान्य नही है । (२) 'वातेन जनितो व्याधि , वातव्याधि.' **'वात से उत्पन्न व्याधि ही वातव्याधि है'** इस निरुक्ति से ज्वर, अतिसार आदि रोगो मे भी वातव्याधि की अतिव्याप्ति (अलक्ष्य मे लक्षण का घट जाना) हो जायेगी, क्योकि वे रोग वात से भी उत्पन्न होते है । अत (३) 'विकृतवातजनितोऽसाधारणो व्याधिर्वातव्याधि ' । **'विकृत वात से उत्पन्न असाधारण व्याधि ही वातव्याधि है'** यह तृतीय निरुक्ति निर्दुष्ट है । विकृत शब्द के प्रयोग से स्वस्थ व्यक्तियो मे अतिव्याप्ति नही होगी । इसी प्रकार असाधारण शब्द के प्रयोग से ज्वर आदि मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि वे केवल वात से ही नही, अपितु वात के समान पित्त और कफ से भी उत्पन्न होते हैं ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—

१. चरकसंहिता सू० अ० १२, अ० २०; चिकित्सा० अ० २८ तथा सु० १६ ।

२ सुश्रुतसहिता निदान० अ० १, चिकित्सा० अ० ४ तथा ५ ।

३ अष्टाङ्गहृदय निदान० अ० १५, अ० १६, चिकित्सा० अ० २१ तथा २२ ।

सामान्य निदान[1]

वातव्याधि के निदान अनेक श्रेणियो मे बँटे हुए है, सक्षेपत निम्नलिखित है—

(१) **वातवर्धक आहार सम्बन्धी**—१ रूक्ष २ शीत ३ अल्प ४ लघु ५ प्रमित ६ विरुद्ध ७ असात्म्य ८ कटु ९ तिक्त १० कषाय ११ दारुण १२ खर १३ विशद तथा १४ विपम आदि आहार तथा १५ उपवास एव १६ आहार-विधि के विपरीत आहार ।

(२) **वातवर्धक विहार सम्बन्धी**—१. अतिमैथुन २ अतिजागरण ३ अति-व्यायाम ४ वेगविधारण ५ चिन्ता ६ शोक ७ काम ८ भय ९ प्लवन (तैरना) १० कष्टकर शय्या ११ हाथी-ऊँट-घोडे की सवारी १२ अति अध्ययन १३ प्रधावन १४ प्रपीडन १५ उच्च भापण १६ भार-वहन १७ बलवद्विग्रह १८ असात्म्य विहार आदि ।

(३) **रोगातिकर्षण**—किन्ही दीर्घकालीन रोगो के होने से शरीर का कृश होना ।

(४) **धातुक्षय**—रस-रक्तादि धातुओ का ह्रास होना ।

(५) **मार्गावरोध**—वायु के मार्ग का अवरोध होना ।

(६) **धातु या किसी दोष का आवरण ।**

(७) **आमरसोत्पत्ति ।**

(८) **स्वयं दोष का क्षय ।**

(९) **पञ्चकर्म का व्यतिक्रम**—देश-काल आदि के अनुसार प्रयोग ।

(१०) **अन्य हेतु**—१ रक्तनिर्हरण २ अभिघात ३ मर्मस्थान की बाधा । ४ प्रपीडन ५ विषमोपचार ६ पुरीपक्षय, ७ अभोजन ८ ग्रीष्मऋतु आदि ।

सम्प्राप्ति

स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित हुआ वायु शरीर मे रिक्त स्रोतो को परिपूर्ण करके अनेक प्रकार के सर्वाङ्गव्यापी या एकाङ्गगत रोगो को उत्पन्न करता है ।

१ च० चि० २८-२९ । सु० नि० १ चि० ४५ । अ० हृ० नि० १५-१६, चि० २१ २२ ।
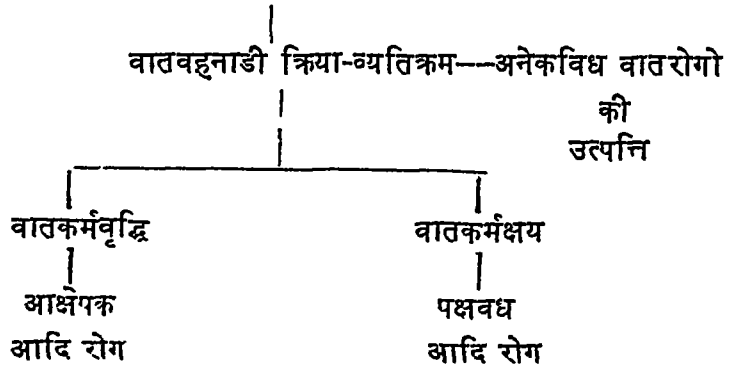
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. **दोष**—वात ।

२. **दूष्य**—सर्वधातुएँ—रक्त, मास, मेद प्रमुख दूष्य तथा वातवहस्रोत ।

३ **अधिष्ठान**—कण्डरा, अग-प्रत्यग-सर्वाङ्ग, आवरण जन्य, मास, सिरा, स्नायु, अस्थि-सन्धियाँ ।

वक्तव्य—शरीर की प्रत्येक ऐच्छिक या अनैच्छिक और समन्वयकारक क्रियाओ का अधिष्ठाता एव इन क्रियाओ की प्रकृतिस्थता के द्वारा आयु और बल को स्थिर रखनेवाला वायु ही है । ये कार्य वातनाडियो द्वारा सम्पादित होते है, अत **वायु से वातनाडियो का ग्रहण करना युक्तिसंगत है ।**

वायु का कोई रूप नही होता, उसका ज्ञान शब्द और मुख्यत स्पर्श के द्वारा किया जाता है । वातनाडी को ही वात का रूप नही मानना चाहिए, अपितु वातनाडी वात का अधिष्ठान तथा वात के कार्य-सम्पादन का माध्यम है । जिस प्रकार बिजली के तारो मे विद्युद् धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार वातनाडियो मे वात प्रवाहित होता है । वातनाडी आश्रय है और वात आश्रयी है । नाडीमण्डल को आश्रय बनाकर वात शरीर और मन की सम्पूर्ण क्रियाओ का सम्पादन करता है ।

वायु ही समस्त शरीर मे फैले हुए सिरा, धमनी आदि तन्त्र तथा हृदय, फुप्फुस, यकृत् एव मस्तिष्क सदृश यन्त्रो को अपने-अपने कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है । चेष्टावहनाडियो (Motor nerves) के द्वारा पेशियो मे विविध प्रकार की गतियो को उत्पन्न करना भी वात का ही कार्य है । मन का नियमन और मानसिक वृत्तियो का उत्पादन वायु का ही कार्य है । वायु की ही शक्ति से चेष्टावहनाडियो (Motor nerves) तथा सज्ञावहनाडियो (Sensory nerves) के द्वारा सकल कर्मेन्द्रियाँ एव ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यो मे प्रवृत्त होती है । शरीर की सम्पूर्ण धातुओ को वायु ही यथास्थान रखता है । वाणी का व्यापार (उदान) वायु के अधीन है । अग्नि का भी प्रेरक वायु ही है । वायु ही वातनाडियो के आश्रित होकर स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि मलो का बहिःक्षेपण, गर्भ की आकृति का निर्माण तथा दीर्घायु की प्राप्ति कराता है । उक्त सभी कार्य वातनाडियो के अधीन है, अत वात से वातनाडी का ग्रहण किया जाना उचित है ।

प्रकुपित वायु विपरीत कर्म करने के कारण अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगो को उत्पन्न करता है । सक्षेपत वायु के स्थान और प्राकृत तथा वैकृत कर्म निम्न प्रकार के है—

प्राणवायु—इसका मुख्य केन्द्र शिर है । कण्ठ, हृदय तथा फुप्फुस तक इसका विस्तार रहता हे । इसकी विकृति से हृदय तथा फुप्फुस के रोग होते हैं ।

उदानवायु—इसका प्रधान स्थान कण्ठ और फुप्फुस है । इससे फुप्फुसीय नाडीजाल (Pulmonary plexus) का भी ग्रहण कर सकते हैं । इसमे विकृति होने से स्वरभेद तथा श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी रोग होते है ।

व्यानवायु—इसका प्रधान स्थान हृदय तथा सर्वशरीर बतलाया गया है। यह रक्तसचार, अनैच्छिक मासपेशियो की गति, हृत्स्पन्दन तथा धमनीप्रधमन का कार्य करता है। इसमे विकृति होने से हृदय के रोग तथा सर्वशरीरगत वातविकृति के लक्षण मिलते हैं। वायु ही शरीर की जीवनशक्ति है। इसके विकृत या क्षीण होने पर शरीर भी क्षीण एव दुर्बल हो जाता है। वातनाडियाँ ही शरीर का पोषण करती हैं—'Nerves exercise ątrophic or neutritive influence over the tissues and organs they supply' व्यानवायु की विकृति से ही कृशता, दुर्बलता तथा शोष और मासपेशी-क्षय (Muscular atrophy) जैसे रोग होते हैं।

समानवायु—इसका प्रधान केन्द्र पाचनसस्थान है। इससे अधिजठर प्रदेशीय नाडीचक्र (Epigastric plexus) का ग्रहण हो सकता है। इसकी विकृति से पाचनक्रिया मे विकृति एव तज्जन्य मलवन्ध, आनाह, शूल, ग्रहणी, अतिसार आदि रोगो की उत्पत्ति होती है।

अपानवायु—इसका प्रधान स्थान गुदा या नाभि से अधोभाग है। इसके प्राकृत रहने पर मल-मूत्र आदि का त्याग यथासमय और उचित रीति से होता है। इसके विकृत होने पर मूत्राघात, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, अर्श तथा गर्भ की असम्यक् प्रवृत्ति सदृश विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

पूर्वरूप

वातरोगो के अव्यक्त लक्षण (ईषद् व्यक्त लक्षण) ही वातव्याधि के पूर्वरूप होते हैं। ज्वर आदि रोगो मे अलग से पूर्वरूप के लक्षण दिये हुए हैं, किन्तु 'वात-व्याधि' तथा 'उर क्षत' मे केवल 'अव्यक्त लक्षण' कहकर पूर्वरूप का वर्णन किया गया है।

रूप या लक्षण

वातविकारो के व्यक्त लक्षण ही वातव्याधि के रूप है।

वातव्याधियो के सामान्य लक्षण

१. अगुलिपर्वों मे सकोच होना २ सन्धियो का जकडना ३ अस्थिभङ्ग (हड्डी टूटना) ४ सन्धिविच्युति (Dislocation) ५ रोगटे खडे हो जाना ६ प्रलाप ७ हाथ-पैर-पीठ और शिर का जकडना ८ लगडापन ९ पगुता १० कूवड होना ११ अङ्गशोष १२. अनिद्रा १३ गर्भनाश १४ शुक्रनाश १५ रज क्षय १६ अगो मे फडकन १७ अगो मे सूनापन १८ शिर-नासिका-नेत्र-जत्रु और गरदन का टेढा होना १९ अगो मे टूटन होना—सूई चुभाने जैसी वेदना और पीडा होना २०. बार-बार आक्षेप और २१ थकावट होना—ये वातरोगो के सामान्य लक्षण है।

वात के बाइस प्रकार के आवरण

१. पित्तावृत वात	३. रक्तावृत वात	५. मेदसावृत वात
२. कफावृत वात	४. मांसावृत वात	६. अस्थ्यावृत वात

७. मज्जावृत वात	१३ पित्तावृत प्राण	१९. कफावृत उदान
८. शुक्रावृत वात	१४ पित्तावृत उदान	२० कफावृत व्यान
९. अन्नावृत वात	१५. पित्तावृत व्यान	२१. कफावृत समान
१० मूत्रावृत वात	१६. पित्तावृत समान	२२. कफावृत अपान
११. मलावृत वात	१७. पित्तावृत अपान	
१२ सर्वधात्वावृत वात	१८. कफावृत प्राण	

इनके अतिरिक्त प्राण, उदान आदि भी परस्पर एक-दूसरे को आवृत करते हैं, जिससे बीस प्रकार के आवरण होते हैं—

प्राणादयस्तथान्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम् ।
सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च यत् ॥

१ उदानावृत प्राण	८ अपानावृत उदान	१५. व्यानावृत समान
२ व्यानावृत प्राण	९ प्राणावृत व्यान	१६ अपानावृत समान
३ समानावृत प्राण	१०. उदानावृत व्यान	१७- प्राणावृत अपान
४ अपानावृत प्राण	११. समानावृत व्यान	१८. समानावृत अपान
५ प्राणावृत उदान	१२. अपानावृत व्यान	१९ उदानावृत अपान
६. व्यानावृत उदान	१३ प्राणावृत समान	२०. व्यानावृत अपान
७ समानावृत उदान	१४ उदानावृत समान	

इस प्रकार २२ + २० = ४२ आवरण कहे गये हैं देखें—

पञ्चवायुओं के परस्पर आवरण	२०
पित्तावृत वात	१
कफावृत वात	१
सप्तधातु आवरण	७
मलावृत वात	१
मूत्रावृत वात	१
सर्वधात्वावृत वात	१
पित्तावृत पचवायु	५
कफावृत पचवायु	५
	४२

सुश्रुतानुसार दश आवरण और उनके लक्षण

१. पित्तावृत प्राण	वमन, दाह ।
२ कफावृत प्राण	दौर्बल्य, थकावट, तन्द्रा, मुखवैरस्य ।
३ पित्तावृत उदान	दाह, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम ।
४ कफावृत उदान	स्वेद, हर्ष, मन्दाग्नि, शीतता ।
५ पित्तावृत समान	स्वेद, दाह, कृष्णता, मूर्च्छा ।

६. कफावृत समान	मल-मूत्रावरोध, गात्रहर्ष ।
७ पित्तावृत अपान	दाह, उष्णता, रक्तमूत्रता ।
८ कफावृत अपान	अध शरीर मे भारीपन, शीतता ।
९ पित्तावृत व्यान	दाह, अग-विक्षेप, क्लम ।
१० कफावृत व्यान	स्तम्भन, शूल, शोथ ।

वातव्याधियों के आविष्कृततम प्रकार

१ कोष्ठगत वात	२ सर्वाङ्ग वात	३ गुदगत वात
४ आमाशय वात	५. पक्वाशय वात	६. श्रोत्रगत वात
७ स्पर्शनगत वात	८. नेत्रगत वात	९. रसनागत वात
१० घ्राणगत वात	११. त्वग्गत वात	१२. रक्तगत वात
१३ मासगत वात	१४ मेदोगत वात	१५. मज्जागत वात
१६ अस्थिगत वात	१७ शुक्रगत वात	१८ सिरागत वात
१९. स्नायुगत वात	२०. सन्धिगत वात	२१. आक्षेपक
२२. अपतन्त्रक	२३. दण्डापतानक	२४. अपतानक
२५ धनु स्तम्भ	२६ आभ्यन्तरायाम	२७ बाह्यायाम
२८ अभिघातज आक्षेपक	२९ पक्षवध	३० सर्वाङ्गवध
३१ अर्दित	३२ हनुग्रह	३३ मन्यास्तम्भ
३४ जिह्वास्तम्भ	३५. सिराग्रह	३६ गृध्रसी
३७ विश्वाची	३८. क्रोष्टुकशीर्ष	३९. खञ्जवात
४० पगुवात	४१ कलायखञ्ज	४२ वातकण्टक
४३. पाददाह	४४ पादहर्ष	४५ असशोष
४६ अवबाहुक	४७ मूक	४८ मिन्मिन
४९ गद्गद	५० तूनी	५१. प्रतितूनी
५२ आध्मान	५३ प्रत्याध्मान	५४. अष्ठीला
५५. वस्तिगत प्रतिलोम वात	५६. कम्पवात	५७ खल्ली
५८ ऊर्ध्ववात		

वातव्याधि-चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त और चिकित्सासूत्र

(१) **आहार**—मधुर, अम्ल, लवण रस युक्त स्निग्ध आहार देना चाहिए। स्नेहपान, स्निग्ध मासरस, स्निग्ध पायस एव स्निग्ध अन्न दे।

(२) **विहार**—स्निग्ध और उष्ण गुणो से युक्त द्रव्यो से अभ्यङ्ग, उपनाह (पुल्टिश बाँधना), उद्वेष्टन (लपेटना), उन्मर्दन (मालिश करना), गरम-गरम कुनकुने क्वाथ को ऊपर से अङ्गो पर गिराना, अवगाहन (शरीर को वातघ्न क्वाथ मे डुबाना), सवाहन (मुलायम हाथो से हल्का थपथपाना और मीजना, अवपीडन (देह दबाना), वित्रासन (भय उत्पन्न करना), विस्मापन (आश्चर्य मे डाल देना), विस्मारण (रोग की चिन्ता को अन्य बातो को सुनाकर विस्मृत कर देना)।

(३) **पेय**—सुरा, आसव आदि मदिरा के प्रकारो को पिलाना और अनेक प्रकार के दीपनीय, पाचनीय, वातनाशक और विरेचन कारक द्रव्यो से सस्कारयुक्त बनाये हुए घृत-तैल-वसा-मज्जा, इन स्नेहो का पान कराना प्रशस्त है।

(४) **स्नेहन**—आवरणरहित और स्तब्धतारहित वातविकार हो, तो सर्वप्रथम घृत-तैल-वसा और मज्जा के आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयोग द्वारा स्नेहन करना चाहिए। स्निग्ध अन्न खिलाये तथा स्नेहपान कराये।

(५) **स्वेदन**—सम्यक् स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करना चाहिए। चरकोक्त तेरह स्वेदन प्रकारो का सुविधानुसार प्रयोग करना चाहिए। सविधि पिण्डस्वेद या सकरस्वेद हितकर होता है। १ स्वेदन से अगो मे पोषण की प्राप्ति, मृदुता और कोमलता आती है तथा २ दोष शाखा को छोडकर कोष्ठ मे चला जाता है, जहाँ से उसका सुखपूर्वक निर्हरण किया जा सकता है।

(६) **संशोधन**—स्नेहन-स्वेदन से सन्तोषप्रद लाभ न प्रतीत हो, तो स्नेह विरेचन देना चाहिए। रोगी की प्रकृति तथा बलाबल का विचार कर २५० मि० ली० सुखोष्ण दूध मे २०-२५ ग्राम एरण्ड तैल मिलाकर रात मे सोते समय पिलाये।

वातरोग की चिकित्सा मे आस्थापन और अनुवासन वस्ति को प्रधानतम उपचार माना जाता है, क्योकि ये वस्तियाँ वात के मूल स्थान पक्वाशय मे जाकर वही पर वात को नष्ट कर देती है, तब शरीर के अवयवो मे फैले हुए वात-विकार उसी प्रकार शान्त हो जाते है, जैसे वृक्ष के मूल को काट देने पर उसके तने फूल-फल-पत्तियाँ स्वयमेव विनष्ट हो जाती है।

(७) **रसायन-प्रयोग**—वातरोगो मे रसायन औषधो का प्रयोग अतिश्रेष्ठ एव उपयोगी माना जाता है। शिवा गुटिका, महायोगराज गुग्गुलु, रसराज रस, मदनानन्द मोदक, कामेश्वर मोदक आदि का प्रयोग लाभकर है। शिलाजतु एव अभयामलकीय रसायन का प्रयोग करना चाहिए।

(८) **नस्य और धूम्रपान**—स्निग्ध षड्बिन्दुतैल महानारायण तैल आदि का नस्य देना चाहिए और वातहर द्रव्यो के कल्क को चीलम मे रखकर धूम्रपान कराना चाहिए।

(९) **आवरण मे उपचार**—*वात के आवरणो मे सर्पि-तैल-वसा और मज्जा* इन चारो स्नेहो का पान, अभ्यंग और वस्ति मे प्रयोग करना चाहिए। स्नेहन, स्वेदन, निवातस्थान निवास और वजनदार ऊनी ओढना प्रयोग मे लाना चाहिए। मधुर-अम्ल-लवण रस युक्त आहार तथा दुग्ध आदि बृहण द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।

वातरोग की चिकित्सा मे वात की त्रिविध गति (क्षय, वृद्धि और समता) का तथा आवरण का ज्ञान अति आवश्यक है। आवृत वात मे आवरक की चिकित्सा पहले करनी चाहिए। यदि कफ और पित्त दोनो आवरक हो, तो पित्त की चिकित्सा

पहले करनी चाहिए—'ससृष्टे कफपित्ताभ्या पित्तमादौ विनिर्जयेत् ।' आवृत वात की चिकित्सा मे ऐसी सावधानी वर्तनी चाहिए, कि आवरक की वृद्धि न हो ।

आवरणो की चिकित्सा मे जो औषध कफकारक न हो, किन्तु स्निग्ध तथा स्रोत शुद्धिकारक हो, उनके द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

जो औषध और आहार द्रव्य कफ-पित्त के विरुद्ध न हो और वात के अनुलोमन कारक हो, उनका चिकित्सा मे प्रयोग करना चाहिए ।

प्राय मधुर अनुवासन वस्तियो के साथ-साथ यापना वस्तियाँ लाभकर है अथवा रोगी के वल को देखकर मृदु विरेचक औषधो का प्रयोग हितकर है ।

सामान्य चिकित्सा

१. वातरोग मे घृत-तैल-वसा या मज्जा का प्रयोग रोगी की अनुकूलता का विचार करना चाहिए ।

२ वस्ति देना वातरोग की सर्वोत्तम चिकित्सा है । यथावश्यक इसका प्रयोग करे और अभ्यग तथा स्वेदन करे । रोगी को हवा के झोके से वचाने के लिए उसे निवात स्थान मे रखे एव शरीर को गरम वस्त्र से ढँका रखे ।

३ मासरस, दूध, मधुर-अम्ल और नमकीन पदार्थ एव शरीर का वल वढाने-वाले बृहण पदार्थों का उपयोग वातनाशक होता है ।

४ **वातवोधघ्न, वातवहनाडी-पुष्टिकर** (Nervine tonic), **मस्तिष्क-सुषुम्ना-उत्तेजक** (Stimulant) **वेदनाहर एकल द्रव्य**—सुवर्ण भस्म, रौप्यभस्म, पुष्पराग, माणिक्य, शिलाजीत, दशमूल, ब्राह्मी, रास्ना, गूगल, जटामसी, भिलावा, एरण्ड तैल, लहसुन, बच, बादाम, पिस्ता, पिपरामूल, कंवाच, शतावर, कायफल, घी, उडद, माल-कागनी, चनसुर, प्रसारणी, देवदारु, विधारा, कुचला, असगन्ध, सोठ, नीलगिरी तैल, विदारीकन्द, वरियार आदि । इनमे रास्ना, गुग्गुलु, एरण्ड तैल, वला, सिन्दुवार, लहसुन, दशमूल, वच्छनाग और कुचला, ये विशिष्ट रूप से वातनाशक है ।

इनका प्रयोग एकल या सयुक्त रूप मे यथायोग्य करे ।

५. **वाताक्षेपघ्न-सङ्कोचहर** (Antispasmodics)—वायुकोपजन्य आक्षेप और सकोच का नाश करनेवाली औषधो मे ये प्रमुख है—कस्तूरी, हीग, जटामसी, कपूर, एरण्ड तैल, नीलगिरी तैल, सोहागा, धतूरा, अफीम, अभ्रकभस्म, शृगभस्म आदि । इनका प्रयोग उचित कल्पना तथा मात्रा के अनुसार करना चाहिए ।

६. **उदरवातघ्न** (Carminatives)—**उदर-आमाशय एवं अन्त्र मे उत्पन्न वायु की शामक औषधें**—शखभस्म, कपर्दभस्म, शुद्धगन्धक, सज्जीखार, अजवायन, अदरक, चित्रकमूल, कुचला, दालचीनी, सोठ, मरिच, पीपर, लौंग, वायविडग, सोवा हीग, शीतलमिर्च, सरसो, लहसुन आदि ।

७. **वातशूलघ्न** (Antineuralgics)—**वातवाहिनियो की विकृति से उत्पन्न शूलशामक औषधें**—शृगभस्म, रौप्यभस्म, शुद्ध गन्धक, शिलाजीत, एरण्ड, करञ्ज, कायफल, गुञ्जा, प्याज, लहसुन, दशमूल, सिन्दुवार, कालीमिर्च, लौंग, सोठ, जीरा,

अफीम, कपूर, पीपल, अजवायन, सूठ, पुष्करमूल, पीपलामूल, चित्रकमूल, गाभ, चोपचीनी तथा पौष्टिक द्रव्य ।

८. वातवेदना, चोट-सोजहर लेप—मेथी, सज्जीखार, हीराबोल, आर्ना—२०-२० ग्राम, डीकामाली गोंद और मैदा लकड़ी २०-२० ग्राम, हींग १० ग्राम, उशारेरेवन्द १० ग्राम, सफेद सरसों १० ग्राम, गेहूं ५० ग्राम, आमाहल्दी ४० ग्राम, कुन्दरू गोंद २०० ग्राम, मुसब्बर ५० ग्राम—इन सबको चूर्ण कर, जल मे महीन पीसकर गरम करके वेदना के स्थान पर बाध देवे ।

९. वातहर प्रदेह—जंगली बेर, कुलथी, रास्ना, उड़द, तीसी, सरसो, तिल, सूठ, वच, सोवाबीज और जौ का आटा, सभी को समभाग मे लेकर पीसकर सुखोष्ण लेप लगाने से वातज वेदना शान्त होती है ।

१० अभ्यङ्गार्थ तैल—माष तैल, महामाष तैल, प्रसारणी तैल, रास्ना तैल, विषगर्भ तैल, महानारायण तैल, पंचगुण तैल का प्रयोग अभ्यंग के लिए करे । विष्णु तैल का पीने तथा मालिश मे प्रयोग करे ।

११. घृतयोग—छागलाद्य घृत, दशमूल घृत तथा चित्रकादि घृत का प्रयोग यथोचित रूप मे करना चाहिए ।

१२ क्वाथ—महारास्नादि क्वाथ, रास्नासप्तक, रास्ना दशमूल तथा माषबलादि योग के क्वाथ का उचित मात्रा मे प्रयोग करे ।

१३. चूर्ण—नारसिंह चूर्ण ३-४ ग्राम मधु से सवेरे-शाम दे, ऊपर से गोदुग्ध दे । षड्धरण योग—चित्रकमूल की छाल, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस, बड़ी हर्रे की फलमज्जा, सभी का समभाग मे चूर्ण कर छान ले । मात्रा २ ग्राम गरम जल मे सवेरे शाम । इसका सभी प्रकार के वातरोगो मे प्रयोग करे, विशेषकर आमाशयगत वातविकार मे ।

१४ अवलेह—रसोनपिण्ड १०–१५ ग्राम सवेरे-शाम, एरण्डमूल क्वाथ से दे । कल्याण अवलेह ३ ग्राम घी मे सवेरे-शाम देवे । या एरण्डपाक २० ग्राम गोदुग्ध से सवेरे-शाम दें अथवा अमृतभल्लातक १० ग्राम, सवेरे-शाम गोदुग्ध से देवे ।

१५. गुग्गुलु—त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, महायोगराज गुग्गुलु, योगराज गुग्गुलु, गुग्गुलवटी, पञ्चामृतलौह गुग्गुलु, इनका ½ ग्राम की मात्रा मे यथायोग्य अनुपान से सवेरेशाम प्रयोग करे ।

१६. रस-रसायन—बृहद्वातचिन्तामणि, रसराज, वातकुलान्तक, योगेन्द्र रस, वातगजाकुश, लक्ष्मीविलासरस, मल्लसिन्दूर, चिन्तामणि रस, वातविध्वसन रस, नवग्रह रस तथा नवरत्न राजमृगाङ्क रस का रोगी की परिस्थिति के अनुसार उचित मात्रा और अनुपान मे प्रयोग करे ।

पथ्य—अभ्यग-स्वेदन-मर्दन, मधुर-अम्ल-लवण-स्निग्ध पदार्थ-सेवन आदि ।

अपथ्य—चिन्ता, प्रजागरण, वेगधारण, श्रम, अनशन, रूक्ष पदार्थ सेवन आदि ।

विशिष्ट वातलक्षण एवं चिकित्सा

(१) **कोष्ठगत वात-लक्षण**—मल और मूत्र का अवरोध, व्रध्न (वक्षण-प्रदेशगत शोथ), हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल होना।

चिकित्सा—१ हिंग्वादिवटी ½ ग्राम, यवक्षार १ ग्राम नीबू के शर्बत से दे। अथवा—२ शिवाक्षारपाचन चूर्ण २ ग्राम, ३–३ घण्टे पर सुखोष्ण जल से दे। अथवा—३ हिंग्वष्टक चूर्ण २–२ ग्राम नीबू के जल से दे। ४ पचसकार चूर्ण ६ ग्राम गरम पानी से रात मे सोते वक्त देवे। ५ षड्धरण योग ३–३ ग्राम दिन मे ३ बार सुखोष्ण जल से दे।

(२) **सर्वाङ्गगत वात-लक्षण**—अगो मे फडकन, अगो मे टूटन, सन्धियो मे तोद-भेद आदि वेदना और सन्धियो मे फटने जैसी वेदना होना।

चिकित्सा—१ वातनाशक महानारायण आदि तैलो का अभ्यग करे। २ बारी-बारी से निरूह और अनुवासनवस्ति का प्रयोग करे। ३ सवेरे, दोपहर, शाम वातगजाकुशरस, शृग भस्म और शुद्ध कुपीलु प्रत्येक १२५ मि० ग्रा०/१ मात्रा मधु से दे।

(३) **गुदगत वात-लक्षण**—मल-मूत्र और अपान वायु के निकलने मे रुकावट, उदरशूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा, जघावेदना, ऊरुवेदना, त्रिकवेदना, पादवेदना, पृष्ठवेदना और शोष होना।

चिकित्सा—१ दीपन-पाचन चूर्ण, गुटिका तथा आसव-अरिष्ट का प्रयोग करे। २ हिंग्वादि चूर्ण, गन्धक वटा या आरोग्यवर्धिनी वटी और अविपत्तिकर चूर्ण दे। नीबू और सेंधानमक का प्रयोग करे।

(४) **आमाशयगत वात-लक्षण**—पार्श्व, उदर, हृदय एव नाभि मे पीडा, प्यास, डकार, विसूचिका, खाँसी, गला और मुख का सूखना और श्वास होना।

चिकित्सा—वमन तथा विरेचन कराकर शोधन करने के पश्चात् दिन मे ३ बार षड्धरण योग ३–३ ग्राम सुखोष्ण जल से देवे तथा जिस दोष की प्रबलता हो, तदनुसार चिकित्सा करे।

(५) **पक्वाशयगत वात-लक्षण**—अन्त्र मे गुडगुडाहट, शूल, आटोप (वायु भरना), मल-मूत्र की रुकावट, आनाह और त्रिकप्रदेश मे वेदना होना।

चिकित्सा—दीपन-पाचन औषध, हिगुद्विरुत्तरादि योग, रसोन वटी, पचसकार चूर्ण, हीग और लहसुन का प्रयोग करना चाहिए।

(६) **त्वग्गत वात-लक्षण**—त्वक्रूक्षता, त्वक्स्फुटन, स्पर्शाज्ञता, कृशता, कृष्णवर्णता, सूचीवेधनवत् पीडा, तनाव, लालिमा, सन्धियो मे वेदना और चकत्ते होना।

चिकित्सा—स्वेदन, अभ्यङ्ग, अवगाहन और हृद्य अन्न का प्रयोग करे। मर्दन, उपनाह स्वेद और रक्तमोक्षण करना चाहिए।

(७) **रक्तगत वात-लक्षण**—शरीर मे तीव्र पीडा, सताप, विवर्णता, कृशता, अरुचि, शरीर मे फुन्सियाँ निकलना और भोजन के बाद शरीर मे जकडन होना।

चिकित्सा—विरेचन, रक्तमोक्षण एव शीतल प्रदेह करना चाहिए। (१) सबेरे-शाम कामदुघा रस ½ ग्राम, प्रवालपिष्टी ½ ग्राम, गुडूची सत्त्व १ ग्राम की २ मात्रा मधु से। (२) भोजन के बाद अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम/२ मात्रा जल से। (३) रात मे सोते वक्त—आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम/१ मात्रा दूध से दे।

(८) **मांस-मेदोगत वात-लक्षण**—अगो मे भारीपन, सूचीवेधनवत् पीडा, दण्ड-मुष्टिप्रहारवत् वेदना, शरीर मे वेदना और थकावट का अनुभव होना।

चिकित्सा—(१) विरेचन, निरूहवस्ति के पश्चात् सशमन चिकित्सा करे। (२) प्रात -साय महायोगराज गुग्गुलु १–१ गोली गोदुग्ध से दे।

(९) **अस्थिमज्जागत वात-लक्षण** —अस्थि और पर्वों मे भेदनवत् पीडा, सन्धि-शूल, मास और वल का क्षय, निद्रानाश और स्थायी रूप से पीडा का होना।

चिकित्सा—(१) बाह्य तथा आभ्यन्तर स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। (२) सबेरे-शाम दशमूल घृत १०–१० ग्राम सुखोष्ण दूध से देवे तथा दशमूल क्वाथ पिलावे और महानारायण तैल का अभ्यङ्ग करे।

(१०) **शुक्रगत वात-लक्षण**—शुक्र का शीघ्र पात होना, कभी शुक्र का रुक जाना, कभी शीघ्र गर्भस्राव या गर्भपात या गर्भसग या देर से प्रसव होना।

चिकित्सा—(१) हर्ष उत्पन्न करना तथा वल एव शुक्रवर्धक अन्नपान का सेवन कराना चाहिए। (२) प्रात -साय—पुष्पधन्वा रस १२५ मि० ग्रा०, चन्द्रप्रभा वटी ½ ग्राम, पूर्णचन्द्ररस १२५ मिलीग्राम/१ मात्रा मधु से, बाद मे गोदुग्ध पीना। (३) भोजनोत्तर २ वार—अश्वगन्धारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल से पीना। (४) शतावर चूर्ण ३ ग्राम दूध से रात मे सोते वक्त दे। (५) यदि शुक्र का मार्ग अवरुद्ध हो और शुक्र का क्षरण न हो रहा हो, तो विरेचन दे, फिर ससर्जनक्रम से पथ्य देकर वल-शुक्रवर्धक अष्टवर्ग आदि द्रव्यो का प्रयोग करे। (६) यदि गर्भाशयगत वायु-प्रकोप से गर्भ सूख रहा हो, तो मिश्री, मुलहठी और गम्भार की छाल से क्षीरपाक-विधि से सिद्ध किया हुआ दूध पिलावे।

(११) **सिरा-स्नायु-सन्धिगत वातलक्षण**—(१) **सिरागत** वात मे शूल, सिरा-सकोच, सिरा की स्थूलता और स्तब्धता होती है। (२) **स्नायुगत वात** मे वाह्यायाम, आभ्यन्तरायाम, खल्ली, कुवडापन तथा अन्य एकाङ्गगत या सर्वाङ्गगत लक्षण होते हे। (३) **सन्धिगत वात** मे सन्धियो मे शूल और सूजन होती है।

चिकित्सा—(१) इनमे स्नेहन, स्वेदन, उपनाह आदि करना चाहिए। (२) दिन मे ३ वार महायोगराज गुग्गुलु १½ ग्राम, अग्नितुण्डीवटी ½ ग्राम, शृगभस्म १ ग्राम/३ मात्रा, रास्नासप्तक क्वाथ से देवे।

(१२) हनुग्रह—हनुमूल मे स्थित वायु प्रकुपित होकर हनुसन्धि का स्रसन (Dislocation) करा देता है, जिससे मुख पूरा खुला ही रह जाता है या विलकुल वन्द हो जाता हे। इसे अनुग्रह कहते है। इसमे चर्वण करने और वोलने मे भी कठिनाई होती है।

चिकित्सा—स्नेहन, स्वेदन करके अगूठे और तर्जनी से निचले जबडे (चिबुक) को नीचे एव पीछे की ओर दबाकर यथास्थान बैठावे, फिर नारायण तेल का गण्डूष (मुख मे धारण) करावे तथा महामाष तैल की मालिश करावे ।

(१३) **मन्यास्तम्भ**—दिवाशयन, विषमस्थानशयन और ऊपर की ओर देर तक देखने से कफ से आवृत वायु मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करता है, जिससे गरदन मे जकडन हो जाती है और गरदन का हिलाना-डुलाना सभव नही होता । इसे **ग्रीवास्तम्भ** भी कहते है ।

चिकित्सा—(१) रूक्ष स्वेदन करे तथा बालू की पोटली से गरदन पर धतूर, एरण्ड या मदार का पत्ता रखकर सुखोष्ण सेक करे । (२) कट्फल त्वचा चूर्ण का नस्य सुघावे । (३) दशमूल क्वाथ मे पुष्करमूल का चूर्ण २ ग्राम या सोठ का चूर्ण २ ग्राम मिलाकर सबेरे-शाम पिलावे । (३) दिन मे ३ बार—रससिन्दूर ४०० मि० ग्रा०, महायोगराज गुग्गुलु १ ग्राम, शृगभस्म १ ग्राम, सोठ चूर्ण ३ ग्राम/३ मात्रा मधु से देवे । (४) सैन्धवादि तैल की मालिश करावे ।

(१४) **जिह्वास्तम्भ**—वाणी का वहन करने वाली नाडी मे स्थित कुपित बाहु जिह्वा को स्तम्भित कर देता है, जिससे खाने-पीने तथा बोलने मे असमर्थता हो जाती है ।

चिकित्सा—(१) सैन्धवलवणमिश्रित महानारायण तैल का मुख मे कवल धारण करे । (२) दिन मे ३ बार कल्याण अवलेह २–२ ग्राम घी से चटावे । (३) महासितोपलादि चूर्ण १–१ ग्राम मधु से दिन मे ३–४ बार दे ।

(१५) **विश्वाची**—यह तीन प्रकार की होती है—

(१) वहि प्रकोष्ठिका नाडी विकृतिजन्य विश्वाची (Radial paralysis) ।

(२) अन्त प्रकोष्ठिका नाडी विकृतिजन्य विश्वाची (Ulnar paralysis) ।

(३) उभयनाडी विकृतिजन्य विश्वाची (Radio-ulnar paralysis) ।

एक वाहु या दोनो बाहुओ के कर्म का क्षय करने वाली व्याधि को **विश्वाची** कहते है ।

चिकित्सा—(१) स्नेहन-स्वेदन-मर्दन और नस्य का प्रयोग करना चाहिए । (२) दिन मे ३ बार—रसराज २०० मि० ग्रा०, शृगभस्म ५०० मि० ग्रा०, महायोगराज गुग्गुलु १ ग्राम/३ मात्रा मधु से देवे तथा वातहर उपचार करे ।

(१६) **क्रोष्टुशीर्ष**—वात तथा रक्त की विकृति से जानुगत तीव्र पीडा और शोथयुक्त जानुसन्धि, जिसमे सियार के शिर जैसी जानु हो जाती है, उसे क्रोष्टुशीर्ष कहते हैं ।

चिकित्सा—(१) रूक्ष स्वेद करे । गुडूची तैल या पिण्ड तैल का अभ्यग तथा नाडीस्वेदन करे । (२) दिन मे ३ बार—कैशोर गुग्गुलु ३ ग्राम, कुचला शुद्ध ५०० मि० ग्रा०, शृगभस्म १ ग्राम/३ मात्रा मधु से दे, तत्पश्चात् दशमूल क्वाथ पिलावे ।

(१७) **खञ्ज-कलायखञ्ज-पङ्गुवात**—(१) जब कटिप्रदेशगत विकृत वायु एक पैर की कण्डरा मे आक्षेप (कर्महीनता) उत्पन्न कर देता है, तो उसे खञ्ज अर्थात् लगडा और (२) जब दोनो पैरो मे अकर्मण्यता उत्पन्न करता है, तो पङ्गु कहते हैं। (३) जो मनुष्य काँपते हुए, लगडाते हुए या पैर घसीटते हुए चलता है और जिसके सन्धि-बन्धन शिथिल हो गये हो, उसे कलायखञ्ज रोग कहते है।

चिकित्सा—(१) विरेचन, आस्थापन तथा अनुवासनवस्ति तथा माष तैल का अभ्यग, स्वेदन आदि उपचार लाभदायक है। (२) आहार मे घृत-तैल-वसा-मज्जा, दूध, मासरस और उडद की दाल दे। (३) त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, महारोगराज गुग्गुलु या गुग्गुलु वटी १ ग्राम की ३ मात्रा रास्नासप्तक क्वाथ से देनी चाहिए।

(१८) **वातकण्टक अथवा खुड्डकवात**—ऊँची-नीची भूमि पर पैर पडने एव मोच आ जाने से या अत्यधिक परिश्रम से प्रकुपित वायु जब गुल्फसन्धि मे पीडा उत्पन्न करता है, तो उसे वातकण्टक कहते है।

चिकित्सा—(१) रक्तमोक्षण करके अशुद्ध रक्त निकाले। छोटी सुई गरम कर उससे दागना चाहिए। (२) दिन मे ३ बार सिंहनाद गुग्गुलु १½ ग्राम, रस-सिन्दूर ३०० मि० ग्रा०, षड्धरण योग ३ ग्राम/३ मात्रा देवे।

(१९) **पाददाह**—प्रकुपित वायु, पित्त और रक्त के साथ मिलकर पैरो मे दाह उत्पन्न करता है। जिसका अनुभव चलते समय अधिक होता है।

चिकित्सा—पैरो पर मक्खन लगाकर दशमूल क्वाथ से सिञ्चन करे या दशमूल तैल का अभ्यङ्ग करे अथवा वहेडे के फल के वीज की मज्जा महीन पीसकर उसका लेप करे।

(२०) **पादहर्ष**—प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर पैरो मे हर्ष (झिनझिनी) और कभी सूनापन उत्पन्न करता है। इसे **पादहर्ष** रोग कहते है।

चिकित्सा—(१) ईंट के टुकडे को आग मे गरम कर काञ्जी, नीबू के रस या खट्टे मट्ठे मे बुझाकर उसकी भाप से पैर को सेके। (२) सबेरे-शाम—शुद्ध हीग ५०० मि० ग्रा०, पुष्करमूल चूर्ण ३ ग्राम/२ मात्रा दशमूल क्वाथ ५० मि० ग्रा० के साथ प्रयोग करे। (३) बृहत्सैन्धवादि तैल का अभ्यग करे।

(२१) **असशोष**—असप्रदेशगत कुपित वायु असवन्धनकारक कफ को सुखाकर असशोष रोग उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) स्नेहन करके बृहंग औषध दे। (२) सवेरे-शाम, प्रवाल-भस्म ४०० मि० ग्रा०, शृगभस्म ५०० मि० ग्रा०, अश्वगन्ध चूर्ण ४ ग्राम मधु से दे। (३) भोजनोत्तर २ वार अश्वगन्धारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल से दे।

(२२) **अववाहुक**—असप्रदेश स्थित प्रकुपित वायु वहाँ की सिराओ (वात-नाडियो) मे सकोच उत्पन्न करके अववाहुक उत्पन्न करता है। इसमे स्कन्ध से शुरू होकर नीचे अँगुलियो तक पीडा होती है, कभी बाहु भी सूखती है।

चिकित्सा—(१) महानारायण तैल या महामाष तैल या महाविषगर्भ तैल की

मालिश करे। (२) सबेरे-शाम सोठ चूर्ण ३ ग्राम और छिलका रहित एरण्ड बीज ३ ग्राम पीसकर २०० मि० ली० दूध मे पकाकर चीनी डालकर खिलावे। (३) दिन मे ३ बार—रसराज ३०० मि० ग्रा०, रससिन्दूर ५०० मि० ग्रा० या उतना ही मल्लसिन्दूर, अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्राम/३ मात्रा मधु से दे। (३) भोजन के बाद दशमूलारिष्ट या अश्वगन्धारिष्ट ४०० मि० ग्रा०/२ मात्रा समान जल से दे।

(२३) मूक-मिन्मिन-गद्गद—कफयुक्त प्रकुपित वायु, शब्दवाहिनी धमनी (जिह्वा की चेष्टावहनाडी—Hypoglossal nerve, प्रत्यावृत स्वरयन्त्रीय नाडी—Recurrent laryngial nerve) तथा मस्तिष्कगत वातकेन्द्र मे अवरोध उत्पन्न करके मूक (न बोलना), गद्गद (हकलाकर बोलना) और मिन्मिन (नाक का सहारा लेकर बोलना) रोग उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) महानारायण तैल का मुख मे गण्डूप धारण करावे—दिन मे ३ बार। (२) सबेरे-शाम –कल्याण अवलेह ६ ग्राम/२ मात्रा घी से दे। (३) भोजनोत्तर २ बार अश्वगन्धारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल से दे। (४) प्रात -साय—दशमूल ५० मि० ली० मे भुनी हीग ५०० मि० ग्रा० और पुष्करमूल चूर्ण २ ग्राम प्रति बार मिलाकर पिलावे। (५) कुलिञ्जन का टुकडा मुख मे चूसना चाहिए।

(२४) तूनी-प्रतितूनी—जो पीडा मलाशय और मूत्राशय से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय का भेदन करती हुई प्रतीत होती है, उसे **तूनी** कहते है।

गुदा और उपस्थ से प्रारम्भ होकर ऊपर पक्वाशय की ओर वेगपूर्वक जानेवाली पीडा को **प्रतितूनी** कहते है।

चिकित्सा—(१) प्रात -साय—पिप्पल्यादिगण (सुश्रुत) चूर्ण २–२ ग्राम गरम गरम जल से देवे अथवा शुद्ध हीग ५०० मि० ग्रा० और यवसार १ ग्राम/२ मात्रा १० ग्राम घी के साथ देवे। (२) एरण्डस्नेह युक्त दशमूल क्वाथ मे अवगाहन कराना लाभप्रद होता है। (३) **तूनी** मे निशोथ चूर्ण ४ ग्राम खिलाकर या एरण्ड-स्नेह ३० मि० ली० पिलाकर विरेचन करावे तथा प्रतितूनी मे वस्ति का प्रयोग लाभकर होता है। (४) गोक्षुरादि गुग्गुलु ३ ग्राम/३ मात्रा वरुणादि क्वाथ से देवे। (५) चन्द्रप्रभा वटी ½ ग्राम, श्वेतपर्पटी ५०० मि० ग्रा०/१ मात्रा, सवेरे-शाम देना चाहिए।

(२५) आध्मान-प्रत्याध्मान—अपानवायु के रुकने के कारण उदर मे आटोप, अत्यधिक पीडा और तनाव के साथ पेट का फूलना **आध्मान** कहलाता है।

जब ये लक्षण पार्श्व तथा हृदय-प्रदेश को छोडकर केवल आमाशय मे प्रकट होते है, तो उसे **प्रत्याध्मान** कहते है। इसमे कफ वायु को आवृत कर लेता है।

चिकित्सा—आध्मान मे—(१) उपवास, वातनाशक द्रव्यो का मुखोष्ण लेप, हाथ का तलवा आग पर गरम करके उससे सेकना, गुदा मे फलवर्ती (Supposi-

tory) लगाना या एनीमा लगाना चाहिए तथा दीपन-पाचन योगो का प्रयोग करे। (२) ३–३ घण्टे पर—शिवाक्षारपाचन चूर्ण ३ ग्राम, सजिकाक्षार १ ग्राम/१ मात्रा सुखोष्ण जल से। (३) आधे-आधे घण्टे पर हिंग्वादि वटी १-१ गोली चूसना। (४) रात्रि मे २५ मि० ली० एरण्ड तैल को २०० मि० ली० गरम दूध मे दे। (५) न० २ मे कथित शिवाक्षारपाचन के स्थान पर हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण का ३-३ ग्राम प्रयोग किया जा सकता है।

दारुषट्क लेप—देवदारु बुरादा, वच, कूठ, सोवा, हीग और सेधानमक, समभाग लेकर सिरका मे पीसकर गरम कर उदर पर सुखोष्ण लेप करना चाहिए।

प्रत्याध्मान मे— (१) वमन, लघन तथा दीपन औषधो का प्रयोग करे। (२) प्रात -साय वृहत्पचमूल क्वाथ ५० मि० ली० मे निशोथ चूर्ण २-२ ग्राम मिलाकर प्रयोग करे। (३) प्रात -साय अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्राम, चित्रकादि वटी २ ग्राम, शखभस्म ५०० मि० ग्राम/२ मात्रा सुखोष्ण जल से दे। (४) भोजन के प्रथम ग्रास मे हिंग्वष्टक चूर्ण २-२ ग्राम घी के साथ दे। (५) भोजनोत्तर अविपत्तिकर चूर्ण ३-३ ग्राम मन्दोष्ण जल से देवे।

(२६) अष्ठीला-प्रत्यष्ठीला—नाभि के नीचे होने वाली पत्थर के समान कठोर चल या अचल और ऊपरी भाग मे चौडी ग्रन्थि को **अष्ठीला** कहते हे। इसमे मलमूत्र के मार्ग का अवरोध हो जाता है।

यही ग्रन्थि जब पीडा के साथ उदर मे तिरछी उठकर मल-मूत्र के मार्ग को रोक देती है, तो उसे **प्रत्यष्ठीला** कहते हैं।

चिकित्सा—(१) इनमे स्वेदन, लेप और उपनाह स्वेदन करे। (२) अनुलोमन, विरेचन और मूत्रल औषध दे। (३) दशमूल क्वाथ मे एरण्ड तैल मिलाकर विरेचनार्थ पिलावे। (४) प्रति २ घण्टे पर हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण २-२ ग्राम यवक्षार ५०० मि० ग्रा० के साथ देवे। (५) प्रतिदिन २ बार गोक्षुरादि गुग्गुलु २ ग्राम श्वेतपर्पटी २ ग्राम/२ मात्रा जल से दे। (६) रात मे सोते वक्त नारायण चूर्ण ४–५ ग्राम सुखोष्ण जल से दे। १–१ घण्टे पर हिंग्वादि वटा १–१ गोली चूसने को देवे।

(२७) वस्तिगत प्रतिलोम वात—जब वस्तिगत वायु प्रतिलोम हो जाता है, तो वस्तिगत विविध विकार, यथा—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी आदि रोग उत्पन्न हो जाते है।

चिकित्सा—(१) इसमे मूत्रल एव वस्तिशोधक द्रव्यो का प्रयोग उपयुक्त होता है। साथ ही वातानुलोमन द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए। (२) पुनर्नवा, गोखरू, ककडी-खीरे के बीज, पाषाणभेद और शिलाजीत के योगो का प्रयोग कल्याणकारी है। (३) दिन मे ३ बार गोक्षुरादि गुग्गुलु २ ग्राम, चन्द्रप्रभावटी २ ग्राम, श्वेतपर्पटी २ ग्राम/३ मात्रा पञ्चतृणमूल क्वाथ मे देवे। (४) वरुणादि गण का क्वाथ पिलावे।

(२८) कम्पवात—सर्वाङ्ग कम्प या केवल शिर के कांपने को एवं हाथ आदि के कम्पन को कम्पवात या वेपथु कहते है।

चिकित्सा—(१) इसमे स्नेहन, स्वेदन, अभ्यग और बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। मलावरोध नही होने देना चाहिए। (२) सवेरे-शाम नारसिंह चूर्ण ६ ग्राम/२ मात्रा ५ ग्राम घी और १० ग्राम मधु मे। (३) दिन मे २ बार विजय भैरव तैल २ बूंद बतासे मे देवे। (४) विजयभैरव तैल का नस्य भी दे तथा मालिश भी करावे। (५) पौष्टिक, स्निग्ध, बलवर्धक आहार, घी, दूध आदि देना चाहिए।

(२९) खल्ली—पैर के मूल (Ankle joint), जघामूल (Knee joint), ऊरुमूल (Thigh joint) तथा हाथ के मूल (Wrist joint) मे ऐंठन (Cramph) उत्पन्न करनेवाले रोग को खल्ली कहते हैं।

चिकित्सा—(१) स्निग्ध, अम्ल और लवण रस वाले द्रव्यो की पोटली या क्वाथ या कल्क बनाकर स्वेदन करना, मर्दन करना, मालिश करना और उपनाह स्वेद करना चाहिए। (२) लेप—कूठ, सेंधानमक और चूक को पानी मे पीसकर, सरसो का तेल मिलाकर सुखोष्ण करके लेप लगावे। (३) तैल या घी मिलाकर खिचडी या खीर की पुल्टिस से सेंकना हितकर है। (४) अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्रा०, महायोगराज गुग्गुलु १ ग्राम, शृगभस्म १ ग्राम/३ मात्रा मधु मे, दिन मे ३ वार देवे।

(३०) ऊर्ध्ववात—कफ अथवा आम से आवृत होकर जब वायु विलोम गति से मुख से डकार के रूप मे बार-बार निकलने लगती है, तो उसे ऊर्ध्ववात कहते हैं।

चिकित्सा—(१) इसमे दीपन, पाचन, उदावर्तहर एव अनुलोमन उपचार करे। (२) सवेरे-शाम शिवाक्षारपाचन चूर्ण ३-३ ग्राम २० ग्राम घी के साथ देना चाहिए। (३) भोजन के प्रथम ग्रास के साथ दोनो वक्त हिंग्वष्टक चूर्ण ३–३ ग्राम, घी मिलाकर दे। (४) भोजनोत्तर २ वार अभयारिष्ट २०–२० मि० ली० समान जल के साथ दे। (५) रात मे सोते वक्त अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम सुखोष्ण जल से दे। (६) दिन मे ५–६ बार हिंग्वादि वटी १–१ गोली चूसने को देवे।

(३१-३८) आक्षेपक-अपतन्त्रक अपतानक-दण्डापतानक-धनुस्तम्भ-अभ्यन्तरायाम-बाह्यायाम-अभिघातज आक्षेपक (पार्श्वायाम)—

आक्षेपक—जब विकृत वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियो (वातनाडियो) को बार-बार आक्रान्त करता है, तो सारे शरीर मे पुन पुन आक्षेप (झटके) आते है। बारम्बार आक्षेप आने के कारण इस रोग को आक्षेपक कहते है।

अपतन्त्रक—स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित वायु अपने स्थान (पक्वाशय) से ऊपर उठकर शिर की ओर जाता है, तो हृदय, शिर और शख प्रदेश को पीडित करता हुआ अङ्गो को धनुष के समान झुका देता है और उनमे आक्षेप और मूर्च्छा उत्पन्न करता है। श्वास-प्रश्वास मे बड़ी कठिनाई होती है, आँखें कभी खुली, कभी

अधखुली रहती है, रोगी बेहोशी की हालत मे कबूतर के समान घुर-घुर का शब्द करता है। आक्षेपक की इस अवस्था को **अपतन्त्रक** कहते है।

अपतानक—जिस आक्षेपक मे दृष्टि स्तब्ध (निश्चल) हो जाती है, सज्ञा का नाश हो जाता है, कण्ठ से अव्यक्त शब्द निकलता है, दौरे स मस्तिष्क के मुक्त हो जाने पर स्वस्थ और पुन दौरा आ जाने पर मूर्च्छा हो जाती है, तो वायुकृत इस भयङ्कर रोग को **अपतानक** कहते है।

दण्डापतानक-दण्डक—जब शरीर की समस्त धमनियो (वातनाडियो) मे कफयुक्त वायु स्थानसश्रय कर लेता है, तो शरीर दण्ड के समान सीधा और कडा हो जाता है, उसे **दण्डापतानक** कहते है।

वक्तव्य—इस अवस्था मे शरीर की समस्त सकोचक (Flexors) तथा प्रसारक (Extensors) उभयविध पेशियो मे कडापन आ जाने से दोनो प्रकार के कार्य (सकोच तथा प्रसार) नही होते, जिससे शरीर दण्ड के समान कडा रहता है। चरक ने इसे **दण्डक** नाम दिया है।

धनु.स्तम्भ—जब प्रकुपित वायु शरीर को धनुष के समान झुका दे, तो उसे **धनुःस्तम्भ** कहते है।

आभ्यन्तरायाम (धनु स्तम्भ)—कुपित तथा वेगयुक्त वायु जब अगुली, गुल्फ, उदर, हृदय तथा गले मे स्थित होकर वहाँ के स्नायुप्रतान (कण्डराओ और पेशियो) मे आक्षेप उत्पन्न करता है, तब रोगी की आँखे स्थिर हो जाती है तथा जबडे जकड जाते हैं, पसलियो मे टूटने की-सी पीडा होती है एव रोगी कफ का वमन करता है। इस प्रकार रोगी भीतर उदर की ओर धनुप के समान झुक जाता है, उसे **आभ्यन्तरायाम** कहते है।

बाह्यायाम (धनु.स्तम्भ)—बाह्य (पृष्ठ) भाग की स्नायुओ (कण्डराओ एव पेशियो) मे स्थित वायु कुपित होकर शरीर को जब बाहर (पीठ) की ओर झुका देता है, तो उसे **बाह्यायाम** कहते है।

अभिघातज आक्षेपक—कफयुक्त या पित्तयुक्त वायु अथवा अकेले केवल वायु ही प्रकुपित होकर आक्षेपक को उत्पन्न करता है तथा चोट लगने पर प्रकुपित वायु चौथे अभिघातज आक्षेपक को उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) इन आक्षेपको मे नस्य, मस्तिष्क पर तेल की मालिश, सतर्पक आहार, उपनाह, नाडीस्वेद, निवातस्थान मे निवास, मासरस, मधुर-अम्ल-लवण रस युक्त औषध तथा आहार का प्रयोग करना चाहिए। (२) स्नेहनार्थ नारायण तैल की मालिश तथा पान करावे। (३) अभ्यङ्ग मे हिमाशु तैल य हिमसागर तैल या विष्णु तैल अथवा शतधौत घृत का प्रयोग करे। इन तैलो की शिर पर मालिश करावे और शरीर मे महाराज प्रसारणी या महामाप आदि वातघ्न तैलो की मालिश करावे। (४) रोगी की चारपाई के नीचे अगीठी मे माहेश्वर धूप के द्वारा धूपन की व्यवस्था करे, जिससे धूपन सारे शरीर मे लगे

और इसे नाक से भी सूघे। (५) सर्वाङ्ग मे सैन्धवादि तैल एव महालक्ष्मीनारायण तैल (यो० र०) का अभ्यग कर नाडीस्वेद करे या शाल्वण स्वेद का प्रयोग करे। (६) **वस्ति-प्रयोग**—दशमूल, वला, रास्ना, असगन्ध आदि वातघ्न द्रव्यो के क्वाथ मे वातघ्न नारायण आदि तैल, सेंधानमक और मधु का योग कर उचित मात्रा मे वस्ति के प्रयोग से लाभ होता है।

व्यवस्थापत्र

आक्षेपक-अपतन्त्रक में—

१. प्रात -मध्याह्न-साय—

अपतन्त्रकारि वटी	१ ग्राम
ब्राह्मी वटी	६०० मि० ग्रा०
वृहद्वातचिन्तामणि	५०० मि० ग्रा०
मृगशृङ्ग भस्म	१ ग्राम
रसराज रस	५०० मि० ग्रा०
मधु से।	३ मात्रा

बाद मे—मास्यादि क्वाथ १०० मि० ली० पीना।

मास्यादि क्वाथ—जटामसी १५ ग्राम, नागौरी असगन्ध १५ ग्राम, खुरासानी अजवायन १० ग्राम, मीठा वच ५ ग्राम, मीठा कूठ ५ ग्राम तथा शखपुष्पी १० ग्राम लेकर कूटकर १ लीटर पानी मे पकावे। चौथाई वचने पर छान ले। इसे मधु डालकर पीये।

२ भोजनोत्तर २ वार—

सारस्वतारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल के साथ पीना।

३ शिर मे—हिमसागर या विष्णु तेल की मालिश।

४ शरीर मे—प्रसारिणी या महामाष तैल का अभ्यङ्ग।

५ रात मे सोते समय —नारायण चूर्ण ५ ग्राम सुखोष्ण जल से।

६. दिन मे २–३ बार और वेग के समय कट्फल नस्य दे।

अपतानक—

१. दिन मे ३ बार—

वृहद् योगराजगुग्गुल	१ ग्राम
सिद्धमकरध्वज	३०० मि० ग्रा०
रसराज रस	३०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	१ ग्राम
	३ मात्रा

असगन्ध चूर्ण १ ग्राम और मधु से।

२. भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट	४० मि० ली० / २ मात्रा

समान जल से पीना।

३. अभ्यंग—कुब्जप्रसारिणी तैल।

४. रात मे— छागलाद्य घृत

या

दशमूलादि घृत १० ग्राम, दूध मे पीना।

५. ९ बजे व २ बजे दिन मे—

हरीतकी चूर्ण	मिलित ४ ग्राम / २ मात्रा
वालवच चूर्ण	
रास्ना चूर्ण	
सैन्धव चूर्ण	
अम्लवेत चूर्ण	

गोघृत मे खाना

दण्डापतानक—

इसमे अपतानक की तरह औषधें दें। विशेषकर तीक्ष्ण नस्य के लिए श्वासकुठार रस या कट्फल नस्य का प्रयोग करे।

धनुःस्तम्भ—

१ दिन मे ३ वार—

बृहद्वातगजाङ्कुश	३०० मि० ग्रा०
रसराज	२०० मि० ग्रा०
शृंगभस्म	½ ग्राम
प्रतापलङ्केश्वर	½ ग्राम
	३ मात्रा

सिन्दुवार स्वरस और मधु से।

२-३ वार ४-४ घण्टे पर।

२ अथवा—

मल्लसिन्दूर	३०० मि० ग्रा०
समीरपन्नग	३०० मि० ग्रा०
बृहद्वातचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
शृंगभस्म	५०० मि० ग्रा०
	३ मात्रा

अदरक के रस और मधु से।

३ ९ बजे दिन मे—छागलाद्य घृत १५ ग्राम गोदुग्ध मे।

४. अभ्यंग—

महाराजप्रसारिणी
या
महानारायण तैल की मालिश करावे।

५. स्वेदन—वातहर द्रव्यो की पोटली से स्वेदन कराना चाहिए।

आभ्यन्तरायाम-बाह्यायाम—

१. प्रात -साय—

महायोगराज गुग्गुलु	५०० मि० ग्रा०
मल्लसिन्दूर	२०० मि० ग्रा०
रसराज	२०० मि० ग्रा०
श्रृंगभस्म	४०० मि० ग्रा०
सिन्दुवार पत्र स्वरस और मधु से।	२ मात्रा

२. ९ बजे व २ बजे दिन—

नवग्रह रस	३०० मि० ग्रा०
सुवर्ण समीरपन्नग	३०० मि० ग्रा०
वातकुलान्तक	३०० मि० ग्रा०
आर्द्रकस्वरस व मधु से।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर दोनो समय—

दशमूलारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल से।	२ मात्रा

४. अभ्यग—

महामाष तैल, महाराजप्रसारिणी तैल या
महाविषगर्भ तैल की मालिश करे।

५. स्वेदन—

महाशालवण स्वेद (शा० स०) का प्रयोग करे।

६. रात मे सोते समय—

एरण्ड तैल २५ मि० ली०
२५० मि० ली० सुखोष्ण गोदुग्ध मे दे।

(३९) **पक्षवध-एकाङ्गरोग-सर्वाङ्गरोग—पक्षाघात या पक्षवध—**अपने कारणो से कुपित वायु जब शरीर के आधे भाग मे अधिष्ठित होकर सिराओ (वातादि वाहिनियो) तथा स्नायुओ को सुखाकर शरीर-बन्धनो को शिथिल करता हुआ मनुष्य के आधे शरीर की क्रिया एव चेतना को नष्ट कर देता है, तो उस स्थिति को कुछ लोग एकाङ्गरोग और कुछ लोग पक्षवध कहते है। इसे ही **पक्षाघात** कहा जाता है।

इसी प्रकार जब प्रकुपित वायु सर्वशरीरगत होकर समस्त शरीर की क्रियाशीलता को नष्ट कर देता है, तो उसे सर्वाङ्गरोग कहते हैं। पक्षवध को एकाङ्गवात या अर्धाङ्गवात और सर्वाङ्गरोग को सर्वाङ्गवात कहते हैं।

पक्षवध मे पित्त-कफानुबन्ध—पक्षवध मे वायु के साथ पित्त का अनुबन्ध होने पर दाह, गर्मी और मूर्च्छा, ये लक्षण होते हैं तथा कफ का अनुबन्ध होने पर शीतता, शोथ और भारीपन होता है।

पक्षवध-प्रकार—यह चार प्रकार का हो सकता है—चेष्टावह संस्थान के विक्षत स्थल के अनुसार अंगघात (पैरालिसिस Paralysis) की विकृति को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ एकाङ्गघात (Monoplegia)—इसमे किसी एक अंग का घात होता है।

२ पक्षवध या अर्धाङ्गघात (Hemiplegia)—इसमे शरीर के दक्षिण या वाम भाग के प्रत्येक अंग का घात होता है। सिर से लेकर पैर तक शरीर का आधा भाग लम्बाई मे निष्क्रिय हो जाता है।

३ सर्वाङ्गघात (Diplegia) इसके प्रभाव से सम्पूर्ण शरीर मे क्रियाहीनता हो जाती है।

४ अधराङ्गघात (Paraplegia)—इसमे कमर के ऊपर का भाग या कमर के नीचे का भाग निष्क्रिय हो जाता है। प्राय कमर से लेकर नीचे पैर तक का भाग ही निष्क्रिय होता है। इसमे खञ्जत्व और पगुत्व हो जाता है।

पक्षवध-सम्प्राप्ति—प्रकुपित वायु सिरा तथा स्नायुओ मे स्थानसश्रय करके उनका शोषण कर देता है, जिससे एक तरफ का आधा शरीर कार्य नही कर पाता। इसमे दूष्य—रस, रक्त और मास होते हैं। सिरा-सकोच से पोषणाभाव के कारण मास का क्षय होने लगता है।

लक्षण—१. शरीर के आधे भाग मे क्रियाहानि, २ सिरा-स्नायु शोष, ३. आक्रान्त भाग स्थिर, सकुचित और कृश हो जाता है।

चिकित्सा—

१. **अभ्यङ्ग**—बलातैल का शरीर मे अभ्यङ्ग करना चाहिए और बलातैल को १५-२० ग्राम की मात्रा मे नासिका द्वारा पान कराना चाहिए और जो बचे, उसे मुख से पान करावे।

२. महामाष तैल, महाराजप्रसारिणी तैल, महानारायण तैल अथवा विष्णु तैल या सैन्धवादि तैल या महाविषगर्भ तैल का सर्वाङ्ग मे अभ्यङ्ग करना चाहिए।

स्वेदन—

३ महाशाल्वण स्वेद (शा० स०)—इसकी औषधो को पोटली मे बाँधकर, वातहर तैल से अभ्यङ्ग के बाद सेंक करना चाहिए।

४. रूक्षता मे—महानारायण तैल का अभ्यग करे और नस्य भी देवे। छागलाद्य घृत या अश्वगन्धाद्य घृत या शतावरी तैल १५-२० ग्राम सुखोष्ण गोदुग्ध में मिलाकर प्रात या रात्रि मे सोते समय पिलावे।

५. विबन्ध मे—रास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० मे २०-२५ मि० ली० एरण्ड तैल मिलाकर प्रात काल पिलावे अथवा तीक्ष्ण विरेचन तथा वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

६. अवगाहन एवं परिषेचन—वातहर द्रव्यो (धतूर, मेउडी, मदार, रास्ना, वरियार, असगन्ध आदि) के क्वाथ को सुखोष्ण कर किसी टब मे भर कर उसमें अभ्यग कराकर, रोगी को कुछ समय बैठावे।

७. पौष्टिक आहार—दशमूल के क्वाथ मे आनूप जीवो का मास या मासभक्ष जीवो का मास पकाकर उसको छानकर रस निकालकर उस मासरस को घी में छौंककर उसमे दही, काञ्जी, त्रिकटु चूर्ण और नमक मिलाकर रुचिकर बनाकर खाने को देवे।

८ रसोन-प्रयोग—मसाले मे पीसकर और चटनी बनाकर भोजन के साथ लहसुन खिलावे। 'रसोनपिण्ड' बनाकर खिलावे या दाल को लहसुन से छौंककर दे। एक गाँठवाला लहसुन अधिक गुणकारी है। प्याज का प्रयोग भी लाभकर है।

९ क्वाथ और नस्य—माषबलादि पाचन—उडद, वरियार की जड, कँवाच के बीज, रोहिष घास, रास्ना, असगन्ध, एरण्डमूल की छाल—सभी को समभाग में कुल २५ ग्राम लेकर ½ लीटर जल मे पकावे, १२५ मि० ली० बचने पर छान लें। उसमे घी मे भुनी हीग १२५ मि० ग्रा० और पिसा हुआ सेंधानमक १ ग्राम डालकर, सुखोष्ण कर नासिका से पान करावे। नाक से न हो, तो मुख से पिलावे और नाक मे इसका नस्य देवे।

१० मूर्च्छा मे—ब्राह्मीवटी १२५ मि० ग्रा०, चिन्तामणि चतुर्मुख १२५ मि० ग्रा० और योगेन्द्र रस १२५ मि० ग्रा०/१ मात्रा। ब्राह्मी-स्वरस, मधु या मास्यादि क्वाथ से दे। शिर मे पुराने घी मे कपूर मिलाकर मालिश करावे।

११. अनिद्रा मे—रात मे सोते वक्त सर्पगन्धा घनवटी ५०० मि० ग्रा० दूध से दे।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात, साय, मध्याह्न—

रसराज रस	५०० मि० ग्रा०
मल्लसिन्दूर	२५० मि० ग्रा०
महायोगराजगुग्गुलु	१ ग्राम
शृगभस्म	१ ग्राम
	३ मात्रा

सिन्दुवार पत्र स्वरस और मधु से।

आधा घण्टे बाद—महारास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० पीना।

२. १ बजे व २ बजे—

वातकुलान्तक रस	२५० मि० ग्रा०
वृहद्वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
समीरपन्नग रस	१०० मि० ग्रा०
आर्द्रक स्वरस और मधु मे ।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट	४० मि० ली०
बराबर जल से पीना ।	२ मात्रा

४. रात मे सोते वक्त—

एरण्डपाक २० ग्राम अथवा—

रसोन पिण्ड ७ ग्राम मुखोष्ण जल से ।

५. अभ्यङ्गार्थ—

बलातैल या महामाषतैल या महानारायण तैल का प्रयोग करे ।

वक्तव्य—प्रलाप मे—ब्राह्मीवटी एव कस्तूरीभैरव रस दे । हृदयदौर्बल्य मे—वृहत्कस्तूरीभैरव २०० मि० ग्रा० आदी के रस व मधु से । नाडीशैथिल्य में—रसराज २०० मि० ग्रा० मधु से दे । तथा आवश्यकतानुसार अर्जुनाद्यरिष्ट, मृगमदासव, महालक्ष्मीविलास, वृहद्वातचिन्तामणि, चिन्तामणिचतुर्मुख, स्मृतिसागर, त्रैलोक्य-चिन्तामणिरस, महावातविध्वसन रस आदि का प्रयोग करे ।

(४०) अर्दित—परिचय—जिस रोग के होने से मुखार्ध मे टेढापन और पीडा हो, उसे अर्दित कहते हैं—'अर्दयति पीडयति इति अर्दित' ।

निदान—१ उच्च स्वर मे भाषण करना, २ अत्यधिक कठिन पदार्थों का भक्षण, ३ अधिक हँसना या अधिक जभाई लेना, ४ अधिक भार उठाना, ५ नीची-ऊँची भूमि मे शयन, ६. अति कठिन धनुष खीचना और ७ वातवर्धक आहार-विहार करना ।

सम्प्राप्ति—उक्त निदानो से तथा अन्य वातप्रकोप निदानो के सेवन से प्रकुपित वायु शिर, नासिका, ओठ, हनु, ललाट और नेत्र की सन्धियो में व्याप्त होकर मुख को पीडित करता है और अर्दित रोग को उत्पन्न करता है ।

लक्षण—१ मुख का आधा भाग टेढा हो जाता है, २. गर्दन मुड जाती है, ३ शिर काँपने लगता है, ४ वाणी अवरुद्ध हो जाती है, ५ नेत्र, नासिका, ग्रीवा, हनु और दाँतो मे भी विकृति हो जाती है, ६. विकृत पार्श्व की ग्रावा आदि मे पीडा होती हे, ७ आक्रान्त नेत्र ठीक से नही घूमता, ८ खाना खाते समय या पानी पीते समय खाना या जल आक्रान्त भाग की ओर से बाहर गिर जाते है तथा ९. दृष्टि-वक्रता, वाक्सग श्रुतिहानि, गन्धज्ञान-हानि, दन्तवेदना और शिर कम्प—ये लक्षण होते है ।

असाध्य लक्षण—जो रोगी अत्यन्त क्षीण हो, जो आँखों की पलकें न झपका सके, जो एकदम न बोल सके या अस्पष्ट बोले, जो रोग तीन वर्ष का पुराना हो अथवा जिसके नाक, आँख और मुख से निरन्तर स्राव निकले तथा जो कम्पवात से पीड़ित हो, वह अर्दित असाध्य होता है।

चिकित्सा-सूत्र—१. नासिका में नस्य देने के पश्चात् नारायण तैल डालना चाहिए।

२ सतर्पक स्निग्ध आहार तथा बलातैल का अभ्यंग करना चाहिए।

३ कर्ण तथा नेत्रों का तर्पण करे, शिरोवस्ति का प्रयोग करे।

४ नाडीस्वेद का प्रयोग करे और जलेचर जीवों के मास की पुल्टिस बाँधे।

५ दाह और रागयुक्त अर्दित में सिरावेध करे।

चिकित्सा—१ ६ ग्राम पिसे लहसुन को १० ग्राम मक्खन मिलाकर खिलावे।

२ उडद का वडा मक्खन के साथ खिलाकर दूध या मासरस के साथ भोजन कराना चाहिए।

३ रसोनकल्क मिलाकर मालिश कराना लाभ करता है।

४ अभ्यग, स्वेदन, शिरोवस्ति, स्नेहपान, नस्य तथा भोजन के बाद घृतपान का प्रयोग करते रहना चाहिए।

५ एकपोथिया लहसुन को छीलकर रात भर मट्ठे में भिगोकर सवेरे धोकर साफ कर १ अदद चबाकर खाये और प्रतिदिन १-१ दाना बढाते हुए २१ दाने तक ले जाये और क्रमश १-१ घटाकर पुन १ दाना तक लाये।

व्यवस्थापत्र

१. प्रात -मध्याह्न-साय—

महायोगराज गुग्गुलु	६०० मि० ग्रा०
महावातविध्वसन	३०० मि० ग्रा०
रसराज	३०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	१ ग्राम
अग्नितुण्डीवटी	५०० मि० ग्रा०
आर्द्रक स्वरस और मधु से।	३ मात्रा

तत्पश्चात् महारास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० पीये।

२. ९ बजे व २ बजे दिन—

रसोनपिण्ड	१० ग्राम

सुखोष्ण जल से।

३. भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट	५०० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. सवेरे-शाम भोजन से पहले —

कटफल नस्य

और

महानारायण तैल का अभ्यंग कर स्वेदन करना चाहिए।

५. रात में सोते समय—

एरण्डतैल	२० मि० ली०

कुनकुने गोदुग्ध में दे।

६.	कल्याण लवण	३ ग्राम
	महाग्निवाप्लवादि चूर्ण	१ ग्राम

दोनों को मिलाकर घी के साथ ३-४ बार चाटना चाहिए।

(४१) गृध्रसी (Sciatica)—परिचय—श्रोणिमण्डल (स्फिक्प्रदेश) से आरम्भ होकर क्रमश. कटि के पिछले भाग, ऊरु, जानु, जघा तथा पैर तक जाने वाली विशिष्ट पीडा को 'गृध्रसी रोग' कहते है।

निदान—सामान्य वातप्रकोपक निदान ही इसका भी निदान है एव मृदु शय्या या आसन पर सोये या बैठे रहना और नावकाल अधिक चलना भी इसका निदान है।

सम्प्राप्ति—स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित वात अथवा वातकफ कटिपृष्ठ, ऊरु, जानु, जघा और पैर मे शूल उत्पन्न करता है। तब गृध्रसी रोग की उत्पत्ति होती है। गृध्रसी नाडी मे क्षोभ या शोथ होने से गृध्रसी रोग होता है।

गृध्रसी नामक नाडी स्फिक्प्रदेश से निकलती है और उसकी शाखाएँ पैरो तक जाती हैं, अत एव वेदना भी स्फिक् से प्रारम्भ होकर क्रमश पैरो तक जाती है।

परीक्षा—रोगी को पीठ के बल उत्तान सुलाकर पैरो को फैला दे, फिर रोगी को अपने पैरो को आसमान की ओर उठाने को कहे। यदि रोगी पैर नही उठा पाता या कम उठा पाता है, तो उसे वेदना का अनुभव होगा और जब चिकित्सक रोगी के पैरो को ऊपर उठाकर शिर की ओर मोडे, तो गृध्रसी नाडी पर दबाव पडने से जोर से दर्द होगा। तब गृध्रसी रोग होने का निश्चय करे।

लक्षण—इसके होने से पैरो मे जकडन, पीडा, सूई चुभने जैसा दर्द और फडकन होती है। पीडा का प्रसार कमर के पीछे से शुरु होकर ऊरु, जानु, जघा और पैरो तक होता है। इन स्थानो मे स्तब्धता और स्पन्दन भी होता है।

वातज गृध्रसी—इसमे सूई चुभने जैसी पीडा होती है, शरीर टेढा हो जाता है, घुटने, कमर तथा ऊरु की सन्धियो मे फडकन और जकडन होती है।

वातकफज गृध्रसी का कारण अग्निमान्द्य है और उसमे तन्द्रा, मुख से लालास्राव तथा भक्तद्वेष हो जाता है।

यह रोग प्राय एक तरफ होता है, किन्तु कभी-कभी दोनो तरफ भी हो जाता है।

चिकित्सासूत्र—

१ गृध्रसी रोग मे कण्डरा और गुल्फ के बीच मे सिरावेध तथा अग्निकर्म करना चाहिए।

२. वालुकास्वेद करना चाहिए और अभ्यग मुलायम हाथो से करे।

३ उष्ण उपनाह (पुल्टिस) बाधना चाहिए।

४. रोगी को चौकी पर सुलाना चाहिए, चारपाई पर नही।

५. अनुवासन और निरूह् वस्ति का वारी-वारी से प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा—

१. **अभ्यंग**—सैन्धवादि तैल या महाविषगर्भ तैल की मालिश करे।

२. **स्वेदन**—एरण्डवीज की पोटली से वातज मे और वातकफज मे सेंधानमक की पोटली से विशेष स्वेदन करे।

३ **उपनाह**—मेउडी-मदार-धतूर-बकायन-सहिजन-एरण्ड आदि की पत्तियो के कल्क को सुखोष्ण कर आवश्यकतानुसार पुल्टिस वाधना चाहिए।

४ **कोलादि लेप**—झरबेर, कुलथी, देवदारु बुरादा, रास्ना, उडद, तीसी, तिल, रेडी के वीज, कूठ, घोडबच, सोवा और जौ—इनका चूर्ण वनाकर सिरका मे पीसकर पोटली वनाकर सेक करे तथा पुल्टिश वाधे।

५. **लशुनक्षीर**—छीले हुए लहसुन ३० ग्राम लेकर पीसकर २५० मि० ली० दूध और १ लीटर जल डालकर पकावे, जब मात्र दूध वचे तो छान ले। आधा सवेरे तथा आधा शाम को पीना चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

१ प्रात -मध्याह्न-साय—

महायोगराज गुग्गुलु	१ ग्राम
समीरपन्नग रस	३०० मि० ग्रा०
रसराज	३०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	१ ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	५०० मि० ग्रा०

सिन्दुवार स्वरस मधु से। ३ मात्रा

२ वाद मे—महारास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० पीये।

३ ९ वजे व २ वजे दिन—

रसोनपिण्ड	२० ग्राम
	२ मात्रा

सुखोष्ण जल से।

४ भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. [illegible]

[illegible] — १ ग्राम

[illegible] — १ मात्रा

६. [illegible]

[illegible]

आवृत वात-चिकित्सा

आवृतवात की चिकित्सा सिद्धान्त—[illegible] जिस दोष से आवृत हो या जिस दोष का अनुबन्ध हो, [illegible] चिकित्सा में [illegible] सामान्य [illegible] चिकित्सा करनी चाहिए।

पित्तावृत वात चिकित्सा

पित्तावृत वात में [illegible] तथा [illegible] उपचार का प्रयोग करे तथा [illegible] जीवनीय घृत का प्रयोग [illegible] उत्तम उपचार है। पथ्य में जांगल पशु-पक्षियों का मांस [illegible], शालि [illegible], [illegible] ([illegible]) [illegible] क्षीरपाक-विधि से पकाया दूध पिलाना चाहिए।

परिषेक तथा स्नान—[illegible] अथवा [illegible] स्नान कराना चाहिए।

कफावृत वात-चिकित्सा

इसमें तीक्ष्ण स्वेदन, निरूहवस्ति, वमन, विरेचन कराना तथा जौ से बने आहार, जांगल जीवों का मांस, पुराना घृत, सरसों का तेल और तिल का प्रयोग हितकर है।

पित्तकफावृत वात-चिकित्सा

वातरोग में पित्त-कफ दोनों का संसर्ग होने पर सर्वप्रथम पित्त का उपचार करना चाहिए।

पञ्चकर्म-चिकित्सा—आमाशय में कफ हो तो वमन और पक्वाशय में हो तो विरेचन एवं पित्त सम्पूर्ण शरीर में कुपित हो तो विरेचन करावे।

वस्ति-प्रयोग—स्वेदन से द्रवीभूत कफ पक्वाशयगत हो अथवा पित्त के लक्षण शरीर में प्रकट हों तो कफ और पित्त को वस्ति द्वारा निकालना चाहिए।

कफानुगत वात हो तो उष्ण गोमूत्रयुक्त निरूहवस्ति और पित्तानुगत वात हो तो दूध के साथ निरूहवस्ति तथा मधुर औषधों से सिद्ध तेल से अनुवासन वस्ति देनी चाहिए।

नस्य—यदि कफ के साथ वात शिर में चला गया हो, तो धूम और नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

रक्तावृत वात-चिकित्सा

यदि वात, रक्त से आवृत हो तो उसकी चिकित्सा वातरक्तवत् करे।

आमावृत वात-चिकित्सा

यदि वात आम से आवृत हो तो प्रमेह-वात एव मेदनाशक चिकित्सा करे।

मांसावृत वात-चिकित्सा

इसमे अभ्यग, स्वेदन एव मासरस, दूध, घृत, तेल आदि स्नेहो का प्रयोग हितकर है।

अस्थि-मज्जावृत वात-चिकित्सा

इसमे महास्नेह—घृत-तैल-वसा-मज्जा का प्रयोग करना चाहिए।

शुक्रावृत वात-चिकित्सा

इसमे हर्षण तथा वल-वीर्यवर्धक आहार का सेवन करना चाहिए।

अन्नावृत वात-चिकित्सा

इसमे वमन द्वारा अन्न को निकाल दे और दीपन-पाचन औषध एव लघु अन्न दे।

मूत्रावृत वात-चिकित्सा

इसमे मूत्रल औषध दे, उत्तरवस्ति दे और स्वेदन करे।

मलावृत वात-चिकित्सा

एरण्ड तैल का विरेचन दे, स्निग्ध अन्न खिलावे तथा उदावर्त रोग की तरह उपचार करे।

ऊरुस्तम्भ

परिचय—इस रोग मे रोगी अपने पैरो को अपनी इच्छानुसार नही हिला-डुला पाता है। मेद के साथ कफ जब वात-पित्त को दबाकर ऊरुप्रदेश मे आकर ऊरु को स्तब्ध, भारी, निश्चल और थकान से भर देता है, तो रानो मे भारी बोझ तथा अकर्मण्यता हो जाती है। बोलचाल की भाषा में ऊरु को जघा कहते है और उस जघा मे आम, मेद और कफ की स्थिति सुदृढ होने से जघा अविधेय परिस्पन्द (गतिशीलता रहित) हो जाती है। जघा जकड जाती है और उसके सचालन पर अपना वश नही होता।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता, चिकित्सा-स्थान अ० २७।
२ सुश्रुतसहिता, चिकित्सा-स्थान अ० ५।
३ अष्टाङ्गहृदय, निदान-स्थान अ० १५।
४ माधवनिदान, ऊरुस्तम्भ।

१० **पञ्चकर्म-निषेध**—इसमें वमन, विरेचन और वस्ति के प्रयोग से संशोधन निषिद्ध है, क्योंकि स्वस्थानगत कफ-पित्त का वमन द्वारा, आमाशयगत कफ-पित्त का विरेचन द्वारा और पक्वाशयगत वात-पित्त-कफ का वस्ति के द्वारा सुखपूर्वक निर्हरण किया जा सकता है, किन्तु आम और मेद द्वारा जकड़े गये ऊरु तथा जंघा में स्थित दोष वमन, विरेचन या वस्ति के द्वारा नहीं निकाले जा सकते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त गहराई में स्थित जल बाल्टी से नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार ऊरुस्तम्भ रोग में ऊरु तथा जंघागत दोषों का वमन, विरेचन या वस्तिकर्म के द्वारा निर्हरण नहीं किया जा सकता।

११ क्षार का प्रयोग, अरिष्टों का प्रयोग, मधु और जल के सर्बत का प्रयोग और 'वर्धमानपिप्पली' का प्रयोग ऊरुस्तम्भ-नाशक है।

चिकित्सा

१ चक्रोक्त भल्लातकादि योग, कुष्ठादि योग, [illegible] योग, मुस्तादि योग, देवदार्वादि योग, पिप्पल्यादि अथवा भल्लातकादि योग का रोगी के बलानुसार मात्रा और उचित अनुपान से खाने के लिए प्रयोग करे।

२. **षड्धरण योग**—चित्रक, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस और हरें—इनके समभाग का चूर्ण २-३ ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार सुखोष्ण जल से प्रयोग करे।

३ शुद्ध शिलाजीत या शुद्ध गुग्गुलु या पिप्पली चूर्ण १-१ ग्राम दिन में ३ बार दशमूल क्वाथ या गोमूत्र से देना चाहिए।

४ त्रिफलाचूर्ण ३ ग्राम और कुटकी चूर्ण १ ग्राम/१ मात्रा, सवेरे-शाम मधु से देना चाहिए।

५ पीलुपर्ण्यादि तैल, कुष्ठादि तैल, सैन्धवादि तैल या अष्टकट्वर तैल का १५-२० ग्राम की मात्रा में पान कराना चाहिए।

६. **बाह्य प्रयोग-उत्सादन**—दीमक की मिट्टी, करञ्ज के मूल की छाल, करञ्ज के फल और ईंट का चूर्ण पूर्वोक्त के समान भाग मिलाकर, इससे मालिश करावे।

७ असगन्ध या मदार की छाल या नीम की छाल के चूर्ण से मालिश करावे।

८ लेप—लहसुन, जीरा, सहिजन की छाल, काली मिर्च, सरसो, जयन्तीपत्र, काले धतूरे की जड की छाल, अफीम के फल का वक्कल, करञ्ज के फल, असगन्ध मूल, नीम की छाल, मदार के मूल की छाल—इन्हे समभाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर सुखोष्ण लेप करे।

९ सरसो को पीसकर कल्क बना रात भर गोमूत्र मे भिगो दे और प्रातःकाल लेप लगावे।

१० **वत्सकादि लेप**—कोरया की छाल, तुलसी की पत्ती, कूठ, अगर, धनिया, सहिजन की छाल, हड्डजोड़ की जड, मदार का मूल, दीमक की मिट्टी और वनतुलसी, इन्हें समभाग मे लेकर नमक मिले दही से पीसकर गरम कर लेप लगावे।

व्यवस्था-पत्र

१ सवेरे-शाम —

योगराज गुग्गुलु	५०० मि० ग्रा०
आरोग्यवर्धिनी	५०० मि० ग्राम
शृङ्गभस्म	५०० मि० ग्रा०
अग्नितुण्डी वटी	२५० मि० ग्रा०
गोमूत्र से।	२ मात्रा

२ ९ बजे व २ बजे दिन—

गुञ्जाभद्र रस	५०० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

शुद्ध हींग २५० मि० ग्रा० और सैन्धव लवण २५० मि० ग्रा० के साथ सुखोष्ण जल से।

३. भोजन के बाद २ बार—

पिप्पल्यासव	४० मि० ली०
समान जल से पाना।	२ मात्रा

४ रात मे सोते समय—

षड्धरण चूर्ण	३ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

५ रूक्षतावृद्धिजन्य वातप्रकोप मे

अष्टकट्वर तैल १० ग्राम पाना।

पथ्य

स्वेदन, रात्रिजागरण, शक्ति के अनुसार व्यायाम या टहलना, नदी या तालाव मे तैरना, ककरीली जमीन या रेत में चलना हितकर है।

भोजन में जौ, कोदो, सावा, कुलथी, सहिजन की कली, करेला, परवर, लहसुन, चौपतिया, वथुआ, वैगन, नीम के कोमल पत्ते, छाछ, आसव, अरिष्ट, मधु, कटु-तिक्त एव कषायरस प्रधान द्रव्य, यवक्षार, गोमूत्र, उष्ण जलपान, उष्ण जल का स्नान और कफनाशक द्रव्य पथ्य है।

अपथ्य

गुरु-शीत-द्रव एव स्निग्ध पदार्थ, विरुद्ध आहार, असात्म्य आहार, स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और रक्तमोक्षण—ये सब अपथ्य हैं।

द्वितीय अध्याय

स्थौल्य, कार्श्य एवं कुपोषणजन्य विकार

स्थौल्य[1]

परिचय—मेद और मांस की अस्वाभाविक वृद्धि के कारण जिस व्यक्ति के नितम्ब, स्तन और उदर मोटे होने से हिलने लगते हैं तथा जिसके शरीर का मोटापा सगठित नही होता है एव जिसमें कार्य के प्रति उत्साह नही होता, उसे अतिस्थूल कहते हैं और उसकी स्थूलता को स्थौल्य कहते हैं।

यह वह स्थिति है जिसमें शरीर में वसा का सचय होता है। रक्तगत वसा के अतिरिक्त अनेक ऊतको में भी मेद-सचय होकर स्रोतोऽवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थौल्य कई प्रकार से उत्पन्न हो सकता है। जैसे—(१) सहज स्थौल्य बीज प्रभाव से जन्मना उत्पन्न होता है। (२) अपथ्य आहार-विहारजनित स्थौल्य, जैसे—चिकने मासवर्धक पदार्थ अधिकतर खाना और शारीरिक श्रम या किसी प्रकार का व्यायाम न करना। (३) अन्त स्रावी ग्रन्थियो की क्रिया-हीनता अर्थात् थाइरायड, पिट्युट्री और एड्रीनल आदि का समुचित कार्य न करना, जिसके फलस्वरूप शरीर की चयापचयात्मक क्रिया ठीक से न होने से मेद का सचय होने लगता है।

निदान

१ व्यायाम का अभाव, २ दिवाशयन, ३ निश्चिन्त रहने का स्वभाव, ४ मधुर पदार्थों का अतिसेवन, ५ अम्ल पदार्थों का सेवन, ६ कफवर्धक आहार, ७ स्निग्ध पदार्थों का अधिक खाना, ८ सन्तर्पण आहार का सेवन, ९ मेदस्वी जीवों का मास और १० वारुणी नामक मद्य का अतिसेवन आदि।

सम्प्राप्ति

लग जाती है। आहार से केवल मेद की वृद्धि होती है और अन्य धातुओं का क्षय होता है, तो धातुक्षय से वायुप्रकोप होता है (वायो धातुक्षयात् कोप) और कुपित वायु (समानवायु) द्वारा जठराग्नि का उद्दीपन होता है, खूब भूख लगती है, खूब खाता और पचाता है तथा उससे मेद धातु की ही अधिक उत्पत्ति होती है तथा यह क्रम चलता ही रहता है।

सम्प्राप्ति-चक्र
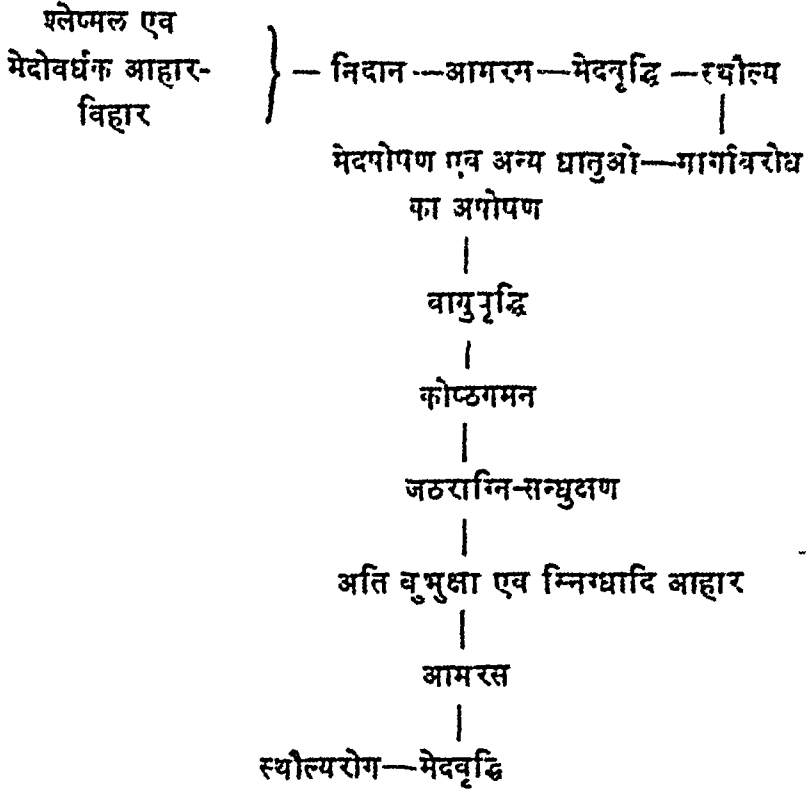
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१ **दोष**—कफ-प्रधान त्रिदोष।

२ **दूष्य**—मेद।

३ **स्रोतस्**—मेदोवह।

४ **अधिष्ठान**—नितम्ब, उदर, स्तन।

५ **स्रोतोदुष्टि**—सग।

६ समानवायु द्वारा जठराग्नि-सन्धुक्षण[1]।

---

१. मेदसावृतमार्गत्वाद् वायु कोष्ठे विशेषत ।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहार शोषयत्यपि ॥
तस्मात् स शीघ्र जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति ।
विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित्कालव्यतिक्रमात् ॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वन यथा ॥ मा० नि०

लक्षण

१. शरीर में मेद का सञ्चय होने से स्थूलता होना[1]।

२. मेद के अतिरिक्त अन्य धातुओं का शरीर में अपोषण होने से कार्य करने में असमर्थता।

३. क्षुद्रश्वास, प्यास लगना, मोह और निद्राधिक्य।

४. ग्लानि, थकावट, क्षुधा की अधिकता, स्वेद, शरीर-दौर्गन्ध्य।

५. मैथुन-शक्ति का ह्रास, वीर्य-शक्ति की कमी।

६. मधुमेह, रक्तचाप और हृद्रोग होने की सम्भावना।

७. जड़ता, अल्पायु, अल्पबल, श्रम के प्रति असहिष्णुता आदि।

८. त्वचा के नीचे, वपा (Greater omentum), आन्त्रनिबन्धनी (Mesentery) तथा हृदय में वृक्क के चारों ओर वसा का सञ्चय।

९. सक्रियता का ह्रास और शरीर का अव्यवस्थित असुन्दर संगठन।

१०. थोड़ा ही परिश्रम करने से दम फूलने लगना।

११. हृदयातिपात—हृदय का वसामय अपजनन (Fatty degeneration of the heart) होने से।

१२. गुजरी या विचर्चिका (Eczyma) की प्रवृत्ति।

१३. मेदोदुष्टि से प्रमेह-पिडका होने की सम्भावना।

असाध्यता

मेद के अत्यधिक बढ़ जाने पर वात आदि दोष सहसा भयङ्कर उपद्रवों को उत्पन्न करके रोगी के जीवन का नाश कर देते हैं।

विशेष वक्तव्य—स्थूलता या ओबेसिटी (Obesity) का अस्तित्व प्रायः धनाढ्य समाज के शिशुओं, बच्चों या युवाओं में पाया जाता है। यह कुपोषणजन्य विकारों में सर्वाधिक घातक होता है। सभी तरह के विटामिन्स के अभाव का होना उतना खतरनाक नहीं होता, जितना कि शरीर का स्थूल या मोटा होना होता है।

मोटे व्यक्ति को बोलने में जोर लगाना पड़ता है, वह अल्पायु होता है और अनेक प्रकार की विकृतियों का पात्र होता है, उसमें शरीर की अपेक्षा शक्ति का ह्रास होता है। वह डायबिटीज जैसे गम्भीर रोगों की निवासभूमि होता है। उसमें पौरुष-शक्ति कम होती है। वह सामान्य अल्पश्रमसाध्य क्रिया-कलापों के सम्पादन में भी हिचकता है। वह भावनात्मक और मानसिक तनावों से ग्रस्त होने के कारण स्वयं अपने और परिवार तथा समाज के कल्याण कार्य में बाधक होता है।

निदान—इसका मूल कारण वंशानुगत और वातावरण होता है। प्रायः स्थूलकाय माता-पिता की सन्तानें स्थूल होती हैं (किन्तु यह आवश्यक नहीं।) वातावरण—पारिवारिक परम्परागत समृद्ध आहार का प्रयोग करना, शारीरिक श्रम न

---

१ अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासः, जवोपरोधः, कृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्य, दौर्गन्ध्य, स्वेद, क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति अष्टौ दोषाः। च० सू० २१।४

करना, कथा-वार्ता-गपशप मे समय गुजारना और धनाढ्य तथा सुखमय जीवन व्यतीत करना मोटापा (Obesity) का कारण होता है।

लिङ्ग—(Sex) आयु की वृद्धि के साथ पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ मोटापे की ओर अधिक उन्मुख होती हैं। स्त्रियो में सगर्भावस्था के कारण भी स्थूलता होती है, जो प्रसव के वाद घट जानी है।

भूख और पोषकतत्त्व—हाइपोथैलमस (उपाज्ञाकन्द) की निष्क्रियता से मोटापा होता है। जव उपाज्ञाकन्द के परितृप्ति केन्द्र और वभुक्षा में सन्तुलन नही होता, तव व्यक्ति अधिक मात्रा मे आहार करने लग जाता है। कोई-कोई व्यक्ति दीर्घ आहार के आदी हो जाते हैं और अज्ञानी पुरुष अति मात्रा में पशुवत् आहार करते हैं। ऐसे लोग शरीर और वुद्धि दोनो से स्थूल होते हैं।

यदि प्रतिदिन एक-दो वार मे अधिक मात्रा में भोजन करने के वजाय, चार वार मे थोडा-थोडा करके भोजन किया जाय, तो वह आहार शरीर को असन्तुलित नही वनाता है।

शारीरिक क्रियाशीलता—यद्यपि मोटे आदमी की ताकत अधिक हो सकती है, परन्तु वह दुवले आदमी की अपेक्षा कम क्रियाशील और आलसी स्वभाव का होता हे।

मनोवैज्ञानिक कारण—मोटे व्यक्ति प्राय मन क्षोभ से परेशान रहते हं और अपनी मन स्थिति पर कावू पाने के लिए खाने-पीने की ओर झुक जाते हैं और खा-पीकर अपने मन को तसल्ली दे लेते हैं। इस प्रकार उनकी अधिक खाने की आदत मोटापा ला देती हे।

स्थूलता के उपद्रव—मोटापा शरीर के यन्त्रो के कार्यों को अस्त-व्यस्त कर देता है। यह मेटावोलिज्म प्रणाली को और हृदय-रक्तवाहिनी के कार्य को अव्यवस्थित वना देता है तथा जीवन की अवधि को क्षीण कर देता है।

मोटे मनुष्य के पैर मोटे हो जाते हैं, घुटनो मे अस्थिसन्धिशोथ एव नितम्ब तथा कटिप्रदेश मे स्थूलता हो जाती है। मोटे व्यक्ति मे गतिशीलता कम होती है और वे दुर्घटना मे फँस सकते हे। मोटे व्यक्ति के रक्त मे कोलेस्टेरोल (Cholesterol) और ट्रिगलीकेरायड (Triglyceride) की मात्रा अधिक होती है। उनके पित्ताशय मे पथरी होने की अधिक सभावना रहती है। स्थूलता से मधुमेह और आमवात भी होते है। स्थूल व्यक्ति प्राय तनावयुक्त होता है एव उसके हृदय को अधिक कार्य करना पडता है। मोटे आदमी के जीवन की दोपहरी मे (मध्यायु मे) एन्जाइना पेक्टोरिस और कार्डियक-फेल्योर के आक्रमण सभावित होते हैं।

चिकित्सा-सङ्केत—रोगी को रोग के उपद्रवो और सभावनाओ तथा रोग के दूरीकरण के विषय मे प्रशिक्षण देना चाहिए। उसे रोग के स्वभाव और उसके दुष्परिणाम से वचने की शिक्षा देनी चाहिए। रोगी को प्रशिक्षित करने के लिए चिकित्सक मे क्षमता, चतुरता, प्रगल्भता, दक्षता और प्रोत्साहन होना चाहिए।

रोगी के परिचारक, सेवक और भोजन-दाता को भी उचित पथ्य और विहार आदि की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए।

कुछ रोगी ऐसे भी मिलते है, जो अपनी जिम्मेदारी स्वयं समझते हैं और अपना शरीर-भार घटाने का उपक्रम सावधानी से बरतते हैं, फिर भी चिकित्सक का उत्तरदायित्व है, कि वह रोगी को उचित परामर्श देता रहे और अपना वरद हस्त तब तक स्थापित रखे, जब तक कि रोगी का शरीर और स्वास्थ्य सामान्य न हो जाये।

रोगी के शरीर मे जब स्टैण्डर्ड साइज के पहनावे अँटने लगे, वह तैरने या अन्य शारीरिक श्रम के कार्य आसानी से करने लगे, तो स्थिति सामान्य समझनी चाहिए।

रोगी के दैनिक आहार को सन्तुलित रखना चाहिए। आहार मे अलाभकर पदार्थों को अनिवार्य रूप से वर्जित करना चाहिए। जैसे मधुमेह आदि गंभीर रोगो में पथ्य का सावधानी से पालन करना अत्यावश्यक होता है, उसी प्रकार इसमे कड़ाई के साथ आहार पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

व्यायाम—नियमित रूप से शारीरिक श्रमजनक कार्य करना चाहिए। यदि अधिक श्रम न हो पावे, तो टहलना, बागवानी, तैरना और हठयोग के स्थूलता कम करनेवाले आसन करने चाहिए। थोड़ा-बहुत श्रमजनक कार्य अवश्यमेव करना चाहिए।

प्रतिषेध—आयुर्वेद मे बतलाये गये अपथ्य आहार-विहार का अनिवार्यत परि-वर्जन करना चाहिए। रोगजनक कारणो का कड़ाई से त्याग करना चाहिए। चिकित्सक को शिशु, बालक या वयस्क स्थूल व्यक्ति के वजन का रिकार्ड रखना चाहिए, जो थोडे-थोडे दिनो के अन्तराल पर लिया गया हो। रोगी को मोटापे से होनेवाले खतरे से सचेत करते रहना चाहिए, जिससे वह समुचित आहार-विहार के प्रयोग से अपने को सामान्य बनाने मे सचेष्ट रहे।

मोटापा हटाने के उपलब्ध उपकरणो के प्रयोग से अपने शरीर-भार को सन्तु-लित रखने मे लापरवाही कभी भी नही बरतनी चाहिए।

आयुर्वेद मे बतलाये हुए औषधयोग और प्रयोग निश्चयपूर्वक लाभकारी है। उनका प्रयोग तब तक करना चाहिए, जब तक कि शरीर सामान्य स्थिति मे न आ जाये।

चिकित्सासूत्र

१ निदान का परिवर्जन करना चाहिए।
२ देर से पचनेवाला भारी पदार्थ और कर्षणकारक पदार्थ का सेवन कराये।
३ वात, कफ तथा चर्बी को नष्ट करनेवाले अन्न (जौ, साँवा-कोदो आदि) दे।
४ मधु का शर्बत पिलाना चाहिए।
५ रूक्ष, उष्ण एव तीक्ष्ण द्रव्यो से निर्मित वस्तियो का प्रयोग करना चाहिए।

६. रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण द्रव्यो से वना उवटन लगाना चाहिए।

७. मक्खन निकाला हुआ मट्ठा पीने के लिए देना चाहिए।

८ अधिक जागना, अधिक मैथुन, अधिक व्यायाम, पैदल चलना, काम में लगे रहना और अपने कर्तव्य के प्रति सजग, सावधान तथा चिन्तनशील रहना स्थूलता को नष्ट करता है।

९ तीक्ष्णाग्नि के शमनार्थ गुरु आहार आदि का प्रयोग करे।

१० मूत्रल औषधियो और गुग्गुलु का प्रयोग करना चाहिए।

११ उपवास, कर्षण और सशोधन उपचार करना चाहिए।

चिकित्सा

१ शुद्ध शिलाजीत १ ग्राम/२ मात्रा सवेरे-शाम अग्निमन्थ के क्वाथ से देवे।

२ अमृतागुग्गुलु १ ग्राम/२ मात्रा सवेरे-शाम त्रिफला के क्वाथ से दे।

३. त्र्यूषणाद्य लौह १ ग्राम/२ मात्रा सवेरे-शाम मधु से देना चाहिए।

४ सवेरे-शाम आरोग्यवर्धिनी वटी १ ग्राम/२ मात्रा महामञ्जिष्ठादि क्वाथ से दे।

५ विडङ्गादि लौह २५० मि० ग्रा०, की १ मात्रा, दिन में २ वार गोमूत्र के साथ दे।

६ तीक्ष्णलौह भस्म २५० मि० ग्रा०, त्रिकटु चूर्ण २ ग्राम, विडङ्गचूर्ण १ ग्राम/१ मात्रा सवेरे-शाम मधु से दे।

७ वडवाग्नि लौह २५० मि० ग्रा०/२ मात्रा, सवेरे-शाम मधु से दे।

८. **चव्याद्य सक्तुक**—चव्य, जीरा, सोठ, मरिच, पीपर, घी में भुनी हीग, सोचर नमक, चित्रक की छाल, इन्हे समभाग लेकर महीन चूर्ण करे। यह चूर्ण ३ ग्राम तथा जौ का सत्तू ५० ग्राम लेकर दही के पानी मे घोलकर सवेरे-शाम सेवन करावे। अथवा—

९ **व्योषाद्य सक्तुक**—जौ का सत्तू २०० ग्राम तथा व्योषाद्य चूर्ण, तिल-तैल, घृत और मधु ३-३ ग्राम लेकर एक मे मिलाकर पानी मे घोलकर दिन में एक बार पिलाना चाहिए।

१०. **स्वेदहर एवं दुर्गन्धनाशक लेप**—हरीतकी फल का वक्कल, लोध, नीम की पत्ती, आम की गीली छाल और अनार का छिलका, इन्हे समभाग लेकर महीन कूटकर रख ले। इसमे से २०-२५ ग्राम लेकर पानी के साथ पीसकर शरीर मे लेप करना चाहिए।

११ इमली की पत्ती या बेल की पत्ती पीसकर उबटन लगाना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ सवेरे-शाम—

आरोग्यवर्धिनी वटी	$\frac{1}{2}$ ग्राम
महामञ्जिष्ठादि क्वाथ से।	१ मात्रा

२ ९ बजे व २ बजे—

नवक गुग्गुलु	२ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ वार—

लोहासव	५०० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४ रात मे सोते समय—

त्रिफला चूर्ण	६ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

पथ्य

पुराना रूक्ष अन्न—जौ, चना, सावाँ, कोदो, टागुन, तीना, कुलथी, मूग, मसूर, अरहर, मधु, मट्ठा, आसव, अरिष्ट, सुरा, सरसो का तेल, बैंगन, पत्रशाक, परवर तथा कटु-तिक्त-कषाय रस वाले द्रव्य और रूक्ष पदार्थों का सेवन पथ्य है।

विहार—अधिक जागरण, उपवास, चिन्तन-मनन, सायकिल चलाना, घोडे की सवारी, धूप मे चलना या काम करना, टहलना-घूमना, उवटन लगाना, शरीर की मालिश करना, स्नान करना और वमन-विरेचन आदि शोधन-कर्म पथ्य है। गरम जल पीना और गरम जल से स्नान पथ्य है।

अपथ्य

शीतल जल से स्नान, नया चावल-गेहूँ, सर्वदा गद्दी-तकिये से सहारे बैठना-सोना, दूध, मलाई, रवडी और मिठाई अधिक खाना, अधिक स्निग्ध और पौष्टिक आहार, मछली-मास का सेवन और आरामतलब होना अपथ्य है।

कार्श्य

परिचय—जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर और ग्रीवा सूखे हो, जिसके शरीर में धमनियो का जाल दिखलाई देता हो, जिसे देखने से ऐसा प्रतीत हो कि उसके शरीर में मात्र त्वचा और अस्थियाँ ही शेष है और जिसकी सन्धियाँ मोटी हो, उसे **कार्श्यरोग** जानना चाहिए।

निदान

रूक्ष अन्नपान का सेवन, उपवास, अल्पमात्रा में नपा-तुला भोजन करना, अपनी शक्ति से अधिक शारीरिक परिश्रम करना और मानसिक कार्य करना, शोक से ग्रस्त रहना, मल-मूत्र के तथा निद्रा आदि के वेगो को रोकना, रूक्ष, उष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्यो का उबटन लगाना, रूक्ष द्रव्यो से कल्पित स्नान करना, अधिक बार या बहुत देर तक स्नान करना, वातिक प्रकृति का होना। वृद्धावस्था होना, बहुत दिनो

तक रुग्ण रहना, क्रोध करना, वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्मों का अतियोग होना, अधिक मैथुन करना, अधिक अध्ययन, अधिक भय और अधिक चिन्ता करना, भूख और प्यास को अधिक सहना, कषाय रस के पदार्थों का अधिक प्रयोग करना, वातवर्धक आहार करना, अधिक दौडना या अधिक पैदल चलना आदि कारणो से मनुष्य का शरीर कार्श्यरोग से पीडित हो जाता है ।

लक्षण

व्यायाम, परिश्रम, अधिक आहार, पिपासा, रोगाक्रमण, औषधबल, अतिशैत्य, अतिउष्णता और अतिमैथुन कर्म के प्रति असहिष्णुता होना, मासल स्थानो (नितम्ब-उदर-वक्ष-ग्रीवा आदि) का शुष्क दीखना, शरीर की अस्थियो और धमनियो का दीखना और सन्धियो का स्थूल दीखना, ये सब अतिकृश व्यक्ति के लक्षण हैं । कृश व्यक्ति को प्राय वातरोग होता है । वह अल्पप्राण होता है ।

उपद्रव और असाध्यता

श्वास, कास, शोष, प्लीहोदर, अग्निमान्द्य, गुल्म और रक्तपित्त के होने की सभावना रहती है और कदाचित् इनमे किसी रोग के गम्भीर रूप धारण करने से रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

चिकित्सा-सूत्र

आहार—नया अन्न, नवनिर्मित मद्य, ग्राम्य-आनूप तथा जलेचर जीवो का कटु आदि द्रव्यो से सस्कारित मास, घी-दूध-दही, ईंख का रस अगहनी चावल, गेहूँ, गुड-चीनी से बने पदार्थ, स्निग्ध एव मधुर द्रव्यो के प्रयोग से शरीर तुष्ट और स्थूल होता है ।

विहार—सुखप्रद निद्रा, सुखद शय्या और विस्तर, प्रसन्न रहना, मानसिक विश्राम, चिन्ता-मैथुन और व्यायाम का त्याग, प्रिय वस्तु और प्रिय दृश्य देखना, सदा तैल-मालिश का अभ्यास, स्निग्ध उबटन, स्नान, सुगन्ध धारण (इत्र लगाना) सुगन्धित पुष्पमाला धारण, श्वेत वस्त्र धारण, यथासमय दोष का शमन और उनका निर्हरण करना, रसायन एव वाजीकरण योगो का सेवन करना—ये सभी उपचार कृश व्यक्ति को भी स्थूल तथा बलशाली बना देते हैं ।

चिकित्सा

१ **बृंहणीय महाकषाय**—१ क्षीरविदारी, २ दुग्धिका, ३ असगन्ध, ४. काकोली, ५ क्षीरकाकोली, ६ श्वेतबला—ककहिया, ७ पीतबला, ८ वनकपास, ९ विदारीकन्द और १० विधारा । चरकाचार्य ने इन दस द्रव्यो को बृहणीय कहा है । ये बृहण द्रव्य शरीर मे रसादि धातुओ को बढाकर स्थूलता उत्पन्न करते हैं ।

२. बृहणीय द्रव्यो मे मास को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है । मास पार्थिव द्रव्य

है और उसमे जलतत्त्व का आधिक्य होता है, अत. वह बृहण होता है—'बृहण पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्' (सु० सू० ४१)।

३ **बृहण द्रव्य**—गुरु, मृदु, स्निग्ध, सान्द्र, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर और श्लक्षण गुण तथा शीतवीर्य द्रव्य प्राय. बृहण होते है।

४ **प्रमुख बृहण द्रव्य**—क्षीरकाकोली, असगन्ध, विदारीकन्द, शतावर, वरियार-वीज, अतिवला, नागवला, अष्टवर्ग की औषधे, यष्टीमधु, जीवन्ती और मुद्गपर्णी, इनका चूर्ण या पाक के रूप मे प्रयोग करना बृहण होता है।

५ नित्य मासरस का सेवन, नित्य दूध-घी का सेवन, स्निग्ध फल—वादाम, पिस्ता, चिरौंजी, काजू, मुनक्का, किसमिश आदि का सेवन बृहण होता है।

६ नित्य तैलाभ्यग अर्थात् लाक्षादि तैल या महानारायण तैल या महामाष तैल आदि से नियमित रूप से शरीर की मालिश करने से शरीर का सवर्धन होता है।

७ **बृहण वस्तियाँ**—

'बृहणद्रव्यनिष्क्वाथा कल्कैर्मधुरकै कृता।
सर्पिर्मांसरसोपेता वस्तयो बृहणा स्मृता'॥ सु० चि० ३८।८३

विदारिगन्धा आदि पूर्वोक्त बृहण द्रव्यो का क्वाथ ४०० मि० ली०, काकोली आदि मधुर द्रव्यो का कल्क १०० ग्राम, मधु २०० ग्राम, घृत ३०० मि० ग्रा०, सैन्धवलवण ५० ग्राम एव मासरस १०० ग्राम इस प्रकार की वस्ति बृहण होती है।

८ **अश्वगन्धा क्षीरपाक**—असगन्ध के ६ ग्राम चूर्ण का क्षीरपाक-विधि से पाक कर प्रयोग कराना बृहण है।

९. अश्वगन्धा के क्वाथ एव कल्क के सिद्ध तैल का अभ्यग बृहण है।

१० **बृहणकारक विहार**—दिवाशयन, ब्रह्मचर्यपालन, अव्यायाम, स्निग्ध उबटन, गन्धमाल्यधारण, चिन्ता का सर्वथा त्याग एव निश्चित रूप से सतर्पण करने से शरीर पुष्ट और स्थूल होता है।

व्यवस्थापत्र

१ सवेरे-शाम—

अश्वगन्धादि चूर्ण	६ ग्राम
च्यवनप्राशावलेह	२० ग्राम
प्रवालभस्म	५०० मि० ग्रा०
सुखोष्ण दुग्ध से।	२ मात्रा

२ भोजन के पूर्व—

यवानीषाडव चूर्ण	८ ग्राम
विना अनुपान।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर—

द्राक्षासव	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

४ अभ्यङ्ग २ बार—

चन्दनादि तैल की सर्वाङ्ग मे मालिश करना ।

५ रात मे सोते समय—

चन्द्रप्रभा वटी	१ ग्राम
गोदुग्ध से ।	१ मात्रा

पथ्य

चावल, गेहूँ, उडद, दूध, मलाई, मछली-मास, मधुर रस वाले पदार्थ, स्निग्ध पदार्थ—मक्खन, घी, पूडी-हलवा आदि पौष्टिक एव बलवर्धक आहार पथ्य है ।

विहार—आराम से सोना-बैठना, श्रमजनक कार्य न करना, भोजन के बाद जल पीना, ज्यादा न बोलना, इत्र, माला और सुगन्ध धारण करना, इच्छानुसार खाना-पीना, नित्य तैलाभ्यङ्ग और शीतजल का स्नान करना पथ्य है ।

अपथ्य

जौ, चना, मूग, मसूर, कटु-तिक्त-कषायरसवाले द्रव्य, सहिजन आदि तथा लघन, धूप मे रहना, सशोधन कर्म और परिश्रम करना अपथ्य है ।

कुपोषणजन्य विकार और उनके कारण

१ **आहार-मात्रा की कमी**[1]—किसी व्यक्ति के लिए अपेक्षित मात्रा से न्यून मात्रा मे आहार का ग्रहण करना उस व्यक्ति का उचित पोषण नही कर पाता है, जिससे कुपोषणजन्य रोग होते हैं। यदि आहार की मात्रा अल्पतम होती है, तो वह व्यक्ति भुखमरी का शिकार हो जाता है ।

२ **आहार मे गुणात्मक न्यूनता**[2]—शरीर मे पाये जाने वाले पदार्थ—प्रोटीन, वसा, कार्बोज, खनिज पदार्थ, जल और विटामिन्स—ये सभी जब खाद्य वस्तुओ मे न्यून होते है तो उस पोषणतत्त्वहीन आहार के ग्रहण से कुपोषणजन्य रिकेट्स, स्कर्वी, बेरीबेरी और पेलाग्रा आदि रोग होते है ।

३ **आहार की अधिकता**[3]—जब कोई व्यक्ति अधिक मात्रा मे भोजन करने लग जाता है, तो उसे स्थौल्य रोग हो जाता है ।

पोषकतत्त्व की अधिकता[4]—किसी एक ही प्रकार के पोषक आहार-द्रव्य के

1 Quantitative dietary deficiency
2 Qualitative dietary deficiency
3 Quantitative over nutrition
4 Qualitative over nutrition

निरन्तर सेवन करने से परमजीवत्युत्कर्ष (Hyper vitaminosis) और अयस् उत्कर्ष (Siderosis) होता है ।

५ **आहार की प्राकृतिक विषाक्तता**[1]—कुछ आहार द्रव्य अल्पांश मे विषैले होते हैं । जब कोई व्यक्ति या समाज लगातार ऐसे आहार द्रव्यो का प्रयोग करता है, तो वह व्यक्ति या समाज तज्जन्य दुष्प्रभाव से आक्रान्त होता है, जैसे—कोदो का चावल, खेसारी की दाल आदि ।

६ **सामाजिक और आर्थिक कारण**[2]—जिन देशो मे अधिक मात्रा मे अन्न खरीदे जाते है, वहाँ पर गरीबी, ईर्ष्या, अज्ञानता और रहने के घरो की अव्यवस्था के कारण वृद्ध पुरुष एकाकी व्यक्ति और बच्चे अल्पपोषण-जन्य विकार से ग्रस्त होते हैं ।

७ **वैज्ञानिक कारण**—पर्याप्त आय का स्रोत, सुसज्जित आवास और आहार विधि-विधान की अभिज्ञता होने के बावजूद कतिपय व्यक्ति कुपोषणजनित रोगो से आक्रान्त हो जाते हैं, जिसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(क) **दोष युक्त आहार ग्रहण**[3]—

१ अग्निमान्द्य, आमाशयिक कैन्सर, अरुचि (Anorexia nervosa) ।

२ किसी कारणवश लगातार वमन होते रहना ।

३ एक ही प्रकार का भोजन करना अनिवार्य रूप से शाकाहारी होना ।

४ शराब पीना (जो कैलोरी का उत्पादन तो करता है, किन्तु वास्तविक पोषण नही करता । पुरानी शराब अधिक अल्पपोषण है ।

५ असन्तुलित भोजन पाचनतन्त्र के रोग उत्पन्न करता है एवं स्कार्बिक एसिड का अभाव हो जाता है ।

६ सर्जिकल ऑपरेशन के पश्चात् लगातार ग्लूकोज का इन्ट्रावीनस इन्जेक्शन देने से **विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स** की भारी कमी हो जाती है ।

(ख) **पाचन-प्रक्रिया की गड़बडी और आहाररस का आत्मसात न होना**[4]—

१ अल्पाम्लता (Achlorhydria) होना, जिससे लौहांश की कमी के कारण रक्ताल्पता (Anaemia) होती है ।

२ वसास्रावाधिक्य (Steatorrhoea) के कारण आहार रस का आत्मसात् न होना ।

३ भुखमरी के शिकार होने के कारण अखाद्य पदार्थ का खाना, जिसे आँत बर्दाश्त नही करती और उसका ठीक से पाचन नही होता ।

---

1 Effects of natural toxins in foods
2 Social and economic causes of nutritional disorders
3 Defective intake of food.
4 Defective digestion and absorption

४ एण्टीबायटिक्स के दीर्घकालिक प्रयोग से विटामिन्स का सन्तुलन या समन्वयन बाधित हो जाता है।

(ग) दोषपूर्ण उपयोगिता[1]—

१ यकृत् की अपक्रान्ति (Cirrhosis af the liver) की स्थिति मे खाये हुए पोषकतत्त्व की उपयोगिता नही हो पाती। जैसे—प्रोटीन और विटामिन 'के'।

२ ईर्ष्या, भय, क्रोध, कपट, लोभ, द्वेष आदि मनोविकारो के होने पर खाया हुआ आहार शरीर-पोषक नही होता।

३ वृक्क की निष्क्रियता—इस स्थिति मे विटामिन-डी का शरीरोपयोगी सवर्तन नही हो पाता।

४ औषध प्रतिक्रिया—जैसे आक्षेपनिवारक औषधे फालेट (Folat) और विटामिन-डी की प्रतिद्वन्दी या विरोधी होती है।

५ जन्मजात दोष—मेटाबोलिज्म (सवर्तन) का जन्मजात दोष पोषण मे बाधा डालता है। जैसे—हार्टनप (Hartnup) रोग अल्प या सामान्य आहार मिलने की स्थिति मे पेलाग्रा रोग उत्पन्न करते है।

(घ) शरीर से पोषकतत्त्व का ह्रास—

१ वृक्क विकार की जटिलता मे मूत्र मे प्रोटीन का अपसरण होता है।

२ मधुमेह (Diabetes melitus) मे अनियन्त्रित शर्करा क्षरण की स्थिति मे अल्पपोषण होता है।

३ रक्तप्रदर मे अधिक रक्तस्राव होने से रक्ताल्पता होती है।

४ जीर्ण अतिसार मे पोटेशियम (Potassium) का ह्रास होता है।

(ङ) स्वल्पाहार और भुखमरी—

भुखमरी एक अल्पाहारजनित स्थिति है। अधिक भयकर अल्पाहारज भुखमरी का रोगी अपना ७५% वजन घटा देता है।

स्वल्पाहार और भुखमरी के कारण—

१. अकाल पडने पर खाद्यान्न का पर्याप्त न मिलना।

२ पाचन-सस्थान का गम्भीर रोग, जिसके कारण चयापचय का कार्य बाधित हो जाता है।

३ शरीर मे विपाक्तता का प्रभाव होने से मेटाबोलिज्म का अस्त-व्यस्त होना, अरुचि होना, पित्ताशय या मूत्राशय की रुग्णता, गम्भीर दीर्घकालिक रोग की उपस्थिति जिससे मासपेशी एव वसा की क्षीणता होती है। मल-मूत्र का उत्सर्ग ठीक से न होना आदि कारण ऐसे होते है, जिसमे शरीर के पोषण की प्रक्रिया यथावत् नही हो पाती है और व्यक्ति या समाज पोपणहीनता मे आक्रान्त हो जाता है।

---

1 Defective utilization

कतिपय कुपोषणजन्य रोग

रिकेट्स

(Rickets)

निदान

यह कैलसियम और फॉस्फोरस के चयापचय से सम्बद्ध रोग है, जिसमे कैल्सियम और फॉस्फोरस का आत्मीकरण ठीक से नही होता। ऐसे शिशु जो जीवन के प्रथम वर्ष मे होते है और जिन्हे विटामिन-डी की समुचित मात्रा नही उपलब्ध होती, वे इससे आक्रान्त होते है। मानवीय अथवा पशु के दूध (जो शिशु को दिये जाते है) मे विटामिन-डी कम मात्रा मे होने से तथा किसी पूरक आहार के साथ विटामिन डी आपूर्ति न होने से यह रोग मुख्यत शिशुओ को हो जाता है।

सामाजिक, सास्कृतिक या परम्परागत रूढियो से ग्रस्त होने के कारण मातायें शिशु को वस्त्र मे लपेटकर आच्छादित रखती है और उन्हे सूर्य की किरण नही लगने देती, जिससे शिशु, सूर्य के 'अल्ट्रावायोलेट रेज' (Ultraviolet rays) के त्वचा पर असर पडने से बनने वाले विटामिन-डी से वचित हो जाता है। अत: शिशु को प्रथमवर्ष मे इस रोग के होने की अधिक सभावना होती है।

जब शिशु दो वर्ष की आयु का होता है, तो वह जमीन पर रेगने लगता है और उसे यथेच्छ सूर्य-किरण उपलब्ध होने से स्वाभाविक रूप से विटामिन-डी जनित पोषण उपलब्ध होने लगता है।

शरीर की वर्धनवेला मे अस्थियो और दाँतो को मजबूत बनाने के लिए कैलसियम और फॉस्फोरस का शरीर मे यथोचित रूप मे होना आवश्यक है। इसके कम होने से शिशुओ को रिकेट्स (Rickets) और बडो को (विशेषकर स्त्रियो को) ऑस्टियोमलेसिया (Osteomalacia) रोग हो जाते है। दोनो रोगो मे अस्थियाँ कोमल हो जाती है।

लक्षण

रिकेट्स-ग्रस्त बालक पर्याप्त कैलोरी मिलने से देखने मे अच्छे-खासे पोषित प्रतीत होते है, किन्तु वे बेचैन, चिडचिडे, जिद्दी और पीले होते है। उनकी अस्थियाँ कोमल और मासपेशियाँ ढीली-ढाली होती हैं। बालक ठीक समय से चलना-फिरना नही सीख पाता है। आमतौर से शिर पर पसीना अधिक आता है। नीद कम आती है। दाँत देर से निकलते है और पैरो की अस्थियाँ शरीर का बोझ न सँभाल सकने के कारण टेढी हो जाती हैं। बालक का पेट बडा होता है। उसे प्राय श्वासरोग का सक्रमण होता है। उसका पाचन-संस्थान गडबड रहता है। वह यथा समय बैठने, उठने, खडा होने और चलने मे समर्थ नही हो पाता है। अस्थियो मे परिवर्तन होना रिकेट्स की मुख्य पहचान है। उसकी अस्थियाँ देर से जुडती हैं। भारतवर्ष मे सूर्य के प्रकाश की कमी न होने से यह रोग कम होता है।

चिकित्सा

रिकेट्स की चिकित्सा मे दो महत्त्वपूर्ण बातो पर ध्यान देना चाहिए—

१ विटामिन-डी[1] की आपूर्ति करना और २ पर्याप्त कैल्सियम देना।

विटामिन-डी की आपूर्ति के साधनो मे पर्याप्त दूध, कार्ड लिवर आयल, हैलिवट लिवर आयल, सूर्य की अल्ट्रावायोलेट किरणो (Ultraviolet rays) का सपर्क, अन्य विटामिन-डी युक्त पदार्थ, सूखे दूध मे विटामिन-डी की आपूर्ति, अन्य खाद्य पदार्थों मे विटामिन का मिश्रण आदि सभावित है।

शिथिल सन्धिवाले रिकेट्स ग्रस्त शिशुओ और बच्चो को विटामिन-डी देने के साथ-साथ पर्याप्त मात्रा मे कैल्सियम देने की भी आवश्यकता होती है! कैल्सियम का सर्वोत्तम स्रोत दुग्ध है। रिकेट्स के रोगी बच्चे को प्रतिदिन अल्पतम आधा लीटर दूध मिलना चाहिए। गभीर रोगी को कैल्सियम की आपूर्ति के लिए कैल्सियम की टेबलेट्स देनी चाहिए। जैसे—कैल्सियम ग्लूकोनेट या कैल्सियम ग्लूकोनेट इफरवेसेण्ट का प्रयोग। इसे १ या २ गोली की मात्रा मे एक गिलास जल मे घोलकर दिन मे ३ बार देना चाहिए।

विटामिन-डी का तथा कैल्सियम का प्रयोग करना ही रिकेट्स की संपूर्ण चिकित्सा नही है, अपितु बच्चा जिस वातावरण मे पल रहा है, उस वातावरण का स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से सशोधन और स्वच्छता रखनी चाहिए। गन्दी बस्तियो की सफाई, जल के जमाव को रोकना, कूडे-कतवार का दूरीकरण, धुआँ कम करना आदि का ध्यान रखकर मौलिक रूप से वातावरण के प्रदूषण को दूर करने की भरपूर चेष्टा करनी चाहिए।

माताओ को इस बात की तहजीब देनी चाहिए कि बालक के शरीर को अनावश्यक कपडो मे न कसा जाय, अपितु बालक, जितना सभव हो, खुले वदन सूर्य के प्रकाश मे खेले। जहाँ बच्चो को अन्य साधनो से विटामिन की आपूर्ति न की जाती हो, वहाँ सूर्य की किरणो का खुला प्रयोग अवश्यमेव करना चाहिए।

---

1 A therapeutic dose of vitamin-D varies from 25 to 125 mg (1,000–5,000 I U) daily, depending on the severity of the disease and age of the child In contrast, the prophylactic dose is 10 mg or less daily depending on the sunlight The B P preparation of cod-liver oil contains approximately 10 gm per 5 ml plastic spoonful Children can be given halibut liver oil in a very small dose (1 ml) since it contains 30 times the vitamin-D concentration of cod-liver oil Many proprietary preparations are available which contain standard amounts of vitamin A and D, dispenced as capsules or palatable syrups

—Principles and Practice of Medicine 12th edition p 120–121

ऑस्टियोमेलेसिया

(Osteomalacia)

निदान

यह विटामिन-डी की कमी और अशत कैलसियम की कमी से होने वाला रोग है, जिसमे अस्थियो मे कोमलता होती है। विटामिन-डी और कैलसियम की कमी होने से अस्थियो का आधार दृढ नही हो पाता है तथा कैलसियम फॉस्फेट का अनुपात सही न होने से अस्थियो का स्वरूप समुचित नही वनता है।

यह रोग रिकेट्स का परिवर्धित रूप है। प्राच्य देशो मे पर्दा के भीतर रहने वाली स्त्रियो को यह विशेष रूप मे होता है। यह अस्थि के विकृत रूप और कष्ट का जनक रोग है। जो औरतें गर्भधारण की आयुवाली होती है, गरीव होती है, जिन्हे दूध नही मिलता, जो वन्द घरो मे रहती हैं तथा सूर्य की रोशनी नही देख पाती और जिनमे वार-वार गर्भधारण करने के कारण कैलसियम की कमी होती है, उनमे प्राय यह रोग प्रथम गर्भावस्था से ही सक्रान्त हो जाता है। प्रसवोत्तर रोग का ह्रास होता है, परन्तु पुन. गर्भधारणावस्था मे रोग के लक्षण लौट आते है।

अपस्मार का रोगी जव अधिक दिनो तक आक्षेप-निवारक औषध का सेवन करता है, तो वह आस्टियोमैलेसिया-ग्रस्त हो जाता है।

लक्षण

रुग्ण व्यक्ति के अस्थिकङ्काल मे वेदना होती है, जो कभी बढ जाती है। छाती की पर्शुकाएँ, त्रिकास्थि, पृष्ठवश का निचला भाग, पेल्विस (वस्तिगुहा की अस्थि) और पैर वार-वार रोग से प्रभावित होते हे। दवाव पडने पर हड्डी मे कोमलता होती है, मासपेशियाँ मे कमजोरी होती है। रोगी सीढी चढने मे या कुछ उठाने मे कठिनाई का अनुभव करता हे।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा रिकेट्स के समान करनी चाहिए।

स्कर्वी

(Scurvy)

निदान

जो व्यक्ति अधिक दिनो तक हरी सब्जी, टमाटर, नीबू और नारङ्गी आदि ताजे फल नही खाते और ऐसा आहार करते है, जिसमे एस्कार्बिक एसिड (Ascorbic acid) की कमी होती है, उन्हे स्कर्वी रोग होता है। विटामिन-ए, लौह, फोलिक एसिड (Folic acid) और प्रोटीन की कमी से स्कर्वी रोग होता है।

भारतवर्ष मे जब सूखा पडता है और मानसूनी वर्षा नही होती, तो इस रोग के होने की सभावना होती है। एस्कार्बिक एसिड रोग के लक्षणो को कम कर देता है, किन्तु रोग को निर्मूल नही कर पाता।

लक्षण

मसूडे सूज जाते है और उनसे खून निकलने लगता है। मसूडे पिलपिले हो जाते है तथा दाँतो के बीच मे पपडी पड जाती है। दाँत ढीले हो जाते है और गभीर रोग मे गिर जाते है। शरीर मे अनेक स्थानो मे रक्त के चकत्ते पड जाते है।

बच्चो की स्कर्वी मे रक्ताल्पता, अगो मे वेदना और जोडो मे शोथ होता है। जब तक दाँत नही निकल जाते, तब तक वे विकसित नही होते।

चिकित्सा

इस रोग मे तात्कालिक मृत्यु होने की आशङ्का होती है, अत रोगी की प्राणरक्षा के लिए कृत्रिम एस्कार्बिक एसिड का तुरन्त ही पर्याप्त मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए। अतिशीघ्र ही शरीर को एस्कार्बिक एसिड से भरपूर कर दे।

रोगी को सब्जी पकाकर खिलावे और ताजे फल देवे। यदि रोगी को रक्ताल्पता हो, तो उसे लौहभस्म मिश्रित औषध देवे। समुचित चिकित्सा से खतरा टल जाता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है।

बेरीबेरी

(Beriberi)

निदान

यह एक कुपोषणजन्य रोग है, जो पहले दक्षिण और पूर्वी एशिया मे बडे पैमाने मे फैल गया था। यह शब्द (बेरीबेरी) सिंघली भाषा का है, जिसका अर्थ है— असमर्थता (I can not)। तात्पर्य यह कि रोगी इतना अशक्त होता है कि वह वह कुछ भी करने मे असमर्थ होता है। पूर्वकाल मे यह ऐसे चावल के प्रयोग से होता रहा है, जिस चावल को कूटकर उसका छिलका तथा चावल के लाल कण को भी हटा दिया जाता है और चावल एकदम श्वेत चमकदार बना दिया जाता है। ऐसे आहार मे कैलोरी का अभाव होता है।

अनभ्यस्त अधिक शारीरिक श्रम, गर्भावस्था और बच्चे को दूध पिलाने से भी यह रोग होता है।

लक्षण

यह आर्द्र और शुष्क भेद से दो प्रकार का होता है। इसके निम्नाङ्कित लक्षण दोनो मे एक जैसे होते है। इनका आक्रमण कपटपूर्ण होता है। कभी-कभी यह शीघ्रतापूर्वक शरीर को असह्य थकावट के साथ आक्रान्त करता है अथवा ज्वर के साथ हो जाता है। इसमे अरुचि, शरीर मे पीडा, पैरो मे भारीपन और कमजोरी होती है। पैरो मे अथवा चेहरे पर हल्का शोथ होता है। रोगी के हृदयाग्र-

भाग मे वेदना होती है और हृदय की गति अधिक होती है। नाडी भारी होती है और उसकी गति तीव्र होती है। पैरो मे शून्यता होती है। आक्रान्त भाग मे रोग के लक्षण कुछ सुधार के साथ महीनो या वर्षो तक बने रह सकते हैं। वह रोगी उसी हालत मे अपनी जीविका चलाता रहता है, किन्तु उसकी शारीरिक क्षमता अल्प होती है। यह बीमारी कभी भी गभीर रूप से पुनराक्रमण कर सकती है।

आर्द्र बेरीबेरी मे शोथ होना विशेष लक्षण है, जो पैरो के अतिरिक्त चेहरे पर, जाँघ पर और जलीय स्थानो मे उभर आता है। हृदय की गति अधिक होती है और श्वास लेने मे कठिनाई होती है। चलने मे पैरो मे दर्द होता है, जिसका कारण पैरो मे लैक्टिक एसिड का जमा होना है। ग्रीवा की शिरायें फैली होती है, जिनमे धडकन स्पष्ट होती है। हृदय बडा हो जाता है और गति की गणना के समय नाडी मे भारीपन महसूस होता है। त्वचा शीत होती है।

शुष्क बेरीबेरी मे विशेष प्रकार का शोथ—पालीन्यूराइटिस (Polyneuritis) होता हैं। मासपेशियाँ ढीली हो जाती है। चलना-फिरना मुश्किल पडता है। पुराने रोगी छडी के सहारे चल पाते हे या गभीर स्थिति मे चारपाई पकड लेते है। आहार मे अपेक्षित सुधार करने पर रोगी की हालत सुधर सकती है। इसके रोगी अचानक ही शोथग्रस्त हो जाते है, जिसका कारण अनुपयुक्त आहार होता है, जबकि रोगी के आहार मे थियामीन, प्रोटीन और कैलोरी की आपूर्ति नही हो पाती है।

चिकित्सा

१ मशीन द्वारा कूटने के वाद साफकर चमकाये हुए चावल के खाने का सर्वथा निषेध करे।

२ रोग का निदान होने के तुरन्त बाद औषध-प्रयोग शुरू करे, क्योकि इसमे तात्कालिक हृदयगत्यवरोध होने का भय रहता है।

३ रोगी को पूर्णतया विश्राम की मुद्रा मे रखना चाहिए।

४ मासपेशी मे ५० मिग्रा० थियामीन का इञ्जेक्शन देना चाहिए और यह प्रक्रिया लगातार तीन दिन तक चलाये।

५ तत्पश्चात् प्रतिदिन ३ बार १० मिग्रा० की मात्रा मे मुख से देते रहे जब तक कि आरोग्य-लाभ न हो जावे।

६ थियामीन का बेरीबेरी पर अतिशीघ्र प्रभाव होता है, जिससे कुछ ही घण्टो मे इस रोग के कष्टकर लक्षण शान्त हो जाते है।

पेलाग्रा
(Pellagra)
निदान

यह एक कुपोषणजन्य रोग है। यह उन गरीब किसानो को होता है, जो मक्का जैसे किसी एक ही आहार द्रव्य का प्रयोग करते हैं। ससार के उन देशो मे यह रोग होता है, जहाँ मक्का ही मुख्य भोजन है। यह राजस्थान, महाराष्ट्र और दक्षिण अफ्रीका मे होता है। यह दक्षिण यूरोप, लैटिन अमेरिका, एशिया और भारतवर्ष के कुछ प्रान्तो मे होता है।

यह रोग दीर्घकालीन मद्यसेवन से भी होता है, जिसमे वृक्कविकार हो जाता है। जिस आहार मे विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स की मात्रा अल्प होती है, वह भी पेलाग्राजनक होता है। ऐसे पुराने रोग, जिनमे पाचन-सस्थान की गडबडी से आहाररस का सात्मीकरण ठीक से नही हो पाता है, उनमे भी पेलाग्रा होता है।

लक्षण

इसमे रोगी का वजन घट जाता है और अल्पपोषणजनित लक्षणो का प्रादुर्भाव होता है। पेलाग्रा को तीन D's का रोग कहा जाता है। इन्हे—१ डर्मेटाइटिस, २ डायरिया और ३ डर्मेन्सिया कहते है।

१ **डर्मेटाइटिस** (Dermetitis)—त्वचाशोथ, त्वचाप्रदाह—सूर्य की रोशनी मे त्वचा पर चकत्ते प्रकट होते है एव त्वचा पर दाह होता है। आक्रान्त त्वचा सामान्य त्वचा से भिन्न दीखती है, जिसमे पहले कुछ लाली और हल्की सूजन होती है एव खुजली तथा जलन होती है। रोग बढने पर त्वचा मे फटन, विदीर्णता, स्राव और पपडी पडना आदि लक्षण होते है। पुराने रोग मे त्वचा मे खुरदुरापन, मोटापन, शुष्कता, परत बनना और भूरा रग होना ये लक्षण होते हैं।

२ **डायरिया** (Diarrohoea)—अतिसार—कोई आवश्यक नही, कि यह हो ही। किन्तु इसके होने पर भोजन मे अरुचि, वमनेच्छा, निगिरणकष्ट और अजीर्ण होता है। मुख का स्वाद खट्टा होता है।

आँतो मे शोथ होने से पाचनतन्त्र की अव्यवस्था होती है, जिससे शौच पतला होता है और उसमे रक्त और म्यूकस मिला होता है।

३ **डर्मेन्सिया** (Dermentia)—उन्माद, मनोभ्रश, बुद्धिविभ्रम—मृदु रोग मे—शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता चिन्ता, उत्साहहीनता, शिथिलता और मन क्षुब्ध एव असन्तुलित होता है। गम्भीर रोग मे—प्रलाप के साथ उन्माद के लक्षण होते है। चित्त अव्यवस्थित रहता है।

चिकित्सा

१ खाने के लिए ४ से ६ घण्टे के अन्तराल पर निकोटिनामाइड (Nicotinamide) की १०० मिग्रा० की मात्रा देनी चाहिए। इस औषध का नाटकीय प्रभाव होता है, जो २४ घण्टे मे दीखता है। त्वचा के चकत्ते गायब हो जाते हैं, जिह्वा पाण्डुरवर्ण और अल्प वेदनायुक्त होती है तथा अतिसार बन्द हो जाता है। प्राय रोगी की मानसिक स्थिति और व्यवहार मे भी अन्तर हो जाता है।

२ ज्ञातव्य है, कि प्रोटीन का कम प्रयोग और एमीनोएसिड ट्रिप्टोफैन का अभाव रोग को बढाता है। इसी प्रकार लौह तथा फालेट की कमी से रक्ताल्पता होती है। तीसरा कारण थियामीन या पाइरीडॉक्सिन (Pyridoxine) की कमी है, जिससे रोगी का वजन घट जाता है अत रोगी को निकोटिनामाइड देने के साथ ही उसके समुचित भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। विशेषकर पर्याप्त मात्रा मे प्रोटीन, विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स और लौह के योग देना चाहिए। फोलिक एसिड और विटामिन बी का प्रयोग आवश्यक है।

३ किसी भी प्रकार के मद्य का प्रयोग वर्जित है।

४ गम्भीर रोगो को बेड-रेस्ट दे और शान्त वातावरण मे रखे। खासकर जो मानसिक असन्तुलन से ग्रस्त हो, उनकी परिचर्या सावधानी से करे और पूर्ण विश्राम दे।

५ त्वचा के रोग और अतिसार की चिकित्सा रोग और रोगी की परिस्थिति के अनुसार करनी चाहिए।

कुपोषण की रोकथाम

(Prevention of Nutritional Deficiency)

(१) **प्रति व्यक्ति अन्न की खपत में वृद्धि**—अन्न का भरपूर उत्पादन किया जाना चाहिए और अन्नाभाव होने पर पर्याप्त मात्रा मे आयात किया जाय। इसके साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है, कि बहुसख्यक जनता काम मे लगी रहे, जिससे उनकी आय के विविध स्रोत उपलब्ध हो और उनमे अन्न खरीद कर खाने की क्षमता बनी रहे।

(२) **सन्तति-नियमन**—दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जनसख्या-वृद्धि को रोका जाय। चिकित्सक-समुदाय अन्नोत्पादन और आर्थिक विकास की अपेक्षा सन्तति-निरोध के कार्य मे अधिक उपयोगी भूमिका अदा कर सकता है।

(३) **पोषण सम्बन्धी प्रशिक्षण और आहार-समृद्धि**—यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है—(१) यह कि पोषण सम्बन्धी शिक्षा देना और (२) लोगो को स्वास्थ्यवर्धक समृद्ध आहार ग्रहण करने के लिए प्रेरित करना। इसके लिए यह आवश्यक है, कि अन्नोत्पादन बढाने पर अधिक ध्यान देकर कृषि को समुन्नत बनाया जाय और माताओ, शिशुओ, बच्चो तथा वयस्को मे समुचित रूप से आहार पदार्थों के वितरण किये जाने का प्रशिक्षण दिया जाय।

जहाँ विटामिन्स और खनिज पदार्थों की कमी हो, वहाँ समृद्ध आहार अवश्य देना चाहिए। आहार को समृद्ध (Enriched) बनाने के लिए विटामिन ए और डी का योग देना चाहिए—'Addition of A and D to margarine and iodization of salt are good examples of useful food enrichment'

(४) **स्वयसेवी दलो द्वारा स्वास्थ्य और चिकित्सा-कार्य**—बहुत से देश स्कूली बच्चो को पुष्टाहार देते हैं, जो मानवीय सवेदना का उत्तम उदाहरण है। सगर्भा स्त्रियो को लौह के योग और फालेट (Folate) देना चाहिए। युवावस्था की दहलीज पर पदविन्यास कर रहे बच्चो को विटामिन-डी की अपेक्षित रोगनाशक मात्रा देनी चाहिए। छोटे शिशुओ को धूप मे रखने का परामर्श देना चाहिए।

(५) **चिकित्सक का उत्तरदायित्व**—चिकित्सक भूतल का जीवनदाता है। उसे स्वास्थ्य-विज्ञानी और चिकित्सक इन दोनो की भूमिका उत्कृष्ट ढग से निभानी चाहिए, जिससे रोगो का प्रतिषेध और उपचार समुचित रूप मे हो सके। उसे वातावरण तथा खाद्यान्न एव पेयजल के प्रदूषण के निवारणार्थ सचेष्ट होकर जन-सेवको और प्रशासन को सावधान करते रहना चाहिए।

तृतीय अध्याय

प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रोग

प्रावेशिक—आधुनिक शारीर-शास्त्रियो ने एक समान कार्य का सम्पादन करने-वाले अनेक अवयवो को एक-एक वर्ग मे रखा है और इन वर्गों को **संस्थान या सिस्टम** (System) कहते है। ये सस्थान सख्या मे ९ हैं, जैसे—१ अस्थि-सस्थान, २. मास-सस्थान, ३ पचन-सस्थान, ४ रक्तानुधावन-सस्थान, ५ श्वसन-सस्थान, ६ विसर्ग-सस्थान, ७ अन्तर्ग्रन्थि सस्थान, ८ प्रजनन-सस्थान और ९ नाडी-सस्थान।

यहाँ अन्तर्ग्रन्थि-सस्थान का विवेचन प्रासङ्गिक है।

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान[1]

परिचय—इस सस्थान के अन्तर्गत चुल्लिका ग्रन्थि, उपचुल्लिका ग्रन्थि, थाइमस, पिट्युटरी बाडी, पाइनियल बाडी, अधिवृक्क, अग्न्याशय, बीजग्रन्थियाँ और प्लीहा आदि अवयवो का समावेश किया जाता है। इन ग्रथियो मे लालाग्रन्थि एव यकृत् आदि के समान उत्पादित रस का वहन करने के लिए स्रोत नही होते, अत इन्हे नि स्रोत या **प्रणाली विहीन ग्रन्थि**[2] भी कहते हे। ये ग्रन्थियाँ अपने स्रावो को सीधे रस या रक्त मे छोडती है। परिणामस्वरूप इनके स्राव (Hormones) रस-रक्त के साथ सञ्चरण करते हुए दूरवर्ती अवयवो और क्रियाओ को भी नियन्त्रित कर सकते है। कई ग्रन्थियो के एक से अधिक अन्त स्राव होते है।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कार्य

शरीर, मन, बुद्धि, पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व के लक्षण आदि का विकास और पोषण, अनेक प्रकार की जीवनोपयोगी स्थिर किंवा तत्कालोचित क्रियाओ का उद्दीपन या अवसादन आदि है। इनका समयोग स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। इन ग्रन्थियो के स्रावो का हीनयोग या अतियोग गभीर परिणाम लाता है।

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान और नाड़ी-संस्थान का सामञ्जस्य

ये दोनो ही सस्थान देश-काल-परिस्थिति के अनुसार शरीरावयवो को तत्-तत् कार्य प्रारम्भ करने या छोडने, अधिक तीव्र गति से अथवा मन्दगति से करने के आदेश देते है, जिसकी प्रक्रिया के स्वरूप मे भिन्नता है। अन्तर्ग्रन्थियाँ अपने रसो द्वारा उल्लिखित कार्य करती है, अत उन्हे **रासायनिक सन्देशवाहक** कहते है। और नाडीसस्थान अपने टेलीफोन के सूत्रो सदृश सूत्रो द्वारा यह कार्य करता है, अत उसे **टेलीफोनिक सन्देशवाहक** कहा जाता है।

---

1. Endocrine organs   2 Ductless glands

अपने-अपने अन्तःस्रावों की क्रिया से अन्तर्ग्रन्थियाँ स्वास्थ्य को स्थिर रखती है, शरीर की पौष्टिकता का नियन्त्रण करती हैं और नाड़ीसंस्थान को अपना कर्म करने में सहायता देती हैं। इनकी क्रिया कभी सहसा होती है (जैसे —रक्तवाहिनियों के अमुक समुदाय का सहसा सकोच) और कभी दीर्घकालिक होती है (जैसे— अस्थियों की मन्द किन्तु स्थिर पुष्टि) जो अनेक वर्ष पर्यन्त चलती रहती है। एवञ्च अन्तःस्रावों के प्रमाण की अल्पता या अधिकता के अनुसार क्रिया में मन्दता अथवा तीव्रता होती है।

चुल्लिकाग्रन्थि

(Thyroid Glands)

परिचय—यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि ग्रीवा में श्वासपथ (Trachea) के ऊर्ध्वभाग पर स्थित होती है। इसके दो शकु-सदृश खण्ड (Lobe) होते हैं। ये खण्ड एक सेतु से परस्पर मिले होते हैं। श्वासपथ की मध्यरेखा के दोनों ओर एक-एक खण्ड होता है। इसका भार लगभग ३० ग्राम होता है। यह ग्रन्थि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कुछ बड़ी होती है। जब स्त्री रजस्वला होती है या जब वह गर्भवती होती है, तब उसका परिमाण कुछ बढ़ जाया करता है। चुल्लिकाग्रन्थि हमारे स्वास्थ्य लिए एक परमावश्यक अवयव है। उसी के बढ़ जाने को घेघा रोग (Goitre) कहते हैं। इसका आकार कुछ देशी चूल्हे की तरह होता है। इसी कारण इसका नाम चुल्लिकाग्रन्थि रखा गया है।

चुल्लिकाग्रन्थि के कर्म

१ चुल्लिकाग्रन्थि का अन्तःस्राव थायरॉक्सिन (Thyroxine) कहलाता है। यह अन्तःस्राव रक्त में सीधा ही प्रविष्ट होता है और समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है। इसमें **आयोडीन** अधिक मात्रा में मिलता है। यह स्राव हृदय-फुप्फुस आदि की क्रियाओं में सहायता करता है। यह शरीर में ऊष्मा की मात्रा का नियन्त्रण करता है।

२ यह ग्रन्थि शरीर के प्रत्येक कोष के धातुपाक (Metabolism) की नियामक है। शरीर के प्रत्येक कोष तथा कोषों के समवाय-समूह से बने प्रत्येक अङ्ग की क्रिया के मूल दहन (अर्थात् उसके अन्तर्गत शक्त्युत्पादक द्रव्य का ओषजन के साथ सयोग) के परिणामस्वरूप कोषों में होनेवाली तापोत्पत्ति का नाम ही धातुपाक है।

३ धातुपाक के दर की नियामिका होने से यह ग्रन्थि शरीर की सर्वक्रियाओं को प्रभावित करती है।

४ चुल्लिकाग्रन्थि के अन्तःस्राव की समता से शरीर और मन दोनों का ही विकास होता है और मन्दता या वृद्धि से अनेक तरह के शारीरिक तथा मानसिक विकार होने की सभावना होती है।

५ चुल्लिकाग्रन्थि वसा के सवर्तन के लिए आवश्यक है। वसा के ओषजनी-

करण का इस ग्रन्थि से विशेष सम्बन्ध है। इस ग्रन्थि की मन्दक्रियता से व्यक्ति मोटा होता है।

६. चुल्लिकाग्रन्थि खटिक के सवर्त्तन के लिए भी आवश्यक है।

७ चुल्लिकाग्रन्थि यकृत को शर्कराजन से शर्करा बनाने मे सहायता देती है।

८ चुल्लिकाग्रन्थि शरीर मे निर्मित होते रहने वाले विषैले पदार्थों को नष्ट करती है।

९ चुल्लिकाग्रन्थि का शरीर की वृद्धि, मन और बुद्धि के विकास तथा जननेन्द्रियो की समुचित वृद्धि से भी सम्वन्ध है।

चुल्लिकाग्रन्थि के स्राव का हीनयोग

इस ग्रन्थि के हीनस्राव के लक्षणो को दो भागो मे बाँट सकते हैं—१ वच्चो मे होने वाले लक्षण और २ पूर्ण वय के मनुष्य मे दर्शनीय लक्षण।

१ **बच्चो की चुल्लिकाग्रन्थि** जब अविकसित या रोगाक्रान्त होती है, तो वच्चे की अस्थियाँ पुष्ट नही होती, हाथ-पैर छोटे होते हैं, दाँत देर से निकलते हैं, वच्चा समयानुसार खडा नही हो पाता, शरीर का वर्धन नही होता, वच्चा बौना रह जाता है, लिङ्ग (बीज-ग्रन्थि) का विकास मन्द होता है, त्वचा रूक्ष, शुष्क तथा बाल पतनशील और अल्प होते है। मासपेशियाँ निर्वल होती हैं। चेहरा पीला रहता है। आयु के साथ शरीर नही वढता है। उनकी बुद्धि का विकास नही होता तथा मानसिक विकास कुण्ठित हो जाता है, जिससे ऐसे वच्चे जड-मन्द बुद्धि या मूढ (Idiot, stupid) होते है। आँखे सूजी रहती है, नासावश चपटा हो जाता है, कन्धो पर मेद की मोटी तह बैठ जाती है, पेट फूल जाता है और नाभि उभर आती है।

बच्चों मे इस रोग की सभावना होते ही उन्हे **आयोडीन** आदि तथा अन्य समृद्ध आहार देकर स्वस्थ, पुष्ट शरीर वाला और बुद्धिसपन्न बनाने का प्रयास कर उनके जीवन को सार्थक बनाये। ऐसे वच्चो को यदि दूसरे प्राणियो की चुल्लिकाग्रन्थि का स्राव दिया जाये, तो उनमे चमत्कारपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगते है। उनके शरीर और मन का पुन विकास शुरू हो जाता है, और वे बुद्धिशाली बन जाते है।

२ पूर्ण वय के मनुष्यो मे भी चुल्लिकाग्रन्थि की क्रिया मन्द पड जाने पर मूढता आ जाती है, हाथ-पैर और गले मे बेडौल तरीके की सूजन हो जाती है। त्वचा रूक्ष हो जाती है, बाल झड जाते है और उसका स्वभाव आलसी हो जाता है। मानसिक अवसाद के कारण वे न किसी प्रसङ्ग मे निर्णय ले पाते हैं, न किन्ही प्रश्नो का यथासमय उत्तर दे पाते है, इस प्रकार वे मानसिक दृष्टि से पिछड जाते है।

ऐसे वयस्क जनो को चुल्लिकाग्रन्थि-सत्त्व का प्रयोग कराया जाय, तो वे पुन यथास्थिति मे हो जाते है। उनके बाल जम जाते हैं और शनै शनै उनका शारीरिक एव मानसिक धरातल सन्तुलित हो जाता है।

चुल्लिकाग्रन्थि के स्राव का अतियोग

जब चुल्लिकाग्रन्थि अधिक सक्रिय होती है, तो शरीर और मन की चेष्टायें बढ जाती हैं। हृदय की गति, जो सामान्यत. प्रति मिनट ७०–७५ रहती है, यह ९०, १००, १४० या १६० तक होने लगती है। अगुलियो की धमनियो मे भी फडकन आसानी से प्रतीत होने लगती है। आँखें आगे की ओर निकल आती हैं और पलकें आँखो को ठीक से नही ढँक पाती। ग्रन्थि का परिमाण बढ जाता है, हाथ काँपने लग जाते हैं, कमजोरी बढ जाती है और मन्द-मन्द ज्वर रहने लगता है। रोगी अधीर होता है, चिडचिडा हो जाता है। उसे पसीना अधिक होता है, त्वचा आर्द्र रहती है और रक्त मे शर्करा का प्रमाण सम से कुछ अधिक हो सकता है।

वहिर्नेत्रगलगण्ड—किसी-किसी मनुष्य को चुल्लिका के कार्याधिक्य के परिणाम-स्वरूप गलगण्ड के अतिरिक्त नेत्र-बुद्बुद के बाहर उभर जाने का रोग अर्थात् वहिर्नेत्रगलगण्ड हो जाता है। उस ग्रन्थि के प्रकोप से तापाधिक्य होने पर रोगी उष्ण ऋतु के कष्ट को नही सहन कर पाता और इसके विपरीत चुल्लिका की मन्दकर्मता की स्थिति मे रोगी को शीत के प्रति असहिष्णुता हो जाती है।

ज्ञातव्य है, कि चुल्लिकाग्रन्थि के अन्त.स्राव (थायराक्सिन—Thyroxin) का प्रधान द्रव्य आयोडीन है, जो टायरासीन नामक एमाइनो एसिड के साथ मिलकर इस अन्त स्राव को बनाता है। खाद्य पदार्थों मे जब आयोडीन की मात्रा कम होती है अथवा उचित मात्रा मे होने पर भी जब ग्रहणी मे उसका शोषण या धातुओ मे उपयोग सही ढग से नही हो पाता तब थायराक्सीन की मन्दता होकर शारीर-मानस विकार या गलगण्ड होता है।

पीने के पानी मे थोडा आयोडीन मिला देने से आहार मे आयोडीन का समयोग होकर, उसकी कमी से होनेवाले विकार ठीक हो जाते है। दूध मे, प्याज मे और गाजर मे आयोडीन की पर्याप्त मात्रा होती है, अत इनका प्रयोग भी लाभप्रद है।

चुल्लिकाग्रन्थि के स्राव का अतियोग (प्रकोप) होने पर ग्रन्थि का कुछ भाग शस्त्रकर्म से निकाल देने पर तज्जन्य विकार शान्त हो जाते हैं।

उपचुल्लिका-ग्रन्थि

(Parathyroid Gland)

परिचय—ये छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ ¼ इञ्च लम्बी होती है और चुल्लिका-ग्रन्थि के पार्श्विक खण्डो के पिछले किनारो से लगी रहती है। ये ग्रन्थियाँ दो दाईं ओर दो वाईं ओर लगी रहती हैं।

उपचुल्लिका के कर्म

इन ग्रन्थियो का कार्य रक्त तथा अन्य धातुओ के द्रवभाग मे कैलसियम के सवर्तन को ठीक रखना है। परिचुल्लिका का अन्त स्राव, कैलसियम या सुधा के सञ्चयस्थानो (अस्थि एव रक्त आदि द्रव धातु) मे सुधा के कणो की समता रखता

हुआ नाडी तथा मास धातु के कर्म के साम्य का नियमन करता है। जब उप-चुल्लिका का कार्य ठीक नही होता, तो व्यक्ति का आकार छोटा होता है। अस्थियाँ पतली और कमजोर होती है और शीघ्र टूट जाती है और टूटने पर शीघ्र जुटती नही है। ये ग्रन्थियाँ वसा के व्यय को कम करती है, जिससे शरीर मे वसा अधिक इकट्ठी होती है।

उपचुल्लिका के अन्तःस्राव का हीनयोग

उपचुल्लिका की मन्दता के कारण शरीर मे कैलसियम या सुधा के सवर्तत की कमी से नाडी तथा मास-सस्थान क्षुभित हो जाते है। इन ग्रन्थियो के विकार के कारण शरीर मे खटिक की कमी हो जाती है और शरीर मे उद्वेटन के वेग होते है। क्रमश ये वेग तीव्र होकर आक्षेप (कन्वल्सन्स—Convulsions) का रूप धारण कर लेते है। पेशियो मे स्तब्धता होने लगती है और सकोच होने लगता है। उपचुल्लिका-ग्रन्थि के अभाव अथवा अकर्मण्यता से हाथ और पैरो की मासपेशियो के सकोच तथा नाडियो और मासपेशियो की क्षुब्धावस्था को टिटेनस (Tetanus) के सदृश होने के कारण **टिटैनी** (Tetany) रोग कहते हैं। जिसमे ऐच्छिक पेशियो का दौरे के रूप मे सकोच होने लगता है। ये दौरे मासपेशियो से सम्बद्ध नाडियो पर जरा सा दबाव पडने पर उत्पन्न हो जाते है।

टिटैनी के लक्षण

यह रोग अकस्मात् पहले हाथो और पैरो मे होता है, फिर जघाओ मे चला जाता है। बाहु की समस्त मासपेशियाँ केवल पोरो को छोडकर मुड जाती है। अँगूठा हथेली की ओर प्रथम जोड पर मुडा रहता है और दूसरे जोड पर फैला रहता है। अगुलियाँ पहले जोड पर अन्दर को मुडती है और दूसरे एव तीसरे जोड पर सीधी रहती है। बाहु कलाई और कोहनी पर मुडी रहती है तथा छाती पर आती है। इसी प्रकार पैरो की सन्धियाँ भी मुडी रहती है। जब रोग का वेग अधिक होता है, तो सारा शरीर ही अन्दर की ओर मुड जाता है।

यह रोग वेग के रूप मे होता है। कभी यह वेग कुछ मिनट तक रहता है और कभी-कभी कुछ घण्टे अथवा कुछ दिन रह जाता है। वेग धीरे-धीरे शान्त होता है और पुन अनिश्चित समय के बाद होता है।

चिकित्सा

कैलसियम के योग—कैलसियम लैक्टेट कैलसियम ग्लूकोनेट आदि तथा प्रवाल भस्म, कपर्दिका भस्म आदि का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही एक्स्ट्रैक्ट पैराथाय-राइड का आवश्यक रूप से प्रयोग करना चाहिए। इन प्रयोगो को पर्याप्त समय तक चालू रखना चाहिए।

उपचुल्लिका के अन्तःस्राव का अतियोग

उपचुल्लिका के अन्त स्राव के अतिमात्रा मे निकलने के कारण रक्त मे सुधा के अणुओ (आयनो) की सख्या बढ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप नाडीसस्थान

का सामुदायिक अवसाद (Depression), तन्द्रा (Drowsinss), मासपेशियो की मृदुता, मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।

इसके उपचारार्थ शरीर मे सुधा की मात्रा को समता स्थापित करना चाहिए।

उपवृक्क

(Adrenal, Suprarenal)

परिचय—शरीर मे दो उपवृक्क ग्रन्थियाँ होती हैं। एक-एक ग्रन्थि प्रत्येक वृक्क पर टोपी की भाँति चढी रहती हैं। प्रत्येक उपवृक्क ग्रन्थि दो-दो अन्त स्रावी ग्रन्थियो का समुदाय है। इसके दो भाग है—१ अन्त स्थ भाग और २ बाह्य भाग। ग्रन्थि को मध्य मे काटने से दोनो ग्रन्थियो की पृथक् स्थिति देखी जा सकती है। मध्य के भाग को उपवृक्क-मध्य और चारो ओर के आवरण को उपवृक्क-वल्क कहते हैं। एव अन्त स्थ भाग को मध्य और बाह्य भाग को वल्क कहते है। मध्य और वल्क दोनो ग्रन्थियो के अन्त स्राव तथा कर्म भिन्न-भिन्न है।

कर्म—बाह्य भाग का कार्य वसा को जमा करना है, जिसके कारण बाह्य जननेन्द्रियाँ बढ जाती हैं। चार वर्ष के बालक की जननेन्द्रियाँ १४ वर्ष के बालक के समान हो जाती है और विटप पर बाल उग आते हैं।

अन्तःस्थ भाग का कार्य रक्तभार को अधिक करना और अनैच्छिक मासपेशियो को उत्तेजित करना है। इससे यकृत मे शर्कराजन से शर्करा बनाने की शक्ति भी बढ जाती है। इस भाग से एक सार निकलता है, जिसे एड्रीनलीन (Adrenalin) कहते हैं। यह पिङ्गल नाडीमण्डल का उत्तेजक है .एव इसके इञ्जेक्शन से रक्तभार बढ जाता है और धमनियाँ सकुचित हो जाती है।

उपवृक्क के अन्तःस्राव का हीनयोग

ग्रन्थि की विकृति अथवा अन्य किसी कारण से जब इस ग्रन्थि का स्राव कम होता है, तब मनुष्य का शरीर श्याववर्ण का हो जाता है, उसकी मासपेशियाँ शिथिल हो जाती है और हृदय की गति मन्द हो जाने से रक्त का प्रवाह ठीक नही रहता। उत्साह मन्द हो जाता है और प्रजनन-अवयव पर भी विचित्र प्रभाव होता है।

विकृति—इस ग्रन्थि की विकृति के कारण छोटे लडको की जननेन्द्रिय बहुत बडी हो जाती है। तरुण स्त्रियो मे पुरुषत्व के चिह्न, जैसे—मूँछो की रेखा फूट जाना, स्तनो का छोटा हो जाना, भगशिश्निका का बडा हो जाना, इत्यादि लक्षण होते हैं।

उपवृक्क के अन्तःस्राव का अतियोग

भय खाने या क्रोध करने से इस स्राव की बडी मात्रा रक्त मे मिल जाती है, परिणामस्वरूप हृदय की गति तीव्र हो जाती है, श्वासोच्छ्वास तेज हो जाता है, रक्त का दबाव (Bood pressure) बढ जाता है, रोगटे खडे हो जाते हे, नेत्र की

पुतली फैल जाती है, रक्त मे ग्लूकोज की मात्रा बढ जाती है, जिसका उद्देश्य मासपेशियो को विशेष पोषण पहुँचाना होता है।

थाइमस

(Thymus)

परिचय—इस ग्रन्थि का कुछ भाग वक्ष मे उरोस्थि के पीछे और कुछ ग्रीवा के नीचे के भाग मे रहता है। बच्चो मे यह ग्रन्थि बडी होती है। यह बालको की १४-१५ वर्ष की आयु होने तक बढती रहती है और फिर धीरे-धीरे छोटी होने लगती है। नवजात शिशु में इसका भार १३ से २७ ग्राम-तक और ११ मे १५ वर्ष के बीच ३७ से ५२ ग्राम तक होता है। इसके पश्चात् भार कम होने लगता है। यहाँ तक कि ६५ वर्ष की आयु मे केवल ६ ग्राम तक रह जाता है। ग्रन्थि का रग गुलाबी मायल धूसर होता है। ग्रन्थि की लम्बाई २½ इञ्च और चौडाई १ इञ्च के लगभग होती है। इस ग्रन्थि के दो खण्ड होते है—१ दाहिना और २ बायाँ।

कर्म—थाइमस का अन्त स्राव शरीर के पोषण और परिपूर्णता मे उपयोगी है। स्त्री और पुरुष दोनो मे बीजग्रन्थियो के विकास को रोकती है। इन ग्रन्थियो पर इसके दमन का परिणाम यह होता है, कि उतने काल मे शरीर सपूर्ण रूप मे पुष्ट हो जाता है।

यह ग्रन्थि खटिक (कैलसियम) सम्मेलनो के आत्मीकरण मे और वसा के कम व्यय होने में सहायता देती है।

विकृति—इसके निकाल डालने या विकृत होने से व्यक्ति का कद छोटा हो जाता है और वह दुबला हो जाता है।

पोषणिका-ग्रन्थि

(Pituitary Gland)

परिचय—इसे हाइपोफिसिस (Hypophysis) भी कहते है। यह ग्रन्थि मस्तिष्क के तल भाग मे स्थित होती है। यह आज्ञाकन्द (Thalamas) के नीचे जतूकास्थि के पोषणिका खात मे एक वृन्त द्वारा लटकी होती है। यह ग्रन्थि दो अन्त स्रावी ग्रन्थियो का समुदाय है। दोनो ग्रन्थियो की सूक्ष्म रचना, अन्त स्राव तथा उनके कर्मों के भेद के अतिरिक्त गर्भ मे इनका मूल भी भिन्न होता है। इसके चार भाग है, जिसमे दो मुख्य है--१ अग्रिम खण्ड तथा २ पश्चिम खण्ड। दोनो ग्रन्थियाँ मिलकर केवल मटर जितनी होती है, परन्तु इनके अन्त स्रावो की सख्या अधिक होती है। इनके स्राव अन्य अन्तर्ग्रन्थियो के स्रावो के उद्दीपक होने से इसे सर्वाध्यक्ष (Master gland) कहा जाता है।

अग्रिमखण्ड के अन्तःस्राव और उनके कार्य

१ **वृद्धिकारक अन्त.स्राव**—यह अस्थियो की वृद्धि और पुष्टि करता है।

२ बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव (Gonado-tropic hormone)—ये दो है — एक से पुरुषो में पुबीजो की क्रमपुष्टि होती है, दूसरे से अन्त शुक्र का उद्दीपन होता है। स्त्रियो में एक बीजपुट की पुष्टि का तथा दूसरा बीजपुटकिण की पुष्टि का उद्दीपक है।

३ दुग्धप्रवर्तक अन्तःस्राव (Lactogenic hormone)—इनसे स्तनग्रन्थियो मे दुग्ध की उत्पत्ति होती है और क्षरण होता है।

४ चुल्लिकाप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे चुल्लिकाग्रन्थि की पुष्टि होती है।

५ परिचुल्लिकाप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे परिचुल्लिका की पुष्टि होती है।

६ उपवृक्कवल्कप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे उपवृक्कवल्क का पोषण होता है।

७ धातुपाकप्रवर्तक अन्तःस्राव—इसका योगदान वसा एव कार्बोहाइड्रेट्स के धातुपाक मे है।

८ मूत्रल अन्त स्राव—यह मूत्रमार्ग के उदकक्षय को नियन्त्रण में रखता है।

पश्चिम खण्ड के अन्त.स्राव और उनके कार्य

इस खण्ड में जो अन्त स्राव होता है, उसमे गर्भाशय, मूत्राशय, वृहदन्त्र आदि अगो के अनैच्छिक मास को सिकोडने की शक्ति होती है। अतएव इस प्रसिद्ध सत्त्व पिट्युट्रीन का प्रयोग, प्रसवकाल में गर्भाशय के सकोच को बढाने के लिए बहुत पहले से होता आया है।

१ रक्तभारवर्धक अन्तःस्राव—इसे पिट्रोसिन (Pitrossin) कहते हैं।

२ मूत्र-सग्रहणीय अन्तःस्राव—पिट्युट्रीन की सूचीवस्ति से मूत्र का प्रमाण कम होता है।

३ गर्भप्रवर्तक अन्त.स्राव—इससे गर्भाशय के माससूत्रो पर सकोचक क्रिया होती है।

४ अन्य रेखाशून्य माससूत्रो पर क्रिया—पोषणिका ग्रन्थि के सत्त्व का अन्त्र आदि रेखाशून्य माससूत्रो पर भी सकोचक प्रभाव होता है।

पोषणिकाग्रन्थि के अन्तःस्राव का हीनयोग

१ इसके अन्त स्रावो की न्यूनता होने पर गर्भधारण, प्रजनन और पोषण की क्रियाओ मे विकृति होती है।

२ गर्भावस्था मे पोषणिका के अग्रिम खण्ड के कम काम करने से भ्रूण की अस्थियाँ ठीक-ठीक नही बनती। शाखाओ की अस्थियाँ विकसित नही होती और छोटी हो जाती है, जिससे पुरुष वामन (Dwarf) हो जाता है।

३ जन्मोत्तर और यौवनारम्भ के पहले अग्रिम खण्ड के काम न करने पर निम्नलिखित विकृतियाँ होती है—

(क) बौनापन के साथ-साथ शरीर स्थूल हो जाता है और जननेन्द्रियाँ नही बढती है। ऊँचाई कम होती है तथा मोटापन अधिक होता है, विशेपकर वसा श्रोणिप्रदेश एव ग्रीवा मे एकत्र होती है। बच्चो का शारीरिक और मानसिक

विकास स्थगित हो जाता है। उसकी अस्थियाँ कमजोर होती है। यौवन के आगमनकाल मे पुरुष मे शुक्रकीट नही बनते और स्त्री मे रजोदर्शन नही होता। कभी-कभी अण्डकोष तक नही उतरते है।

(ख) बौनापन होने पर जननेन्द्रियो का विकास अल्प होता है, किन्तु मोटापा नही होता।

(ग) वामन तीन-चार फुट के होते है, जो दो प्रकार के देखे जाते है—

(1) इनमे विरूपता नही होती, परन्तु प्रजनन की दृष्टि से बाल रह जाते हैं, इनमे रूप, शील-स्वभाव और बुद्धि मे विकास परिलक्षित होता है। बृहण चिकित्सा करने से कुछ सफलता मिलने की आशा होती है।

(11) दूसरे प्रकार के वामन मेदस्वी, निद्रालु, और मेद का सचय स्त्रीतुल्य स्थानो पर होने से एकदम बुद्धिहीन कन्या जैसे लगते है।

४ यौवनावस्था आने के पश्चात् पोषणिका ग्रन्थि के अग्रिम खण्ड के काम न करने से एक प्रकार की स्थूलता आ जाती है और व्यक्ति आलसी, सुस्त, निद्रालु तथा अल्पश्रम से थक जानेवाला होता है। उसके प्रजनन अवयव उचित रूप से विकसित नही होते। दाढी, मूँछ, स्तन आदि पर्याप्त रूप मे प्रकट नही होते।

५ **पोषणिका के अग्रिम खण्ड के नाश का परिणाम**—किसी भी कारण से पोषणिका के नाश या उसकी निष्क्रियता से शरीर का सारा ही ढाँचा चरमरा जाता है, क्योंकि इस स्थिति मे अन्य ग्रन्थियो के प्रवर्तक अन्त स्राव की क्षीणता हो जाती है। असमय मे ही बाल सफेद हो जाते हैं या झड जाते है, त्वचा मे झुर्रियाँ पड जाती है, त्वचा सिकुड जाती है शरीर के बाह्य तथा आभ्यन्तर अवयवो का ह्रास हो जाता है, बीजग्रन्थियाँ क्षीण होती है, पुसत्व-नाश, बन्ध्यता, मानस-मन्दता, अस्थि-भगुरता, शिरा-शैथिल्य एव मूर्च्छा आदि उपद्रव होते है।

पोषणिका-ग्रन्थि के अन्तःस्राव का अतियोग

१ गर्भावस्था मे इस ग्रन्थि के अग्रखण्ड के अधिक कार्य करने से अस्थियो के लम्बे होने से शरीर बडा हो जाता है। विवर्धमान बच्चो के हाथ-पैर और जबडे की अस्थियाँ अधिक बढ जाती है, जिससे देखने से वे 'दानवकाय' (Gigantic) प्रतीत होते है। उनके हृदय तेजी से धडकते है, रक्त का दबाव बढ जाता है और शरीर के ऊर्ध्व भाग मे मेद के स्तर जमने लगते है।

२ **अधिक विचित्र बात** यह होती है, कि इस ग्रन्थि की विकृति के परिणाम-स्वरूप स्त्रियो मे पुरुषो के और पुरुषो मे स्त्रियो के गौण जातिसूचक चिह्न प्रकट होते है, जैसे —स्त्रियो को मूँछे आने लगती है, रजोधर्म बन्द हो जाता है, कण्ठ कर्कश होने लगता है और स्तन सकुचित होकर छोटे हो जाते है। इसके विपरीत पुरुष की आवाज कोमल हो जाती है, दाढी-मूँछ बहुत कम रह जाती है, स्तन बडे हो जाते है और जननेन्द्रियाँ शिथिल होकर मेद से ढँक जाती है।

३ शरीर की पूर्ण वृद्धि होने के वाद अग्रखण्ड के अधिक कार्य करने से जो रोग होता है, उसे प्रान्तवृद्धि या एक्रोमेगाली (Acromegaly) कहते है। इसमे मुख के नीचे के भाग तथा हाथ-पैर पर विशेष प्रभाव होता है। हाथ-पैर, नीचे का जवडा और चेहरे की अस्थियां वडी हो जाती है। नासिका स्थूल हो जाती है, गण्डास्थियां उभर आती है, जवडे बहुत वडे हो जाते है। हाथ-पैर विशाल हो जाते है। इन अवयवो के मृदु भाग भी स्थूल होकर मुख तथा शाखाओ की परिधि को वढा देते है। ये दानवकाय व्यक्ति ७–८ फुट ऊँचे होते है।

अग्न्याशय या क्लोम

(Pancreas)

परिचय—अग्न्याशय एक उभयत स्रावी ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि उदर की पिछली दीवार से लगी होती है। उसकी आकृति पिस्तौल जैसी होती है। क्लोम का दाहिना भाग मोटा होता है और शिर कहलाता है, वांया भाग पतला होता है और उसको पुच्छ कहते है। शिर और पुच्छ के बीच का भाग ग्रन्थिका गात्र है। शिर पक्वाशय के घेरे मे रहता है एव पुच्छ का सिरा प्लीहा से मिला होता है। क्लोम के सामने अनुप्रस्थ वृहदन्त्र और आमाशय रहते है, उसके पीछे अधोगा महाशिरा, महाधमनी, बायें उपवृक्क का कुछ भाग, बायाँ वृक्क और प्लीहा रहते हैं। ग्रन्थि का भार ६० से १०० ग्राम तक होता है। उसकी लम्बाई ५ से ६ इञ्च तक होती है। इसमे प्रणालियां होती है, परन्तु ये ग्रन्थियां ऐसे रस भी बनाती है जो प्रणालियो द्वारा नही निकलते, प्रत्युत सीधे रक्त मे पहुँच जाते है।

कर्म—अग्न्याशय के 'लैङ्गर-हैन्स के द्वीप' नामक कोष-पुञ्ज एक पदार्थ बनाते है, जिसका नाम इन्स्युलीन (Insulin) रखा गया है।

भोजन के अनन्तर कार्वोहाइड्रेट जठराग्नि से परिपक्व होकर विभिन्न शर्कराओ के रूप मे परिणत हो रक्त मे मिश्रित हो जाते है। मुख्यतया इन्स्युलीन की क्रिया से इनका दहन या सञ्चय होता है, किंवा ये दो उपयोग होने पर भी वे शेष रहे, तो मूत्रमार्ग से वाहर निकाल दिये जाते है। इसी से कभी-कभी अति प्रमाण मे मधुर द्रव्यो के सेवन से मूत्र मे कुछ शर्करा की मात्रा प्राप्त होती है।

दहन के कार्य मे प्रयुक्त या सञ्चित शर्करा की अपेक्षा क्षुद्रान्त्र द्वारा शोषित शर्करा का प्रमाण अधिक हो, तो रक्त मे शर्करा की वृद्धि होती है। यह स्थिति अग्न्याशय के विकृत होने से इन्स्युलीन की क्षीणता (स्राव की अल्पता) होने पर होती है। इन्स्युलीन का क्षय होने से शोपित शर्करा का यथावत् उपयोग नही हो पाता, जिससे रक्त मे शर्करा का प्रमाण वढ जाता है। मधुर द्रव्यो का अतियोग होने पर किंवा यकृत् मे ग्लायकोजन का भराव होने पर भी यह स्थिति होती है। रक्त मे शर्करा के आधिक्य को **मधुरक्त** (Hyperglycaemia) कहते है।

मधुरक्त के परिणामस्वरूप **क्षौद्रमेह या मधुमेह** होता है, जिसमे मूत्र मे शर्करा की मौजूदगी रहती है। इन्स्युलीन की क्षीणता होने पर रक्त मे शर्करा का प्रमाण

बढ जाता है, जिससे **वृक्कीय देहली** (रक्त मे शर्करा का प्रमाण ० १ से ० २० प्रतिशत होना) का अतिक्रमण होने से मूत्र मे शर्करा निकलती है।

मूत्र मे शर्करा निकलने के परिणामस्वरूप **उदकमेह या बहुमूत्र** होता है। शर्करा घन रूप मे बाहर नही निकल सकती, वह जल मे विलीन होकर ही बाहर जा सकती है। ऐसी स्थिति होने पर शर्करा स्वभावत पर्याप्त मात्रा मे जल को साथ ले लेती है, जिससे क्षौद्रमेह के साथ उदकमेह भी हो जाता है।

जल के अधिक निर्गमन से धातुओ को विशेष प्रमाण मे जल की आवश्यकता का अनुभव होता है, जिसकी आपूर्ति के लिए जल की आकांक्षा होती है। **पिपासा** क्षौद्रमेह का प्रमुख लक्षण है।

पिपासा के साथ क्षौद्रमेह का एक लक्षण **क्षुधाधिक्य** भी है। इन्स्युलीन की क्षीणतावश अवयवो मे शर्करा के उपयोग की शक्ति भले न हो, उसकी आवश्यकता तो उन्हे रहती ही है और यह बात अतिक्षुधा के रूप में प्रकट होती है।

क्षौद्रमेह का एक अन्य उपद्रव है—**दुर्बलता**। होता यह है कि रक्त मे शर्करा का प्रमाण न्यून होने से यकृत् स्वभावत पूर्वसञ्चित ग्लायकोजन को द्राक्षाशर्करा के रूप मे परिवर्तित कर रक्त मे भेजता है। उसके भी मूत्रमार्ग द्वारा निकल जाने से अन्तत यकृत् धातुओ के प्रोटीन को ही द्राक्षाशर्करा के रूप में परिणत कर अवयवों को पहुँचाता है। परिणाम यह निकलता है, कि शरीर के अवयव प्रोटीन के हीनयोग से होनेवाले दौर्वल्य के पात्र बन जाते हैं।

विकृति—अग्न्याशय की विकृति जीर्ण शोथ होने से अथवा यक्ष्मा के कारण होती है। कुछ मे जन्मजात विकृति भी होती है।

उपचार

इन्स्युलीन की सूचीवस्ति से क्षौद्रमेह का कारण नष्ट होने से उक्त लक्षणो का ह्रास हो जाता है। लक्षणो के अपुनरावर्तन के लिए प्रतिदिन एक वार इसकी सूची दी जाती है। सिरा मे सूचीवस्ति का परिणाम कुछ ही मिनटो मे होता है, परन्तु आधे से एक घण्टे में नष्ट भी हो जाता है और पुन रक्त में शर्करा की वृद्धि हो जाती है। त्वचा मे देने से शोषण मन्द होने के कारण परिणाम देर से किन्तु कुछ स्थायी होता है। अत एव यह सूचीवस्ति त्वचा मे ही दी जाती है।

इन्स्युलीन अग्न्याशय के सत्त्व के रूप में प्राप्त होता है, यह एक प्रोटीन है। स्निग्ध आहार से अग्न्याशय मे इन्स्युलीन का प्रमाण बढ जाता है। यह आमाशय रस की वृद्धि करता है।

बीज-ग्रन्थियाँ : वृषण और अन्तःफल

वृषण ग्रन्थियाँ

वृषण और अन्त फल अग्न्याशय के समान उभयत स्रावी ग्रन्थियाँ हैं। इनके बहिस्राव क्रमश पुंबीज और स्त्रीबीज है। वृषण-ग्रन्थियो के अन्त स्राव को अन्त -शुक्र (पेरीएण्ड्रीन Periandrine) कहते है।

अन्तःशुक्र का कार्य—इसका कार्य अन्य जननावयवो की पुष्टि तथा उनके प्राकृत कर्मो का परिरक्षण और पुरुषो मे श्मश्रु आदि लिङ्गद्योतक बाह्य चिह्नो का उत्पादन और रक्षण है। वृषण-ग्रन्थियो की अत्यन्त बारीक तह (सेक्सन—Section) काटकर अणुवीक्षण के नीचे देखें, तो यत्र-तत्र कोषो के अनेक स्तरो से बनी नलिकाएँ तथा नलिकाओ के अन्तरावर्ती स्थानो मे अन्य प्रकार के कोष बिखरे हुए दिखलाई देंगे। ये नलिकाएँ पुबीजोत्पादक स्रोत (सेमनीफेरस ट्यूब्यूल्स—(Seminiferous tubuls) है तथा अन्तरवर्ती कोष अन्त शुक्र की उत्पत्ति करते है।

बाह्य लिङ्गद्योतक चिह्न (Secondary sex characters)—सामान्यत तारुण्य की वय सन्धि वेला मे—लगभग चौदह वर्ष मे सोलह वर्ष की वय मे एक ओर वृषणो मे पुबीजो का प्रादुर्भाव एव परिपक्वता तथा लिङ्ग की दृष्टि से परिपूर्णता होती है, दूसरी ओर कई चिह्न प्रकट होते हैं, जिन्हे बाह्य लिङ्गद्योतक चिह्न कहते हैं, जैसे—पुरुषो मे इस काल मे शिश्नप्रदेश और मुख पर रोमोत्पत्ति होती है, स्वर गम्भीर हो जाता है और पुरुषोचित दर्शनीयता स्पष्ट हो जाती है। पशुओ मे सीग निकलना, कलगी फूटना आदि लक्षण होते हैं।

तारुण्य के पूर्व लडके को यदि पण्ढ बना दिया जाये, तो उसमे पुरुषत्व के चिह्नो का प्रादुर्भाव नही होता। स्वर नही बदलता, श्मश्रु तथा शरीर मे अन्यत्र तारुण्य के कारण उगनेवाले बाल बहुत थोडे उगते हैं, शरीर का सहनन (बनावट) पुरुषोचित नही होती, अण्ड, शुक्राशय तथा पौरुष-ग्रन्थि क्षीण हो जाते हैं, शिश्न का यथावत् विकास नही होता, पुरुष जैसी धृष्टता और प्रगल्भता नही होती; क्रियाशीलता अल्प होती है और व्यक्ति प्राय मेदस्वी हो जाता है। कभी-कभी अस्थियो की पुष्टि भी अधिक होती है, जैसे—हिजडो के पैर प्राय लम्बे होते है।

अन्त शुक्र मूलत वृषणो मे ही बनता है, तत्पश्चात् उसका धातुपाक होकर विभिन्न द्रव्य बनते हैं, जो मूत्रमार्ग से क्षरित होते है। इन धातुपक्व (मेटाबोलाइट—Metabolite) द्रव्यो को **एण्ड्रोजेंस** (Androgens) कहते है।

अन्तःशुक्र और एण्ड्रोजेन की सूचीवस्ति के परिणाम

१ **जननावयव**—अण्डकोष, शुक्राशय, शुक्रवह स्रोतो के विभिन्न भाग, पौरुष-ग्रन्थि, शिश्नमूल-ग्रन्थि एव शिश्न की पुष्टि तथा कर्म-सामर्थ्य।

२ **केश या रोम**—दाढी, मूँछ आदि का पुरुषोचित प्रादुर्भाव।

३. **मेदोग्रन्थि**—त्वचा की मेदोग्रन्थियो का अन्त शुक्र से सम्बन्ध है। इन ग्रन्थियो का तारुण्योदय काल मे शोथ होता है, जिससे मुँहासे निकलते है।

४ **त्वचा का वर्ण**—यौवन आने पर त्वचा मे दृढता, अधिक गुलाबी रग और रग या वर्ण गहरा होता है।

५. **स्वर**—अन्त शुक्र के प्रयोग से स्वर गभीर और भारी हो जाता है।

६. **अस्थि**—अन्त शुक्र के सेवन से अस्थियो की वृद्धि होती है, कदाचित् नही भी होती है।

७ मांसपेशियाँ—अन्त शुक्र के प्रभाव के कारण ही पुरुषो की माँसपेशियाँ स्त्रियो की अपेक्षा पुष्ट और सशक्त होती है।

८ धातुपाक—अन्त शुक्र के कारण नाइट्रोजन, सोडियम, पोटैशियम, निरिन्द्रिय प्रस्फुरक तथा क्लोराइड मल रूप मे शरीर से बाहर नही जा पाते। अन्त -शुक्र के प्रयोग से धातुपाक की क्रिया ५ मे १५ प्रतिशत बढ जाती है, भार मे वृद्धि होती है। रक्तकण और रक्तरञ्जक भी बढते है।

वृषणग्रन्थियो के अन्त स्राव को अन्त शुक्र नाम दिया गया है।

अन्तःफल और अपरा

वृषणो के समान अन्त फल भी उभयत स्रावी ग्रन्थि है। पोषणिका ग्रन्थि के दो पृथक् अन्त स्रावो की प्रेरणा से अन्त फल के भी अन्त और बहि स्रावो का प्रादुर्भाव होता है। बहि स्राव स्त्रीबीज है।

अन्तःफल के अन्तःस्रावो का कार्य

अन्त फल के अन्त स्रावो का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है—गर्भधारण के लिए गर्भाशय को तैयार करना तथा गर्भस्थिति न होने पर आर्तवप्रवृत्ति। वय उपस्थित होने पर स्त्री मे स्त्री-सुलभ चिह्नो, यथा—तारुण्य का उदय अन्त स्रावो के अधीन है और ये अन्त स्राव स्त्रीबीजो के विकास या परिपाक के आश्रित है।

तरुणाई आने पर स्त्री मे पाया जाने वाला विशेष लक्षण—आर्तव या रजोधर्म की प्रवृत्ति है। इस काल मे रजोदर्शन के अतिरिक्त जननावयवो की पुष्टि होती है तथा तारुण्य के अभिव्यञ्जक चिह्न प्रकट होते है, जैसे—गर्भाशय योनि तथा स्तनो की पुष्टि होने लगती है, भगप्रदेश तथा कक्षा (काँख) मे रोमोद्गम, कन्या के शारीरिक स्वरूप मे प्रौढता एव शरीर के उपचय की दर मे वृद्धि होती है।

तारुण्य विकसित होने की आयु १३ से १५ वर्ष की है। सामान्यत १० से १८ वर्ष के मध्य यह कभी भी प्रारम्भ हो सकती है। रजोदर्शन के पश्चात् आर्तव-प्रवृत्ति अनियमित रहती है, कुछ महीने नही भी होती, फिर नियमित हो जाती है।

स्त्री-बीज (अन्त फल का बहि स्राव) आमावस्था मे छोटे-छोटे अन्य कोषो से अभिव्याप्त रहता है। इन कोषो के इस आवरण या कवच को **बीजपुट** या फॉलिकल (Follicle) कहते है।

रजोदर्शन के पूर्व एव इसके पश्चात् जीवन मे होनेवाली प्रत्येक आर्तवप्रवृत्ति के पूर्व कुछ बीजपुट पुष्ट एव परिपक्व होने लगते है, किन्तु इनमे पूर्ण परिपक्व एक ही होता है और शेष क्षीण हो जाते है, परिपक्व बीजपुट के मध्य मे अवकाश हो जाता है। इस अवकाश मे कुछ द्रव रहता है, इस अवस्था मे यह अन्त फल के बाहर उभर आता है। विकास प्रारम्भ होने के दस दिन पीछे बीजपुट या कवच फटता है और स्त्रीबीज इसमे से बाहर छटक जाता है। इस प्रक्रिया को **बीजोत्सर्ग** (ओव्यूलेशन—Ovulatoin) कहते हैं। बीजोत्सर्ग के पश्चात् शेष कवच (बीज-

पुट) मे कुछ परिवर्तन होकर एक घन एव पीतवर्ण का कोषपुञ्ज बनता है। इसे **बीजपुटवृद्धि** क्रिया कहते है।

स्त्री-बीज बीजवाहिनी मे पहुँचता है। इस समय यदि इसका पुबीज से समागम और एकीभाव न हो, तो बीजपुट-किण और १२–१४ दिन और पुष्ट होता है, तत्पश्चात् क्षीण हो जाता है। किन्तु यदि एकीभाव होकर गर्भस्थिति हुई तो बीजपुट-किण यथास्थित रहता है तथा प्राय सम्पूर्ण गर्भावस्था-पर्यन्त रहता है।

बीजपुट और बीजपुट-किण के अन्त.स्राव

बीजपुट के अन्त स्राव को ईस्ट्रिन (Oestrin) कहते है। इस द्रव्य के समान रासायनिक रचना और कर्मवाले द्रव्यो को ईस्ट्रोजेन (Oestrogen) कहा जाता है। ईस्ट्रिन और ईस्ट्रोजन की क्रिया गर्भाशय, योनि और स्तनग्रन्थियो पर होती है। इनसे गर्भाशय की अन्त कला की पुष्टि, रक्तवाहिनियो की वृद्धि तथा भराव, कफ-ग्रन्थियो की वृद्धि एव गर्भाशय की चेष्टाओ मे वृद्धि होती है। गर्भस्थिति होकर प्रसवपर्यन्त अन्त कला इस स्थिति मे रहती है, अन्यथा क्षीण होकर मृत हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप इसमे सञ्चित रक्त बाहर आता है। इसे ही आर्तव कहते है। रजोदर्शन के समय ईस्ट्रिन के प्रभाव से स्तन पुष्ट होते है। प्रत्येक आर्तव के समय ये अधिकतर पुष्ट होते जाते है।

बीजपुट-किण से होनेवाले अन्त स्राव को प्रोजेस्टिरोन (Progesterone) कहते है। इसका पर्याय ल्यूटीयल हार्मोन (Luteal hormone) है। इसके कारण गर्भाशय की पुष्टि होती है तथा कफ-ग्रन्थियो का स्राव अविकल होता रहता है, जिससे गर्भ का यथावत् धारण-पोषण होता है।

प्राय चालीस की आयु के लगभग आर्तवप्रवृत्ति रुक जाती है। इसे रजोनिवृत्ति (Menopause) कहते है। इसका कारण वार्धक्यवश अन्त फलो के क्षीण होने मे उसके अन्त स्रावो का क्षरण मन्द होना है। इस मन्दता के कारण अवसादक प्रभाव न रह जाने से पोषणिका के अग्रिम खण्ड के बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्त स्रावो का प्रमाण बढ जाता है। रजोनिवृत्ति के समय यह स्थिति अधिक रहने पर स्त्री मे कई तरह के विकार उत्पन्न हो जाते है, जिसका उपचार अन्त फल के स्राव का प्रयोग कर किया जाता है। इनमे स्टिलबेस्ट्रॉल (Stilbestrol) प्रधान है।

अपरा
(Placenta)

माता के रस-रक्त से पोषक तथा अन्य द्रव्य गर्भ को पहुँचाना और मलद्रव उससे ग्रहण करना अपरा का प्रमुख कार्य है। यह **एक अन्त स्रावी ग्रन्थि भी है। ईस्ट्रिन, प्रोजेस्ट्रिन तथा बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्त स्राव अपरा से उत्पन्न होते हैं।** कदाचित् दुग्धप्रवर्तक (Lactogenic) तथा पोषक अन्त स्राव भी इसमे क्षरित होते है। यह गर्भावस्था के पश्चिमार्ध मे, गर्भस्थिति के लिए पर्याप्त प्रोजेस्ट्रिन उत्पन्न करती है।

चतुर्थ अध्याय

आनुवंशिक व्याधियाँ एवं पर्यावरण

आनुवंशिक व्याधियाँ

(Hereditary Diseases)

परिचय—अधुनातन चिकित्सा विज्ञान की प्रवृत्तियो मे, मनुष्यो मे पाये जानेवाले अनेक कृच्छ्रसाध्य विकारो के विषय मे, उनकी कुलजता या आनुवशिकी के निदान की खोज की ओर लोगो का विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है और उनके रोकथाम की चिन्ता की जाने लगी है।

इस शताब्दी मे बच्चो की अस्वस्थता और उनकी शैशवावस्था मे मृत्यु का कारण सक्रमण और वातावरण एव अल्पपोषण को समझा गया और औषधो तथा पोषणाहार के उत्पादन और वितरण से उनमे कमी आयी। यह भी ज्ञात किया गया कि आनुवशिकी व्याधियो से शिशुओ की अस्वस्थता या बिमारी की दर लगभग ४२ प्रतिशत है। युवा मे यह आकलन कठिन है, किन्तु उनकी मृत्यु के कारण आनुवशिक रोग भी होते है।

आयुर्वेद मे **आनुवशिक रोगो को आदिबलप्रवृत्त** (सुश्रुत), **संचारी** (याज्ञवल्क्य) **कुलज** (चरक), **सहज** (वाग्भट) एव **प्रकृतिभव** (भेल) नाम दिया गया है।

मनुष्यो की उत्पत्ति का आदिकारण जो पुरुष के वीर्य का शुक्रकीटाणु (Spermatazoa) और स्त्री का बीज (Ovum) है, उनके दोषो के बल से उत्पन्न व्याधियाँ आदिबलप्रवृत्त कहलाती है। इस प्रकार—'**माता-पिता के शुक्र-शोणितगत दोषो के कारण संतति मे प्रवेश करनेवाले रोगो को आनुवशिक या हेरिडिटेरी (Hereditary) रोग कहते है।**'

ये रोग दो प्रकार के होते है—१ माता के रजोदोष से उत्पन्न और २ पिता के वीर्यदोष से उत्पन्न। जैसे—कुष्ठ, अर्श[1] आदि।

स्त्री-बीज एव पुरुष-बीज मे शरीर के प्रत्येक अङ्ग का निर्माण करनेवाले सूक्ष्म बीजावयव होते है, बीजावयव का ही दूसरा नाम क्रोमोसोम (Chromosome) है।

---

१ तत्र बीज गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतु—मातापित्रोरपचारः पूर्वकृत च कर्म तथान्येषामपि सहजाना विकाराणाम्। च० चि० १४।

उनमें से जिस अङ्ग के मूल बीजावयव की विकृति होती है, उसी अङ्ग में विकार भी दृष्टिगोचर होता है, अन्य में नहीं। इस प्रकार माता-पिता के अन्धत्व आदि विकारों का सन्तान में सङ्क्रमण होना कदाचित् ही देखा जाता है।[1]

माता-पिता तथा पूर्वजों के शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक गुणों, कतिपय विशिष्ट रोगों तथा अन्य विशेषताओं का उनके वंशजों में जो सञ्चरण होता है, उसे आनुवंशिकी कहते हैं।

आयुर्वेद में कुष्ठ तथा अर्श के अतिरिक्त राजयक्ष्मा, मधुमेह, श्वित्र एवं अपस्मार—ये आदिबलप्रवृत्त माने गये हैं। निम्नलिखित रोगों में भी आदिबल-प्रवृत्ति होती है। जैसे—कर्कट (कैंसर), मेदोऽर्बुद, शोणप्रियता (Haemophilia—रक्तपित्त का एक प्रकार), बधिरमूकता, वातरक्त, अस्थि-भङ्गुरता (Fragilitas osseum), अर्धावभेदक, छाजन-उकवत (Eczema), शीतपित्त, श्वास, तृणपुष्पाख्य ज्वर (Hay fever), नासास्राव, मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद के कई प्रकार, अपतन्त्रक (Hysteria), अदूरदृष्टि, रङ्गान्धता, मोतियाबिन्द, रक्त-भाराधिक्य (High blood pressure), अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के दोष के कारण होनेवाली स्थूलता, कृशता और मेदोवृद्धि, आमाशयिक व्रण आदि अनेक रोग तथा कटा होंठ, फटी तालु, अङ्गुलियों का जुड़ा होना, अँगुलियों का कम या अधिक होना, पैरों का मुड़ा होना इत्यादि अनेक शारीरिक विकलाङ्गता।

इन रोगों में कुछ रोग प्रत्येक पीढ़ी की सन्तति में थोड़े प्रमाण में होते हैं, जैसे—मोतियाबिन्द। कुछ रोग एक-दो पीढ़ी के बाद दिखलाई देते हैं, जैसे—वातरक्त। इस अवस्था को विपर्ययण (Atavism) कहते हैं। कुछ रोग केवल पुरुषों में ही होते हैं और उनकी कन्या की पुरुष-सन्तति में फिर दिखलाई देते हैं। इस प्रकार के रोगों को लिङ्ग-सम्बद्ध (Sex-limited) कहते हैं।

बहुत से परिवारों में आहार-विहार का एक निर्धारित दायरा होता है, एक परम्परा या परिपाटी होती है और वे बदलते समय के साथ समझौता नहीं करते। गरिष्ठ भोजन, नियमित मांसाहार, मद्य अथवा दूसरे मादक द्रव्यों का प्रयोग बाल्यावस्था से अभ्यस्त होने के कारण जीवन-पर्यन्त बना रहता है। वे रोगावस्था में या देश-काल के परिवर्तित होने पर भी आहार-विहार, रहन-सहन में परिवर्तन-पराङ्मुख होते हैं। इस प्रकार परम्परागत गुरु आहार से भी रोगोत्पत्ति होती है।

मेदोरोग, ग्रहणीविकार, आमवात, वातरक्त प्रमेह, अर्श और श्वासरोग से पीड़ित दम्पतियों की सन्तानों में भी उनके इन रोगों का प्रसार हो जाता है, जिसका आधार उक्त प्रकार का आहार-विहार होता है। जहाँ माता-पिता गुरु-अभिष्यन्दी-मधुररस-प्रधान आहार, दिवाशयन, अव्यायाम तथा आराम करने वाले होंगे और मेदोवृद्धि एवं प्रमेह जैसे रोगों से ग्रस्त होंगे, वहाँ उसी तरह के आहार-

---

१ यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते नोपजायते चानुपतापात्। च० शा० ३।

विहार और रहन-सहन में पालित-पोषित शिशु भी आगे चलकर उक्त रोगो से *आक्रान्त हो जायेंगे। ये कुलज या आनुवंशिक रोग होते है।*

कुछ परिवार स्वाभाविक रूप से दीर्घजीवी, नीरोग और बलिष्ठ होते हैं तथा कुछ परिवार इसके विपरीत, अल्पायु, अस्वस्थ एव निर्बल होते है। अनूर्जताजनित (Allergic) व्याधियो के लिए पारिवारिक स्थिति का ज्ञान करना महत्त्वपूर्ण होता है। वयस्क एव प्रौढ रोगी से उसके कौटुम्बिक जीवन की जानकारी लेनी चाहिए। उनके स्त्री-बच्चो के सम्बन्ध मे पूछना चाहिए। बहुत से रोगो मे पितृकुल, मातृकुल, भाई-बहन आदि खून के रिश्तेवालो के बारे मे पूछताछ कर रोग की आनुवंशिकता का विश्लेषण करना चाहिए।

सम्पन्नता अथवा विपन्नता के कारण भी रोगो के क्रम मे परिवर्तन होता रहता है। *कुलज प्रकृति के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य, आहार-विहार तथा प्रमुख रोगो* का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए माता-पिता की २-३ पीढियो का इतिहास जानना कुछ रोगो मे आवश्यक होता है। इसलिए बिना किसी लाग-लपट के, बेबाक सवाल कर, खोजी पत्रकार या जासूसी राजपुरुष या गुप्तचर की तरह रोगी की अन्तरात्मा और उसकी पीढियो मे झाँक कर नैदानिक इतिकर्तव्यता का पालन करना चाहिए।

अन्य विद्वानो की धारणा है कि जीवाणुओ से उत्पन्न होने वाले रोग, यथा — **कुष्ठ एव राजयक्ष्मा आनुवंशिकी रोग नहीं हैं,** अपितु कुष्ठरोगी तथा राजयक्ष्मा रोगी माता-पिता के गाढ सम्पर्क मे रहने से उनकी सन्तानो मे उन रोगो के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है। यदि जन्म होते ही इन बच्चो को कुष्ठी या यक्ष्मी वातावरण से पृथक् कर दिया जाय, तो ये रोगग्रस्त नही हो सकते। इसी प्रकार अर्श को भी कुलज नही मानते है।

कुछ कुलज रोग प्रत्येक पीढी मे होते हे, जैसे—मोतियाबिन्द। कुछ एक-दो पीढी के बाद होते हैं, जैसे—वातरक्त। कुछ रोग केवल पुरुषो मे होते है तथा उनको [illegible] पुरुष-सन्तति मे फिर से दिखलाई देते है, जैसे—हीमोफीलिया, रङ्गान्धता आदि।

जन्मबल-प्रवृत्त रोग भी आनुवंशिकी रोग है—माता के मिथ्या आहार और आचार मे गर्भावक्रान्ति के समय जो रोग होते है, वे **जन्मबलप्रवृत्त**[1] कहलाते हे। जैसे—पगु, जन्मान्ध, बहरा, गूँगा, मिन्मिन (हकलाकर एव रुक-रुककर बोलने वाला) और वामन आदि।

ये विकृतियाँ दो प्रकार की होती हे—१ **अस्वाभाविक वृद्धियुक्त अथवा विकृताकार की सन्तान।** जैसे—अँगुलियो की अधिकता अर्थात् उनकी सख्या बीस से अधिक होना, स्थूल होना अगो की अधिकता आदि तथा अगो की कम वृद्धि होना,

---

१. जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्ग्वात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते, तेऽपि द्विविधा रसकृता दौहृदापचारकृताश्च। सु० सू० २४।५।

होठ का कटा होना, गुदाद्वार का न होना या अगो का विपर्यास (उल्टा होना) जैसे—हृदय और प्लीहा का दक्षिणार्ध मे और यकृत् का वामार्ध मे होना आदि।

२ आघातज एव उपसर्गज—प्रसव के समय किसी प्रकार की चोट लगने से अथवा माता के उपसर्ग से रोग उत्पन्न होना। जैसे—फिरङ्ग, आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका आदि।

सुश्रुत ने प्रकारान्तर से जन्मवलप्रवृत्त रोगो को दो प्रकार का कहा है—१ रसकृत और २ दौर्हृद (गर्भिणी की इच्छा) के अपमान से उत्पन्न रोग।

जन्मवलप्रवृत्त व्याधियाँ

१ रसकृत[1]—विशिष्ट प्रकार के आहार का निरन्तर सेवन करने से उत्पन्न होनेवाले रोगो को रसकृत कहते हैं। जैसे—मधुर रस से प्रमेह, मूकता या स्थूलता होना, लवण रस से वली, पलित, खालित्य, अम्ल से रक्तपित्त, नेत्ररोग तथा त्वचा के रोग, कटु रस से शुक्राल्पता एव सन्तानहानि, तिक्त से शोप एव निर्वलता, कपाय से कृष्णवर्णता, आनाह और उदावर्त होना, मद्य से प्यास, स्मृतिनाश एव उन्माद तथा गोहटी का मास खाने से शर्करामेह, अश्मरी आदि रोग होते हैं।

२ दौर्हृदापचारकृत—गर्भ के भीतर जीवन का प्रभाव होने से माता के मन मे जो विविध श्रद्धाएँ या कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका विघात होने से उत्पन्न हुई व्याधियाँ दौर्हृदापचारकृत कहलाती हैं। श्रद्धा के विघात से वालक मे शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न होते है।

जन्मवलप्रवृत्त रोग-सारणी

जन्मवलप्रवृत्तरोग

- आदिवलपुरस्कृत जन्मवलप्रवृत्त
  - शारीरिक अङ्गविकार
- केवल जन्मवलप्रवृत्त
  - सहज
    - शारीरिक व्यग
    - दोपज और औपसर्गिक विकार
  - प्रसवज
    - अघातज
    - औपसर्गिक

१ मधुरनित्या मूकमतिस्थूल प्रमेहिण वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिन त्वगक्षिरोगिणं वा, लवण नित्या शीघ्रवलीपलित खालित्यरोगिण वा, कटुक नित्या दुर्वलमल्पशुक्रमनपत्य वा, तिक्तनित्या

आनुवंशिक रोगों का प्रतिषेध

(Prevention of Genetic Diseases)

वर्तमान समय मे बहुतेरे आनुवशिक रोगो की प्रभावकारी चिकित्सा अनुपलब्ध है। ऐसी स्थिति मे चिकित्सको की मुख्य भूमिका इन रोगो की रोकथाम के लिए परामर्श देने की हो जाती है।

भावी पीढी मे जन्म लेनेवाले बच्चे माता-पिता के कुलज रोगो के दुष्प्रभाव से पीडित न हो, इस विषय मे माता-पिता को समुचित परामर्श देना चाहिए। यदि माता या पिता वशपरम्परागत रोगाक्रान्त है और उनकी अग्रिम सन्तान पर भी उस रोग का आक्रमण देखा जाता है, तो आगे जन्म लेनेवाले शिशु उस कुलज रोग से कैसे बचाये जा सकते है, यह उपदेश माँ-बाप को देना चाहिए। यदि रक्तसम्बन्ध से सम्बन्धित या निकटतम सम्पर्क के रिस्तेदारो मे कोई कुलज व्याधि हो तो उन्हे भी आवश्यक सुझाव देना चाहिए, जिससे कि भावी सन्तति पर इस तरह के रोग का पुनरागमन न हो सके।

आनुवंशिक रोगों में परामर्श (Genetic Advice)

सर्वप्रथम निदान का विवरण तैयार करना चाहिए। फिर यह निश्चय करे कि क्या प्रस्तुत रोग आनुवशिक है? तत्पश्चात् यह प्रमाणित करे कि रुग्ण के सम्बन्धियो या माता-पिता, भाई-बहन मे किसी को यह रोग है या नही। क्योकि पूर्ण नैदानिक विवरण के बिना यथार्थ परामर्श दिया जाना सभव नही है। क्योकि कुछ विकृतियाँ बाह्यदृष्टि से समान प्रतीत होती है, किन्तु आनुवशिकता की दृष्टि से विचार करने पर उनमे पार्थक्य होता है।

जैसे—हण्टर के लक्षणसमूह (Hunter's syndrome) और हर्लर के लक्षण-समूह (Hurler's syndrome) गार्गेलिज्म (Gargeylism) के समान रुग्णगत स्वरूप प्रस्तुत करते है, किन्तु हण्टर सिण्ड्रोम मे कनीनिका मे धुँधलापन नही होता और हर्लर सिण्ड्रोम मे रहता है। हण्टर्स सिण्ड्रोम X लिक्ड और अवरोधक लक्षणवाला होता है। इसलिए भाई तो रुग्ण होता हे, किन्तु बहन रुग्ण नही होती, पुन• बहन की पुरुष-सन्तान उस कुलज रोग से ग्रस्त हो जाती है। दूसरी ओर हर्लर सिण्ड्रोम विकृति का अलिंगसूत्री (Autosomal) अवरोधक होता है और केवल एक सहोदर (Sib) को ही प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति मे किसी अरुग्ण बहन के बच्चो को आनुवशिक रोग होने की सभावना नही होती। ऐसे परिवार के सदस्यो को परामर्श देना चाहिए, कि उस आनुवशिक रोग-विहीन कन्या का विवाह किसी ऐसे निकट सम्बन्धी से न करे, जो परिवर्तनशील (Mutaint) जीन (Gene) का वाहक हो।

शोषिणमवल्पमनुपचित वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिन वा, मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्त वा, गोधामामप्राया शर्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिनं वा। —च० शा० ८।२१

आवश्यक रूप से सदैव इस बात की जाँच कर लेने का निर्देश दिया जाना चाहिए कि प्रस्तुत रोग क्या वस्तुत कुलज है और पर्यायवरणजन्य नहीं है ? उदाहरण के तौर—जन्मजात बहरापन प्राय कथञ्चित् अवरोधक जीन के कारण होता है, किन्तु गर्भावस्था के पहले तीन महीनो मे अन्तर्गर्भाशयिक शीतला के सक्रमण के फलस्वरूप भी हो मकता है, जिसके कारण भ्रूण (Fctus) मे अन्य विकृतियाँ भी हो मकती हैं, जैसे—जन्मजात हृदय रोग, जन्मजात नेत्रविकार आदि। यदि किसी रुग्ण मे देखा जाय कि माता के शीतला रोग मे ग्रस्त होने के कारण बच्चे मे जन्मजात बहरापन था, तो ऐसी स्थिति मे यह सभावना नही होती, कि आगामी बच्चो मे भी इसकी पुनरावृत्ति हो। इसलिए आनुवशिक रोगो के सम्बन्ध मे परामर्श देने के पूर्व माता द्वारा होनेवाले किसी रोग के सक्रमण की सभावनाओ के विषय मे भी पूछताछ कर लेनी चाहिए। गर्भावस्था मे किये गये उपचार, दी गयी औषधे या सक्रमण अथवा आघात आदि सम्बन्धी प्रश्न भी पूछना चाहिए, जो प्रस्तुत विकृतियो से सम्बद्ध या आशङ्कित हो।

कुछ बाते ऐसी है जो परामर्श या उपचार आदि के सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे माता-पिता के मन मे हिचकिचाहट उत्पन्न करती है, जैसे—शिशु के विकृति की गभीरता और किसी सभावित खतरे का अन्देशा, विकृति की कोई कारगर चिकित्सा है या नही ? यह विचिकित्सा, धार्मिक मान्यता, कर्मफलभोग की धारणा, सामाजिक अवधारणा और आर्थिक स्तर आदि[1]।

पर्यावरणीय सिद्धान्त : दोष, परामर्श और प्रतीकार

सामाजिक पर्यावरण

मनुष्य जिस वातावरण मे जन्म लेता है, पालित-पोषित होता है और आरोग्यमय स्वस्थ जीवन जी रहा होता है, वह उसके अनुकूल या सात्म्य हो जाता है। पूर्णतया स्वस्थ रहना ही सुख है। जो व्यक्ति सादगी से रहता है, प्रकृति के निकट रहता है तथा दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा कि

---

1 The main contribution which genetics can make to medicine is in understanding more about the aetiology of certain disorders and in preventing such disorders through genetic counselling

In genetic counselling it is not sufficient merely to quote risk figures As for as possible the nature and cause of the disease should be explained to parents and any feelings of such should be removed. Since genetic counselling may have profound long-term effects on a family such advice never be given without careful appraisal of all the factors involved if the needs of the individual are to be met Genetic counselling, like many other aspects of medicine, is as much an art as a science

—Principles and Practic of Medicine 12th ed p 22–23

वह अपने लिए दूसरो से चाहता है, वास्तव मे वही सुखी रह सकता है। विचार-स्वातन्त्र्य, चिन्तन, व्यवहार, सामाजिक चेतना, निष्ठा, मर्यादा, मेहमान-नवाजी और सामान्य अदने-से आदमी के हित के लिए अपने आपको न्योछावर कर देने की तमन्ना और तडपन जिस दिल मे होगी, वही सर्वोच्च आत्मिक आनन्द के स्रोत मे गोता लगाने का भागीदार होगा।

विविधता जीवन को अधिक रोचक, दिलचस्प और जीने योग्य बनाती है। जिन्दगी को पूरी आस्था और जिन्दादिली के साथ जीना चाहिए। नये अनुभवो, नये लोगो से सम्पर्क और प्रत्येक नयी वस्तु मे रुचि लेनी चाहिए। जीवन को व्यस्त बनाना स्वस्थता और दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है। प्रकृति के दृश्य धरती, नदियाँ, सागर, पहाड, लहलहाते खेत, वन, उपवन, आग, पानी, हवा, सूर्य, चन्द्रमा, सितारे और मौसमो का जुलूस —ये सब ऐसे साधन है, जिनकी अनुभूतियाँ आत्मचेतना को दिव्य बनाती है।

आधुनिक सभ्यता के प्रसार ने मानवीय सवेदना के तारो को बुरी तरह झकझोर दिया है और इसके परिणामस्वरूप मानवीय मूल्य, नैतिक मान्यताएँ, सामाजिक सस्कार तथा आस्थाएँ विखण्डित हो रही है। अपनी सस्कृति की वीणा की झङ्कार लुप्त होती जा रही है और उच्छिष्ट जर्जरित आयातित सस्कृति की ध्वनियाँ आकर्षक लग रही है। यह सास्कृतिक ह्रास आत्मा की दरिद्रता का द्योतक है।

सम्प्रति विकास के प्रसग मे बार-बार दो शब्दो का प्रयोग किया जाता है और ये दो शब्द है—१. सभ्यता और २ सस्कृति।

मनुष्य ने अपने सुख-साधन के लिए जो निर्मित किया है, वह **सभ्यता** है। सभ्यता बाह्य उपलब्धि है, जिसमे झोपडपट्टी से लेकर महल तक एव बैलगाडी से लेकर वायुयान तक की सुख-सामग्री निहित है।

सभ्यता का ही एक विकृत रूप है, कि—"जिनका जीवन महानगरो के चाकचिक्य और चकाचौंध भरे अट्टालिकाओ के शीतताप-नियन्त्रित वातानुकूलित रमणीय आवासो मे बीता है, जो गेहूँ-धान या चने के तने नही पहचान सकते है, वे हमारे कृषि-प्रधान देश के भाग्यविधाता, राजनेता, जननेता या किसाननेता होने का दम्भ भरते है। पाँच सितारा होटलो मे बैठकर किसानो के भाग्य की आडी-तिरछी लकीरे खीचते है और आँकडो पर आँकडे थोपते जाते है एव इसी के बलबूते पर जनता को गुमराह कर अपनी राजनीतिक रोटी सेकते है।"

सस्कृति मनुष्य की अन्तरात्मा का आध्यात्मिक अस्तित्व है। यह उदात्त है। इसमे 'सत्य शिव सुन्दरम्' की चाह है। दया, प्रेम, सहानुभूति, करुणा, मगल-कामना, कल्याणकारी जीवनमूल्यो का ग्रहण, आत्मा का उदात्तीकरण और उन्नयन सस्कृति के कार्य है।

आज ससार सिमट गया है। भौगोलिक दूरियो को तीव्रगामी यातायात साधनो ने कम कर दिया है। पुरातन काल मे जो परियो की कहानियाँ सुनी जाती थी, सात समुद्र पार की कहावतें कही जाती थी एव जिस उडनखटोले और विक्रमादित्य के वेताल की चमत्कारपूर्ण गाथाये कही-सुनी जाती थी, वह सब आज यथार्थ और प्रत्यक्ष वन गया है।

इन महान् परिवर्तनो के साथ मनुष्य का पर्यावरण भी वदल गया है। आदमी तो भयङ्कर रूप से वदलाव का शिकार हुआ है। उसके वाह्य परिवेश मे चमक-दमक आयी है, सहूलियतें वढी है, अल्प श्रम मे वहुत सारी सुविधाएँ सुलभ हो गयी हैं। आज की उपभोग सस्कृति ने ब्राह्मी सस्कृति[1] को वहुत पीछे छोड दिया है। पर्यावरण वदला है, हवा वदली है, पानी वदला है, देश वदला है और जमाना वदला है, किन्तु जिस अनुपात मे आदमी वदला है या गिरा है, उस अनुपात मे दुनिया की कोई चीज नही वदली है। आज भला और दक्ष वह आदमी माना जाता है, जो 'मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक' (अर्थात् मन मे वही वचन और कर्म में भी) की जगह 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्' (अर्थात् मन मे कुछ, वाणी मे कुछ और कर्म मे कुछ) के भाव रखता है। आज का मर्द कहता है—'जव जैसा तव तैसा, ऐसा नही तो मर्द कैसा'।

यह सव मानव के सामाजिक पर्यावरण की विकृति का ही दुष्परिणाम है कि आदमी के त्याग-तपस्या की कीमत हवा हो गयी और जो जितना ही छल-प्रपञ्च की रचना मे चतुर है, वह उतना ही वडा वक्ता और दर्शनीय वन गया है—'स एव वक्ता स च दर्शनीय'। जिस छोर पर सस्कृति की आत्मा भस्मीभूत होती है वही से शुरू होता है मानव के सामाजिक पर्यावरण का विद्रोह। सभ्यता के नाम पर अतुलित सम्पदा के स्वामी खाडी के देश के धनेशो ने अपनी रेत मे स्वर्गिक आनन्द का नन्दनवन वसा लिया है। यह वात पृथक् है कि उनकी आसुरी सम्पत् कदाचित् स्वय के लिए भस्मासुर वन जाय।

अभी भोपाल-गैस-त्रासदी का भोग चल ही रहा था, कि एक टीपू सुल्तान की शूटिंग ने कई दर्जन शवो की होली जला डाली। हिटलर वनने की दुराशा ने सद्दाम को उद्दाम और दुर्दान्त दम्भ का शिकार वना डाला है तो दूसरी ओर विश्व क्षितिज पर सर्वोत्कृष्ट वर्चस्व स्थापित करने की लालसा ने राष्ट्रपति वुश को दजला-फरात की सहस्राब्दियो पुरानी सास्कृतिक विरासत को ध्वस्त-नावूद करने और मानवता का क्रूर उपहास करने को मजवूर कर दिया है।

आज की दानवी सस्कृति का वाहक वना मानव अपने सामर्थ्य और क्षमता का वास्तविक आकलन किये विना किसी भी प्रकार प्राप्त भौतिक सुख-सुविधाओ

---

१ अभय सत्त्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति । दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दव ह्रीरचापलम् ॥
तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता । भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ॥
गीता, अ० १६।१-३

का अम्बार खडा कर देने की मानसिकता बना लेता है, जो इस काल की तथा-कथित सभ्यता का सामाजिक मानक बन गया है।

आज अपने ही देश मे राष्ट्रध्वज को अपमान का सामना करना पड रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी आजादी के नाम पर सिर धुन रही है। सुदूर गाँवो मे कान्वेण्ट स्कूल चलाये जा रहे है, टाई पहनना अनिवार्य कर दिया गया है, छोटे-छोटे बच्चे अग्रेजी गीतो के गायन के लिए बाध्य किये जा रहे है। पराधीनता के समय भ्रष्ट लोगो को चौराहे पर सजा देने का वादा किया जाता था, तो आज भ्रष्ट लोगों का ही शासनतन्त्र पर अधिकार है। गुलामी के दिनो मे शराब की दूकानो पर धरना दिया जाता था तो आज शराब कुटीर उद्योग बनता जा रहा है। गली-गली, घर-घर शराब का स्वागत हो रहा है।

शील, सदाचार, सेवा, उपकार और मानवीय सवेदनाओ का सरोवर सूख गया है। देवदुर्लभ भारत की धरती की परत मे झाड-झखाड उग आये है। असभ्यता और अशिष्टाचरण सभ्यता के सिर चढ बैठे है। नकल के नाटक ने असल को काली यवनिका के पीछे ढकेल दिया है। सर्वाधिक दयनीय स्थिति शिक्षा-सस्थाओ की है। स्कूल-कालेज-विश्वविद्यालय विद्या का लय कर रहे है। आज कोई किसी का शिष्यत्व ग्रहण करने को तैयार नही है। गुरु के गुण और गरिमा को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति तिरोहित हो रही है। विद्या का प्रथम फल विनय की उपलब्धि है, किन्तु आज के परिवेश मे यह बदलते सामाजिक पर्यावरण के साथ उलटा हो गया है।

सत्य, ईमान और धर्म की बात करना गुनाह हो गया है। इन तीनो का पालन गाधीजी के तीन बन्दरो की तरह हर व्यक्ति को करना पड रहा है। आदमी चुपचाप सभी तरह का अन्याय देखते रहने के लिए मजबूर हो गया है। कबीर को भी अपने जीवन मे सत्य के लिए सकट झेलना पडा होगा। तभी तो वे कहते है—

'तन-मन तापर वारहूँ जो कोइ बोले साँच।'

यह बीसवी शती कितने उतार-चढाव, अस्थिरता, परिवर्तन, सास्कृतिक ह्रास एव सामाजिक पर्यावरण-प्रदूषण का अभिशाप बरपा करेगी, इस तथ्य का आकलन करना इतिहासकारो का उत्तरदायित्व है।

उपचार

शिक्षा ही मनुष्य को मनुष्य बनाने की एकमात्र कला है। इसलिए सामाजिक पर्यावरण के परिष्कार के लिए हमे उसी का हाथ थामना पडेगा।

शिक्षा की ऐसी व्यवस्था हो कि विद्यार्थी अपनी शारीरिक, मानसिक एव भावात्मक शक्तियो का विकास कर, आगे चलकर किसी व्यवसाय द्वारा सच्चाई और ईमानदारी के साथ अपना जीवन-निर्वाह कर सके। उसमे देशभक्ति और सेवा-भावना हो, जिससे वह समाज मे विश्वास तथा आदर का पात्र बन सके। शिक्षा द्वारा सार्वजनीन और शाश्वत मूल्यो का विकास होना चाहिए, जो लोगो को एकता

की ओर ले जा सके। शिक्षा मे सास्कृतिक विरासत और सार्वभौम दृष्टि पर विशेप बल देना चाहिए।

पर्यावरण के क्षेत्र

पर्यावरण के क्षेत्र असीम और अनन्त हैं। विस्तृत आकाश, सागर, नदियाँ, पर्वत, समस्त वायवीय परिवेश और जलस्रोत, जगल, विशाल भूमितल, देश, काल, उद्योग, व्यवसाय तथा जीवन के निर्वाह के उपकरण—ये सभी पर्यावरण के क्षेत्र है। यहाँ जीवन को सन्तुलित बनाये रखने के लिए जिन मौलिक तत्त्वो की शुद्धता की अपेक्षा होती है और जिनके प्रदूपण से प्राणिजगत् के अस्तित्व का खतरा उपस्थित होने की सम्भावना की जाती है, ऐसे कतिपय प्रमुख विन्दुओ पर आगे विचार व्यक्त किया जायेगा। जैसे—१ भूमि या देश, २. काल, ३. जल, ४ वायु, ५. उद्योग ६ व्यवसाय, ७. युद्ध और ८ ध्वनि—ये पर्यावरण प्रदूषण के मुख्य स्रोत हैं।

(१) भूमि या देश

आयुर्वेद मे देश शब्द से दो अर्थ लिये जाते है—१ भूमिदेश और २ देहदेश। प्रस्तुत सन्दर्भ मे भूमिदेश के सम्बन्ध मे विचार करना सङ्गत है।

भूमिदेश के भेद—भूमिदेश—१ जागल, २ आनूप और ३ साधारण भेद से तीन प्रकार का होता है। इसमे जागलदेश वातपित्त-प्रवल, आनूपदेश वातकफ-प्रवल और साधारण देश समत्रिदोप होता है। स्वास्थ और आरोग्य की दृष्टि से साधारण देश निवास के लिए उत्तम माना जाता है।

देश में पर्यावरण-प्रदूषण के लक्षण

१ विकृत गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्शवाला क्लेदवहुल, पशु-पक्षियो द्वारा त्यक्त।

२ सर्प आदि विपैले जन्तु, मच्छर, टिड्डी, मक्खी, मूपक, उल्लू, गीध, चील आदि श्मशानवासी जीवो की अधिकतावाला।

३ तृण, घास, गुल्म (झुरमुट) लताप्रतान-वहुल, शुष्क कृपि, धूम्र पवनवाला।

४ रुग्ण पशुपक्षियो एव असद्वृत्त और आचरणहीन मनुष्योवाला।

५ उल्कापात एव वज्रपातयुक्त तथा विलापयुक्त शब्दोवाला देश अहितकर और दूषित पर्यायवरण वाला होने से अनारोग्यकर होता है।

निवास के अयोग्य भूमिदेश

१ जहाँ के वातावरण मे दुर्गन्ध व्याप्त हो।

२ जो भूमि, सभागार, सिनेमाहाल, राजप्रासाद, देवालय या श्मशान के समीप हो।

३ जो गोल, त्रिकोण, विषम, कठोर या टीला हो या काँटेदार वृक्षो से व्याप्त हो।

४ जिसके निकट श्वपच-निवास, चर्मव्यवसाय या शूकरनिवास हो।

५ जिस भूमि के निकट लकड़ी चीरने या खरादने का कारखाना, रूई धुनने की मशीन, चीनी मिल या धुआँ उगलनेवाला कारखाना यथा—ईंट-भट्ठा आदि हो, वह निवासस्थान बनाने के अयोग्य भूमिदेश है ।

निवासस्थान योग्य भूमि

१ जो स्वच्छ, समतल, कृषियोग्य, हवादार और पेयजल सुविधायुक्त हो ।

२ रमणीय, मनोरम, जल-जमावरहित, सीलनरहित और ढालुआ तथा उन्नत हो ।

३ घने वृक्षो से घिरा न हो तथा जहाँ क्रास वेण्टिलेशन और प्रकाश हो ।

४ गृह के निकास का द्वार दक्षिण या पूर्व की ओर हो सकने की सुविधा हो ।

५ जिसमे अलग-अलग शयनागार, भण्डारघर, पाकशाला और शौचालय बन सके ।

६ जो आतङ्करहित, पशुशाला का पृथक् स्थान और साफ सुथरा स्थान हो वह निवासगृह बनाने के लिए योग्य भूमि होती है ।

जलवायु के प्रति सहिष्णुता

मानव-शरीर मे जलवायु तथा पर्यावरण सम्बन्धी परिवर्तनो को सहन करने की विलक्षण क्षमता है । एवञ्च बाह्य जलवायवीय तथा तापक्रम सामान्य बना रहता है । जलवायु को निम्नलिखित वर्गो मे विभक्त कर सकते है—१ शीतल, २ उष्ण, ३ समशीतोष्ण, ४ पर्वतीय और ५ सामुद्रिक ।

भूमिदेश के प्रभाव से होनेवाले रोग

भारतवर्ष मे फाइलेरिया, इओसिनोफीलिया तथा याकृत एमीबिएसिस (Amoebiasis) एव सिस्टोसोमिएसिस (Schistosomiasis) जन्य फुप्फुसीय उपद्रव प्राय होते है । उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलो मे मलेरिया, फाइलेरिया और इन्सेफेलाइटिस फैलने की अधिक आशङ्का रहती है । ग्रामीण इलाको (उत्तरी एव मध्यभारत) मे खाँसी और दमा अधिकाश पाये जाते है । अग्निमान्द्य, अतिसार, ग्रहणी विकार, उदावर्त, आनाह, वातरक्त और श्वेतकुष्ठ के रोगियो की सख्या बढती जा रही है ।

भूमिवासी जीवाणु धनुर्वात (टिटेनस), वातकोथ (गैंग्रीन) और अन्न-विषमयता कारक होते हैं । किसी व्रण के साथ भूमि का स्पर्श हो जाने से उसमे स्थित धनुर्वातकारक जीवाणु धनुर्वात करता है एव वातिक कोथ उत्पन्न होता है । डिब्बे मे बन्द शाक-भाजी, मास या अन्ननिर्मित खाद्य पदार्थ मे सक्रान्त विषोत्पादक जीवाणु शरीर मे पहुँचकर उपभोक्ता को रोगग्रस्त बना देते हैं । रोगी के द्वारा भी अनेक रोगो का प्रसार होता है । कुछ रोग ऐसे है, जो प्राणियो से मनुष्यो को हो जाते है । जैसे—मूषक से वातालिका (प्लग), मूषक दशज्वर और तन्द्रिक ज्वर होता है । श्वान से श्वानज्वर होता है । इसी प्रकार—**अस्वस्थ वाता-**

वरण मे भेड, अश्व, गो-वृषभ, शूकर, पक्षी और मछली के सपर्क से अनेक प्रकार के रोग हो जाते है।

धूल—राजयक्ष्मा का रोगी यत्र-तत्र थूकता रहता है तो थूक के साथ असख्य जीवाणु मिट्टी मे मिल जाते है और वह मिट्टी सूख कर धूल वन जाती है। उसमे वच्चे खेलते है जिससे धूल उडकर मनुष्यो के फुफ्फुसो मे चली जाती है और साथ ही जीवाणु भी वहाँ पहुँचकर आक्रान्त व्यक्ति को यक्ष्मा का रोगी वना देते है। इसी प्रकार अन्य अनेक रोगाणु मनुष्यो मे सक्रान्त होकर उन्हे रोगी वना देते है।

भूमिदेश के पर्यावरण-प्रदूषण के अनेक माध्यमो से रोगोत्पत्ति या रोगो का प्रसार होता है। जैसे —

१ खाद्य पदार्थ जव दूषित होता है, तो उसमे प्रविष्ट जीवाणु शरीर मे जाकर रोग उत्पन्न करते हैं।

२ पाकशाला का रसोइया या अन्य भृत्य, अशुद्ध हाथो से पात्रो और खाद्य पदार्थों का स्पर्श करते है।

३ खाद्य पदार्थों पर दूषित स्थानो से आकर मक्खियाँ वैठती है।

४ ग्वाले अशुद्ध हाथो से अशुद्ध पात्रो मे दूध दुहते हैं।

५ इस प्रकार खाद्य-पेय के प्रदूषण से आन्त्रिक ज्वर, अतिसार, सग्रहणी, हैजा, यकृत् शोथ आदि रोग होते है।

उपचार

भूमिदेश प्रदूषण से उत्पन्न रोगो का उपचार उन रोगो की चिकित्सा मे वतलाये प्रकार से करना चाहिए।

(२) काल

प्राचीन वाङ्मय मे कहा गया है, कि काल राजा के अधीन होता है और वह जैसा चाहता है, वैसा माहौल वना लेता है—'राजा कालस्य कारणम्'।

इस शताब्दी के वर्ष १९९० के सितम्वर-अक्टूवर-नवम्वर की तारीखे इस वात की प्रत्यक्ष गवाह है, कि राजा जिस करवट चाहे, काल को उसी करवट चीखना-चिल्लाना पडेगा। जिसका साक्षी अयोध्या का मन्दिर-मस्जिद विवाद है। जहाँ की यात्रा प्रतिवन्धित कर पूर्वी उत्तर प्रदेश की जनता को सत्रस्त किया गया और इस वीच धर्मनिरपेक्षता की नग्नता वेआवरू होकर अपनी सस्कृति की विवशता का घृणित उपहास करती रही और करोडो लोग शारीरिक किं वा मानसिक यातना की शृखला मे आवद्ध हो गये। यह काला मौसम इतिहास को विकृत एव वीभत्स सन्दर्भो से कलङ्कित कर गया।

काल के पर्यावरण-प्रदूषण का लक्षण है —ऋतुओ का अतियोग, मिथ्यायोग और हीनयोग होना। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु मे अधिक गर्मी पडना, हद से ज्यादा ग्रीष्म सन्ताप वढ़ जाना, यह ग्रीष्मकाल का अतियोग है। गर्मी पडने के वजाय जाडा

पड़ना या बरसात होना मिथ्यायोग है तथा ग्रीष्म ऋतु मे अल्प गर्मी का पडना ग्रीष्म का हीनयोग है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओ के प्रदूषण को भी जानना चाहिए।

काल के अपने गुण से विपरीत गुणयुक्त होने से अनेक प्रकार के रोगो के सक्रमण आ जाते है और उनके सक्रमण विभिन्न प्रकार के होते है।

काल-प्रदूषण से विकारकारी जीवाणुओं का संक्रमण

१ **प्रत्यक्ष सम्पर्क**—विकारकारक जीवाणु शरीर के अवयवो पर सीधे आक्रमण कर उन्हे रुग्ण बना देते है। जैसे—त्वचा मे पामा, कवकरोग (Fungus infection) विसर्प, नेत्राभिष्यन्द आदि।

२ **सहवास**—रोगाक्रान्त स्त्री या पुरुष के परस्पर सहवास से मैथुनजन्य रोगो की उत्पत्ति होती है, जैसे—फिरग, उष्णवात (सुजाक) आदि।

३ **प्रत्यक्ष अन्त क्षेपण** (Direct inaculation)—कीटो या प्राणियो द्वारा शरीर मे विकारकारक तत्त्व का अन्त क्षेपण कर दिया जाता है, जैसे—

(i) पागल कुत्ते के काटने से अलर्क विप का अन्त क्षेपण हो जाता है।

(ii) चूहे के काटने से मूषिक दशज्वर उत्पन्न हो जाता है।

(iii) मच्छर के काटने से मलेरिया, फाइलेरिया, पीतज्वर और डेंग्यू ज्वर का सक्रमण होता है।

(iv) पिस्सू प्लेग फैलाता है और विसूचिका, मोतीझरा तथा सग्रहणी रोग मक्खियो द्वारा फैलाये जाते है।

४ **वायु द्वारा प्रसार**—वायु द्वारा रोहिणी (डिफ्थीरिया), हूपिंग कफ, लोहित ज्वर, रोमान्तिका तथा इन्फ्लुएञ्जा आदि का प्रसार होता है।

५ **वायुयान-जलयान**—आजकल यातायात की सुविधा वढने से रोगी और रोगवाहक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान मे आते-जाते रहते है, इसलिए रोगो की सार्वदेशिकता वढ जाती है।

मनुष्य-शरीर में कीटकों के प्रवेश-मार्ग

१ **श्वसनमार्ग** से राजयक्ष्मा, कुकुरखाँसी, रोहिणी, मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, फुप्फुसपाक और मस्तिष्कसुषुम्ना ज्वर।

२ **पाचन-प्रणाली** से विसूचिका, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, कृमि-विकार, सग्रहणी आदि।

३ **त्वचा** से मलेरिया, कालाजार, अलर्कविष, फाइलेरिया आदि।

४ **जननेन्द्रिय** की त्वचा के सस्पर्श से फिरग, उष्णवात, उपदश आदि।

उपचार

उक्त रोगो का उपचार उन रोगो की चिकित्सा-विधि के अनुसार और पर्यावरण के शोधन द्वारा करना चाहिए।

वातावरण-प्रभावजन्य प्रतिश्याय

प्रतिश्याय एक ऐसा रोग है, जो वहुत से रोगो का पुरोगामी और अनेक रोगो के निदान की पृष्ठभूमि तैयार करता है, जैसे—हँसी-हँसी मे झगडा खडा होकर, वडा वखेडा और जखीरा जमा देता है, वैसे ही यदि प्रतिश्याय की तात्कालिक चिकित्सा नही की गयी, तो वह राजयक्ष्मा का रूप धारण कर सकता है। इसलिए इसे आरम्भ मे ही रोकने का उपचार करना चाहिए।

निदान

वातावरण-सम्बन्धी कारण—सामान्यत यह सभी ऋतुओ मे होता है, परन्तु हेमन्त और शिशिर मे तथा ऋतुसन्धि (निवर्तमान ऋतु का अन्तिम और आगामी ऋतु का आदिम सप्ताह) मे प्रवल रूप से उत्पन्न होता है। शीतकाल मे लोग मकान की खिडकी-दरवाजा वन्द करके रहते-सोते है, जिससे वातावरण की शुद्धि नही हो पाती और तज्जन्य प्रदूषण वढ जाता है। एवञ्च तीर्थस्थानो मे मेले के कारण जनाकीर्णता, दुष्प्रवीजन, धूलि, धुआँ, आर्द्र वातावरण आदि कारणो से प्रतिश्याय हो जाता है।

व्यक्तिगत कारण—आहारदुष्टि, अल्पाहार, क्षुधा, अतिपरिश्रम, शीत लगना, अति स्त्री-प्रसङ्ग, शिर मे धूप लगना, मल-मूत्र-वेगधारण, गले का या नासिका के रोग आदि प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं।

संक्रमण—प्रतिश्याय का रोगी जव उच्च स्वर मे वोलता है, खाँसता या छीकता है तो सामने के वातावरण मे थूक के सूक्ष्मकण (जो जीवाणुयुक्त होते है) फैल जाते है और वे समीपस्थ व्यक्ति के श्वसनसस्थान मे पहुँचकर उपसर्ग उत्पन्न करते है, जिसके फलस्वरूप प्रतिश्याय रोग उत्पन्न हो जाता है।

प्रतिश्याय के लक्षण

शिर मे भारीपन, छीके आना, अङ्गमर्द, रोमाञ्च, आलस्य, क्लान्ति, ज्वराश होना, पृष्ठवश और हाथ-पैरो मे वेदना, त्वचा का शुष्क तथा रूक्ष होना, मूत्र का रग गाढा होना, नासाद्वार वन्द होना या नासिका से अधिक जलस्राव होना और खाँसी आना आदि प्रतिश्याय के लक्षण है।

निवारक उपचार

१ प्रतिश्याय-जनक कारणो का परित्याग करना चाहिए।

२ मेला आदि भीड-भाड वाले स्थानो मे नही जाना चाहिए।

३ शुद्ध जलवायु वाले स्थान मे निवास, परिभ्रमण, व्यायाम, यथासमय स्नान-भोजन-शयन करना चाहिए।

४ किन्ही भी अधारणीय वेगो को विल्कुल न रोके और विवन्ध न होने दे।

५ शीत या ताप से आवश्यकता से अधिक शरीर की रक्षा न करे।

स्थानीय चिकित्सा

१ कट्फल की त्वचा के वारीक चूर्ण का प्रतिदिन ३ वार नस्य देवे ।

२ नीलगिरि के तेल मे कपूर मिलाकर सूँघना चाहिए ।

३ लवण मिश्रित सुखोष्ण जल का गरारा करे तथा नासा-प्रक्षालन करे ।

४ एफेड्रिन सल्फेट का १% घोल नमक के पानी मे वनाकर नासा-गला का प्रक्षालन करे ।

५ यूकेलिप्टस तेल, तारपीन तेल और टिंक्चर वेञ्जोइन प्रत्येक १-१ चम्मच को गरम पानी मे डालकर भाप सूँघना चाहिए ।

६ पञ्चगुण तैल, पड्बिन्दु तैल, वासाघृत या चित्रकघृत को रुई मे भिगोकर कुछ समय नाक मे रखना लाभकर है ।

आभ्यन्तर चिकित्सा

१ **कफ-नि सारणार्थ**—वनपसादि क्वाथ सवेरे-शाम पिलावे । **योग**—गुलवनपसा ३ ग्राम, मुलहठी ६ ग्राम, लिसोडा २ ग्राम, अडूसा की पत्ती २ ग्राम, कालीमरिच १ ग्राम, मुनक्का ६ ग्राम, सोठ ६ ग्राम—इन सबको ½ लीटर जल मे पकाकर चतुर्थाश शेष रहने पर १० ग्राम चीनी मिलाकर २ बार पिलावे ।

२ शृगभस्म ३०० मि० ग्रा०, सौभाग्यवटी २०० मि० ग्रा०, नरसार ३०० मि० ग्रा०/१ मात्रा —ऐसी ३ मात्रा दिन मे ३ बार गरम जल से देवे ।

३ **बल सरक्षणार्थ**—महालक्ष्मीविलास ३०० मि० ग्रा०/२ मात्रा शवेरे-शाम पान के रस और मधु से देवे ।

४ स्वेदन, वमन और अवपीड नस्य का प्रयोग हितकर है ।

५ नूतन प्रतिश्याय के परिपाक के लिए स्वेदन तथा अम्लरस के साथ उष्ण पदार्थों का सेवन लाभकर होता है ।

६ दूध अथवा गुड या चीनी के साथ आर्द्रकस्वरस अथवा शुण्ठी चूर्ण २-३ ग्राम का दो-तीन वार प्रतिदिन प्रयोग करे ।

७ प्रतिश्याय मे कफ द्रवीकरणार्थ एव उसे निकालने के लिए १ कप दूध मे १ चम्मच आदी का रस डालकर हल्का गरम कर १ वडा चम्मच चीनी डालकर, सवेरे-शाम पिलाने से कफ पक कर आसानी से निकल जाता है । यह अनेकश अनुभूत है ।

व्यवस्थापत्र

१ सञ्जीवनी वटी	५०० मि० ग्रा०
अभ्रकभस्म	५०० मि० ग्रा०
प्रवालभस्म	२०० मि० ग्रा०
चन्द्रामृत	५०० मि० ग्रा०
तालीसादि चूर्ण	३ ग्राम
दिन मे ३ वार मधु से ।	३ मात्रा

२ वनप्सादि क्वाथ — १०० मि० ग्रा० / २ मात्रा
प्रात -साय पिलावे ।

३ ९ बजे व २ बजे—
आर्द्रकावलेह १-१ ग्राम चूसकर खिलावे ।

४ भोजनोत्तर २ बार—
द्राक्षारिष्ट — ५० मि० ली० / २ मात्रा
समान जल से पिलावे ।

५ रात मे सोते समय —
आरोग्यवर्धिनी वटी — १ ग्राम / १ मात्रा
सुखोष्ण जल से ।

पथ्यापथ्य

उष्ण निवासस्थान मे निवास एव शयन, शिर पर उष्ण-गुरु वस्त्र-धारण, तीक्ष्ण शिरोविरेचन, तीक्ष्ण धूम का सेवन, लघन करना, पाचन औषध-सेवन और अग्नि-प्रदीपक औषध-सेवन **पथ्य** है ।

शीतल जल से स्नान, चिन्ता, शोक, मैथुन, अतिरूक्ष भोजन, नूतन मद्य का पान और मल-मूत्रादि वेगधारण **अपथ्य** है ।

(३) जल

जल जीवन-यात्रा का एक अतीव उपादेय सबल है । जल के बिना जीवन का निर्वाह असभव है । शरीर के घटक अवयवो (रक्त, मासपेशी, मस्तिष्क आदि) मे यह लगभग ८० प्रतिशत होता है । जल शरीर की आन्तरिक एव बाह्य सफाई के लिए एक अत्युपयोगी वस्तु है । जलीयाश के माध्यम से ही पोषक तत्त्व रक्त मे सचरण करते हुए शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो तक पहुँचकर उनका पोषण करते है ।

शरीर में जल के प्रमुख कार्य

१ रक्त एव लसीका की तरलता को सन्तुलित रखना ।
२ आहार रस के शरीर-सञ्चरण मे माध्यम बनना ।
३ शरीरतन्तुओ के पोषणार्थ जलापूर्ति करना ।
४. उत्सर्जन योग्य तत्त्वो को शरीर से बाहर निकालने मे मदद करना ।
५ शरीर की ऊष्मा का शरीर मे यथायोग्य विकिरण करना और शरीर मे तापक्रम को सन्तुलित रखना ।

जल की अशुद्धियाँ

१ जल मे घुली अशुद्धियो मे कार्बोलिक एसिड, ऑक्सीजन, सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन या क्लोराइड लवण, कैल्सियम, मैग्नेसियम, सल्फेट तथा लौह आदि धातुएँ और भूमि से मिलने वाले आर्गनिक पदार्थ आदि होते है ।

२. अवलम्बित अशुद्धियो मे बालू, मिट्टी एव वनस्पतियाँ, पशुओ से प्राप्त अशुद्धियाँ, जीवाणु तथा कृमि आदि पाये जाते है।
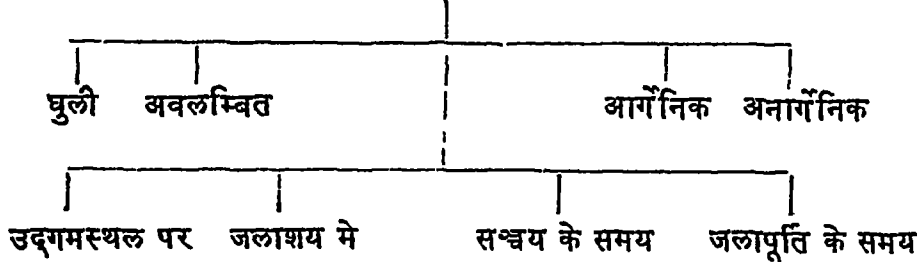
अशुद्ध जलजन्य रोग

१ अतिविकृत गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्शवाला, क्लेदबहुल, जलचर पशु-पक्षियो द्वारा परित्यक्त और अप्रिय तथा गुणरहित जल अनेक प्रकार के रोगो का जनक होता है।

२ काठिन्य दोषयुक्त जल के प्रयोग से अजीर्ण, अतिसार एव अन्य उदरविकार होते हैं।

३ जीवाणुयुक्त जल के प्रयोग से तज्जन्य रोग होते है, जैसे—आन्त्रज्वर, प्रवाहिका, अतिसार, विसूचिका, कामला आदि।

४. परोपजीवी कृमिरोग, जैसे—गण्डूपद कृमि, अकुश कृमि, अमीबिक डिसेण्ट्री तथा पानी मे बढनेवाले मच्छरो से मलेरिया आदि रोग होते है।

जल का शोधन

सामान्यत. जल का शोधन दो प्रकार से होता है—१ मार्जन से और २ प्रसादन से।

१. मार्जन—आग पर गरम कर, धूप मे तपाकर, आग मे तपाये हुए लौहपिण्ड से, ईंट या बालू आदि डालकर पुन छानकर शुद्ध करना मार्जन है।

डेग मे गरम कर तिर्यक्पातनयन्त्र से चुराया हुआ परिस्रुत जल (Distilled water) शुद्ध एव उत्तम होता है।

२. प्रसादन—निर्मलीबीज, शैवाल, फिटकरी, तूतिया, ब्लीचिंग-पाउडर या पोटैसियम परमैंगनेट डालकर जल का शोधन करना प्रसादन है। जिससे जल निर्मल हो जाता है।

जल के रासायनिक शोधन मे 'स्टेरिलाइजेशन' तथा जीवाणुनाशन हेतु उत्तम विधि 'क्लोरिनेशन' की है। जल का क्लोरिनेशन ब्लीचिंग पाउडर या क्लोरिनेटेड लाइम से किया जाता है। इस प्रयोग से उत्पन्न क्लोरीन गैस के प्रभाव से जलप्रदूषक जीवाणु मर जाते हैं।

घरेलू प्रयोगार्थ जल का शोधन—डिस्टिलेशन, ब्वायलिंग, फिल्ट्रेशन अथवा रासायनिक पदार्थो द्वारा किया जाता है, जैसे—फिटकरी, तूतिया, चूना, ब्लीचिंग पाउडर, ब्रोमीन, आयोडीन, पोटैसियम परमैंगनेट आदि। नदियो के किनारो पर बसे

हुए वडे नगरों मे पम्पिग सिस्टम से बृहदाकार जलाशयो मे वडे पैमाने पर जल का सञ्चय किया जाता है और फिटकरी डालकर जल का प्रसादन किया जाता है, जिससे नीचे तलहट वैठ जाता है और पानी निथर जाता है। पुन दूसरे-तीसरे जलाशय मे भेजकर जल को निर्मल किया जाता है। तत्पश्चात् क्लोरीन डालकर मन्थन कर जल-भण्डारो मे सगृहीत किया जाता है, फिर ऊँचाई पर वनी टकियो मे भरकर जल का वितरण भूमिगत पाइपो से यथास्थान आवश्यकतानुसार किया जाता है।

(४) वायु

वायु की उपादेयता

शरीर की सपूर्ण जीवनी क्रियाओ मे वायु का स्वस्थ सहकार अपेक्षित होता है। वायु की सक्रियता के विना क्षणभर भी जीना असभव है। वायु के सयोग से ही आहार का चयापचय होकर जीवनी शक्ति प्राप्त होती है। श्वास-प्रश्वास द्वारा रक्त का शुद्धीकरण, शक्ति-उत्पादन, शरीरताप-परिरक्षण तथा आहाराश का उपयोग आदि, सभी प्रकार की जीवन-परिचायक क्रियाओ का होना तभी सभव है, जब शरीर को पर्याप्त मात्रा मे शुद्ध वायु प्राप्त होती रहे। शरीर की समस्त चेष्टाओ का प्रवर्तक वायु है। वह मन का नियन्ता और प्रेरक है। वायु इन्द्रियार्थो का ग्रहीता, वाणी का प्रवर्तक, शब्द-स्पर्श का ग्राहक, शरीर का सन्धानकारक, अग्नि का प्रेरक, वहिर्मलो का क्षेपक, गर्भाकृति-निर्माणकर्ता और आयुष्य का अनुवर्तन करनेवाला है।

वायु की स्वस्थावस्था मे शरीर की सभी क्रियाएँ व्यवस्थित होती हैं। इसके विपरीत प्रकुपित वायु शरीर मे अनेकानेक रोगो को उत्पन्न करता है और प्राणावरोधक हो जाता है। वायु के जो जीवनोपयोगी कर्म कहे गये है, वे प्राणवायु के है और प्राणवायु का वैज्ञानिक नाम ऑक्सीजन है, जो जीवन के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। वही मेटावोलिज्म (चयापचय) का सम्पादक तथा ऊर्जा का स्रोत है। ऑक्सीजन जव श्वास वायु मे अपेक्षित अनुपात मे रहता है, तो मनुष्य का जीवन प्राकृत एव स्वस्थ रहता है। जव वायु मे कार्वन-डाई-आक्साइड की मात्रा वढती है, तो वह वायु अस्वास्थ्यकर होती है। प्रकृति स्वयमेव कार्बन-डाई-आक्साइड की वृद्धि से होने वाले प्रदूषण के नियन्त्रण के लिए विशिष्ट भूमिका निभाती है।

सभी हरितवर्गीय वनस्पतियाँ अपने क्लोरोफिल की सहायता से वायुमण्डलीय कार्वन-डाई-आक्साइड को सूर्य-प्रकाश की उपस्थिति मे फोटो सिन्थिसिस की प्रक्रिया से उपयोग मे लाकर अपने पोषक तत्त्व का निर्माण करती है। ज्ञातव्य है कि रात्रि मे ये वनस्पतियाँ कार्वन-डाई-आक्साइड छोडती है, इसीलिए रात्रि मे वृक्ष के नीचे निवास करना मना किया गया है—'नक्त सेवेत न द्रुमम्'।

पर्यावरण-प्रदूषक वायु के लक्षण और अशुद्धियाँ

ऋतुविपरीत, अतिमन्द, अतितीव्र, अतिपरुष, अतिशीत, अतिउष्ण, अतिरूक्ष, अति अभिष्यन्दी, अतिगर्जनयुक्त, अतिकुण्डलित, विकृतगन्ध-वाष्पयुक्त, धूलिमय,

धूमाकुल, बालुकामय, ककणयुक्त, सिकतायुक्त, कार्बन-डाई-आक्साइड की वृद्धि, जलने या सडने से उत्पन्न वायव्य पदार्थमिश्रण, पशुओ एव वनस्पतियो द्वारा कार्बन-डाई-आक्साइड छोडा जाना, कारखानो, मोटरगाडियो, रेलो से निकले धूम से कार्बन-डाई-आक्साइड, मोनो आक्साइड और गन्धकाम्ल आदि दूषित पदार्थो का वायु मे मिलना, मल-मूत्रवाहक प्रणाली की अस्वच्छता से उत्थित दुर्गन्धित एव अस्वास्थ्य-कर वायु तथा सक्रामक जीवाणुओ का वायुमण्डल मे प्रवेश होना, रुग्ण व्यक्तियो एव पशुओ के रोगोत्पादक जीवाणुओ का वायु मे मिलना और धूल-रूई के कण, पराग, खनिज द्रव्यो के कणो एव रेशो का वायुमण्डल मे प्रविष्ट होने आदि कारणो से वायु प्रदूषित हो जाता है ।

अशुद्ध वायु से होनेवाले रोग

१ आलस्य, अरोचक, वमनेच्छा, प्रतिश्याय, कास-श्वास, राजयक्ष्मा, अग्निमान्द्य, अनिद्रा, दौर्बल्य, मूर्च्छा आदि ।

२ वायुप्रसर (Air born epidemics) से राजयक्ष्मा, कुष्ठ, चेचक, डिफ्थी-रिया आदि की उत्पत्ति होती है ।

३ धूलिकणयुक्त वातावरण मे, सिलिकोसिस (Silicosis), साइड्रोसिस (Sidrosis), एन्थ्राकोसिस (Anthracosis) और एलर्जी सम्बन्धित रोग होते है।

निवासस्थान में वायु के आवागमन की व्यवस्था

वायु के आवागमन (Ventilation) के दो प्रकार होते है—१ बाह्य (External) और २ अन्त (Internal) ।

बाह्य आवागमन—नगर या कालोनी, ग्राम या मुहल्ला के भीतर और बाहर, चारो ओर खुली वायु के आने-जाने का मार्ग प्रशस्त होना चाहिए। जब बाह्य वेण्टिलेशन समुचित होगा, तो अत वेण्टिलेशन भी उपयुक्त हो सकेगा। एतदर्थ निम्नाङ्कित उपाय करने चाहिए—

१ ग्राम या नगर शुद्ध वायुमण्डल वाले खुले स्थान मे बसाना चाहिए ।

२ आवास या गृह अलग-अलग पक्तिबद्ध बनाने चाहिए ।

३ प्रत्येक घर के चारो ओर खुला स्थान होना चाहिए । यदि ऐसा करना सभव न हो, तो कम से कम दो ओर से तो अवश्य खुला रखे ।

४ सडकें और गलियाँ शिकस्त न हो, अपि तु चौडी रखे ।

५ घरो की छते पर्याप्त ऊँची हो । सडको और गलियो मे जल का छिडकाव हो, ताकि धूल उडकर वायु को दूषित न करे ।

६. बस्ती के मध्य मे उद्यान हो, जहाँ ट्यूबवेल हो और हरियाली रहे ।

७ कारखाने और ईंट के भट्ठे, चूडा कूटने की मशीन आदि धुआँ उगलनेवाले उद्योग और चर्म उद्योग आदि नगर से दूर हो ।

८. मल-मूत्र विसर्जन के स्थान स्वच्छ रखे जाये और वहाँ जल की उचित व्यवस्था हो ।

वायु की शुद्धि

१ वायु के शोधन का सर्वोत्तम प्रकार है—वायु के निर्बाध आगमन के लिए आवास के अगल-बगल का स्थान खुला रखना ।

२, धूपन द्रव्यो को आग मे जलाने से वायु का शोधन होता है, जैसे—धूप, गुग्गुलु, जटामसी, पीली सरसो, अगरु, तगर, राल, निम्बपत्र, कपूर आदि ।

३ वातावरण के ताप-नियन्त्रण के लिए घरो मे शीत-तापनियन्त्रक (Air conditioner) लगाकर ताप-नियन्त्रण करे ।

४ गर्मियो मे वायुनिष्कासक पखे (Exhaust fan) तथा रूम-कूलर लगाकर ताप का नियमन करे ।

५ वातावरण को शीत रखने के लिए दिन मे खिडकी-दरवाजे बन्द कर उन पर हरे पर्दे लगाकर सूर्यप्रकाश को रोके ।

६ खस की टट्टी लगाकर उन पर जल का छिडकाव करे ।

७ स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से गर्मियो मे पर्वतीय प्रदेशो मे निवास करना चाहिए । वहाँ वायुप्रदूषण अल्प होता है ।

शव-विनाशन से पर्यावरण-प्रदूषण का बचाव

मृत्यु जीवन का एक अनिवार्य अन्तिम परिणाम है । कदाचित् वार्धक्य, व्याधि, दुर्घटना, विष-प्रयोग या युद्ध के कारण लोग-बाग अकस्मात् मृत्यु के आगोश मे गिरफ्त हो जाते है । मृत शरीर के विनाशन का ऐसा प्रकार होना चाहिए, जिससे पर्यावरण-प्रदूषण न हो । एतदर्थ निम्नलिखित विधियाँ प्रयुक्त होती है—

१ **विद्युद्दाह**—विद्युत् के स्पर्श से दाह करना सर्वोत्तम है, क्योकि इसमे अल्प समय लगता है और वायु-दूषण की सभावना अल्प होती है ।

२. **अग्निदाह**—यह विधि महगी है और अधिक समय एव श्रम लगता है । देर तक शवदाह से वायुप्रदूषण होता है । कदाचित् अर्धदग्ध शव का जलप्रवाह कर देने से जल प्रदूषित होता है ।

३ **कब्र मे दफनाना**—यद्यपि पर्यायवरण की दृष्टि से गड्ढे मे शव का दफनाना ठीक है, किन्तु यह व्यावहारिक नही है, क्योकि इसके लिए पर्याप्त भूमि की आवश्यकता पडती है और आबादी बढकर कब्रगाहो के चारो ओर फैल जाती है । तब फिर पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है ।

४ **जलसमाधि**—यह विधि उचित नही है । इससे जल-प्रदूषण होता है ।

५ **सक्रामक शव**—किसी सक्रामक रोग से मृत व्यक्ति के शव के रख-रखाव मे विशेष विसक्रामक द्रव्यो के प्रयोग से सक्रमण को रोकना चाहिए ।

६ **पोस्टमार्टम**—आकस्मिक दुर्घटना या जलने या जहरखोरी या हत्या से मरे शव के विनाशन के पूर्व उसका पोस्टमार्टम तथा अन्य वैधानिक कार्यवाही करा लेनी चाहिए ।

७ **रजिस्ट्रेशन और मृत्यु-प्रमाणपत्र**—शव-विनाशन के पूर्व यदि रोगी अस्पताल मे मृत हो, तो वहाँ से मृत्यु-प्रमाणपत्र ले लें और श्मशानघाट के निकट नगरपालिका-कार्यालय से भी रसीद ले लेनी चाहिए।

औद्योगिक संस्थानगत पर्यावरण
(Industrial Environment)

औद्योगिक सस्थानो मे विशेप प्रकार के वातावरण मे जीना पड़ता है। रासायनिक द्रव्यो के प्रयोग तथा धुआँ आदि के कारण वहाँ का पर्यावरण प्रदूपित होता रहता है। औद्योगिकीकरण के साथ पेट्रोल, कोयला आदि की खपत अधिक होने लगी है। कोयला एव पेट्रोल से कार्वन निकलकर वातावरण मे मिल जाता है, जहाँ उसे आक्सीजन गैस मिलती है और फिर कार्वन-डाई-आक्साइड वनकर वातावरण मे फैल जाती है।

बढती हुई आवादी को वसाने के लिए वनो को काटकर जगह वनायी गयी। पेडो के कटने से फोटो-सिंथिसिस की क्रिया कम हो गयी। फोटो-सिंथिसिस की क्रिया द्वारा पेड वातावरण से कार्वन-डाई-आक्साइड ले लेते थे। जव पेडो को काट डाला गया, तव वातावरण मे कार्वन-डाई-आक्साइड बढने लगी।

औद्योगिक पर्यावरण प्रदूषण से रक्षा के लिए कुछ सिद्धान्त बनाने चाहिए। जैसे—

१ औद्योगिक सस्थान नगर से कुछ दूर—वाहर वनाने चाहिए।

२ ये खुले वायुमण्डल मे हो और जहाँ आवादी न हो, वहाँ बनाये जाये।

३ सस्थान के विभिन्न प्रखण्डो को अलग-अलग रखना चाहिए तथा कार्यशाला, कार्यालय, आवासीय गृहसमूह, कच्चे माल का भण्डार, अपद्रव्य-भण्डार तथा तैयार माल-भण्डार, स्कूल, बाजार, खेल-मैदान एव मनोरञ्जन-केन्द्र, जल-ससाधन आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

४ कार्यशाला मे पर्याप्त प्रकाश, वायु के आवागमन और शुद्ध जल की व्यवस्था-आपूर्ति, वेण्टिलेटर्स, पखे, एग्जहास्ट फैन्स आदि यथास्थान लगे होने चाहिए।

५ दूषित वायु, जल तथा अपद्रव्यो के निकास की व्यवस्था हो।

६ पर्यावरण-प्रदूषण की रोकथाम, अत्यधिक चिकित्सा-व्यवस्था, कर्मचारी स्वास्थ्य-परीक्षण आदि होते रहना चाहिए।

७ धुआँ निकलने की चिमनी ऊँची हो और गन्दे जल की निकासी वन्द नालियो द्वारा आवासो से दूर की जाय।

८ कच्चे माल के भण्डार तथा अपद्रव्य सञ्चय-स्थान को भी प्रदूषण से वचावे, जिससे इन स्थानो से वायु एव जल का प्रदूषण न हो।

९ कार्यालय को कार्यशाला से थोडी दूर वनावे और उसमे प्रकाश, वायुसञ्चार, मूत्रालय-शौचालय आदि की व्यवस्था हो।

१० आवासीय क्षेत्र, खेल-मैदान, मनोरञ्जन-केन्द्र, स्कूल आदि मे जलापूर्ति आदि आवश्यकतानुकूल हो ।

११ समस्त क्षेत्र मे सडक, प्रकाश, प्रदूषण की रोकथाम, जलनिकासी आदि समुचित रूप से होनी चाहिए ।

व्यावसायिक पर्यावरण

(Occupational Environment)

बहुत से ऐसे व्यवसाय है, जिनसे पर्यावरण-प्रदूषण का खतरा हो सकता है । जैसे--पशु-पालन, पशु-वध, फल-सब्जी का व्यवसाय, रूई धुनाई, रगाई, लकडी चिराई और खराद, ईंट-भट्ठा, चीनी मिल आदि ।

पशु-पालन—१ पशुओ को सन्तुलित पोषक आहार, पर्याप्त शुद्ध जल एव प्रकाश और वायुसञ्चरण उपलब्ध होना चाहिए । बीमार पशुओ की उचित चिकित्सा और देखभाल होनी चाहिए ।

२ दुधारू पशुओ के पोषण तथा रख-रखाव की विशेप व्यवस्था करे । उनका पूर्ण स्वस्थ और सक्रमणरहित होना आवश्यक है ।

३ पशुओ से दूध निकालने दूध के भण्डारण तथा विक्रय-स्थल तक पहुँचाने की निरापद और स्वच्छ व्यवस्था होनी चाहिए ।

४ पशुपालन-केन्द्र पशुचिकित्सको की देखरेख मे सचालित होने चाहिए। पशुओ के स्वास्थ्य की जाँच होती रहे, जिससे पशुओ के माध्यम से होनेवाले रोगो से मनुष्य सुरक्षित रह सके ।

पशु-वध—यह नगर से हटकर एकान्त मे नगर स्वास्थ्य अधिकारी की देखरेख मे चलना चाहिए। इन स्थानो की विधिवत् धुलाई, सफाई और अपद्रव्य-अपसारण किया जाना चाहिए। विकृत मास का विक्रय न हो और मक्खियाँ नही लगनी चाहिए ।

फल-सब्जी व्यवसाय—ये दूकाने किसी एक ओर हो। सड़े-गले-कटे फलो का विक्रय प्रतिबन्धित हो एव खराब दूषित फल जमीन मे गडवा दिये जाये, जिससे पर्यायवरण प्रदूषित न हो ।

ईंट-भट्ठे—ईंट पकाने के भट्ठे और-चिमनी से पर्यावरण का प्रदूपण होता है। उठनेवाले धुएँ या धूल से नगर या ग्राम के पर्यावरण को बचाने के लिए ये व्यवसाय नगर से कुछ किलोमीटर दूर ही रखे जाने चाहिए।

चीनी मिल आदि—मिलो की चिमनियो से धुआँ निकलते रहने से, गन्ने की गाडियो की धूल से, अपद्रव्यो के भण्डारण से, गन्दे जल की निकासी से पर्यावरण प्रदूषण होता है। इसलिए मिलो का क्षेत्र अलग ही होना चाहिए।

इन मिलो मे प्रयुक्त रासायनिक द्रव्यो के वायुमण्डल मे मिलने से, धुएँ से, दुर्घटना से या अन्य किन्ही कारणो से बीमार होनेवाले जनो की चिकित्सा के लिए

मिलो की सीमा मे ही साधन-सम्पन्न चिकित्सालय स्थापित होने चाहिए, जहाँ अहर्निश चिकित्सा-सेवा प्राप्त हो सके।

युद्धजनित पर्यावरण-प्रदूषण और व्याधियाँ

परस्पर विजिगीपु राजा शत्रु राजा के देश या शिविर के पार्श्ववर्ती भू-भाग मे विषो का सक्रमण फैलाकर पर्यावरण को प्रदूषित कर देते है,[1] जिसके फल-स्वरूप वहाँ के जल, वायु, मार्ग और अन्न आदि दूषित हो जाते है। परिणामत विषदूषित वायु, अन्न, जल आदि के प्रयोग से तत्स्थानीय प्राणी मूर्च्छा, वमन, अतिसार आदि से ग्रस्त हो जाते है। एवञ्च विषैले गैसो के प्रयोग से धुआँ पैदा कर और वायु को विषाक्त बनाकर सामूहिक नरसहारकारक उपायो के प्रयोग से नभचर प्राणी श्रमित होकर पृथ्वी पर गिर पडते हे और पृथ्वी के प्राणी खाँसी, दमा, प्रतिश्याय, शिरोरोग तथा नेत्ररोग आदि से ग्रस्त हो जाते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धो मे कई प्रकार की तीव्र विषैली गैसो का प्रयोग किया गया था। विष के प्रभाव से खाद्य, पेय, भक्ष्य सामग्री और जल तथा वायु आदि विषाक्त हो जाते है। गैस के रूप मे, चूर्ण के रूप मे, तैल छिडकाव के रूप मे या अन्य प्रकारो से जल, स्थल तथा वायुमण्डल को दूषित किया जाता है।

अभी-अभी जनवरी-फरवरी १९९१ मे बहुराष्ट्रीय सेना और इराक के युद्ध मे कुवैती-सऊदी अरब सीमा से लगे समुद्र मे ६० किलोमीटर लम्बे और १५ किलोमीटर चौडे क्षेत्र मे कच्चे तेल का बहाव किया गया और यह क्षेत्र और अधिक लम्बा और चौडा हो गया। इस कच्चे तेल मे आग लगायी गयी, जिसके परिणामस्वरूप भयावह पर्यावरण प्रदूषण बढ गया। कई नस्लो के समुद्री प्राणी और समुद्री पक्षी समाप्त हो गये। हजारो मछुआरो की आजीविका युद्ध के क्रूर जबडे मे समा गयी। कुवैत से अम्मान तक समुद्र के किनारे बसनेवाली पाँच लाख की आबादी पेयजल के सकट से ग्रस्त हो गयी। इन इलाको मे समुद्री जल का परिशोधन कर पेय जल प्राप्त किया जाता है, क्योकि अन्य जलस्रोत अनुपलब्ध है (इराक के पास कच्चे तेल का इतना भूतल (Underground) भण्डार है, कि वह विश्व के सभी समुद्री इलाको को तैलमग्न कर सकता है।)

मानवता की रक्षा, पर्यावरण एव जीव और जीवन के अस्तित्व के लिए इस युद्ध को रोकना, पर्यायवरणविदो तथा विश्व-मानवतावादी सगठनो और व्यक्तियो का प्राथमिक उत्तरदायित्व है। अमेरिका और इराक का स्वार्थ मानवता की अनदेखी कर पूरे विश्व को सकट मे डाल रहा है। पर्यायवरण विशेषज्ञ डाक्टर अब्दुल्ला विहैक का विचार है, कि तेल-बहाव का प्रभाव भारत के तटीय इलाको पर भी पडेगा और उससे मानसून की वर्षा का जल प्रभावित होगा, परिणामस्वरूप काले जल की वर्षा भी हो सकती है।

---

१. राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बुमार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
सन्दूषयन्त्येभिरतिप्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान्॥ सुश्रुत० कल्प० ३।६

मानव-सभ्यता के इतिहास मे युद्ध को सर्वाधिक विध्वसक घटना के रूप मे देखा जाता है। हिरोशिमा और नागासाकी मे परमाणु बमो के प्रहार से बडी सख्या मे जनसहार के साथ ही प्रभावित क्षेत्र मे ऐसा विषाक्तता का वातावरण फैला जिससे आगे तक अनेक लोग नये-नये प्रकार की व्याधियो से पीडित हुए। वियतनाम मे ऐसे जहरीले आयुधो का प्रयोग हुआ, कि जिनसे प्रभावित क्षेत्र की जनता मे कैन्सर रोग का विस्तार हुआ और साथ ही वनस्पति तथा प्राणि-जगत् पर व्यापक दूषित प्रभाव हुआ।

वर्तमान मे खाडी-युद्ध (इराक-कुवैत) मे बमवारी से जो विनाशलीला हो रही है, उससे जन की धन-हानि के साथ ही पर्यावरण भी लम्बे समय तक दूषित रहेगा। युद्ध की एक घटना के रूप मे खाडी-जल मे कच्चे तेल के प्रवाह से समुद्री जीवन पर विनाशकारी प्रभाव हुआ है। सबसे अधिक प्रभावित समुद्री पक्षी और प्राणी हैं, जिनमे कई प्रकार की दुर्लभ प्रजातियो के कछुए, डालफिन और मछलियाँ हैं। पर्यायवरणवादियो को आशङ्का है, कि इससे समुद्र की प्राकृतिक खाद्य-शृङ्खला प्रभावित होगी। भारी मात्रा मे 'प्लवक' जो समुद्री जीवो के प्रमुख आहार है, नष्ट हो जायेंगे।

विश्व-स्वास्थ्य-सगठन को चाहिए, कि वह विश्वमानवता के घातक युद्धो की विभीषिका का जोरदार ढग से प्रचार कर, युद्धातुर देशो को इस बात से अवगत करावे, कि वे ऐसे चिकित्सक की भूमिका न अदा करे, जो रोगाभिमर होते हैं और रोग को नष्ट करने के बजाय रोगी के ही जीवन का नाश कर देते हे। युद्ध किसी भी समस्या का स्थायी समाधान नही है। इकाई-दहाई-सैकडा-हजार-लाख-करोड का जोड-घटाना और गुणा-भाग कोई मतलब नही रखता, जब कि मनुष्य तथा प्राणीजगत् की जिन्दगी ही खतरे मे पड जाय या विकलाङ्ग हो जाय अथवा वर्षों तक जानलेवा बीमारियो की चपेट मे सत्रास और घुटन का जीवन बिताना पडे।

युद्धो मे किये गये विषाक्त प्रयोग महामारी के रूप मे बडे ही विघातक और विनाशकारी होते हैं। ये वायु मे विष फैलाकर श्वासावरोधक बनकर प्राणघातक हो जाते है। दूपित वायु के द्वारा, रज कण के द्वारा, खाद्य-पेय की विषाक्तता के द्वारा, जीवाणुओ के प्रत्यक्ष आक्रमण द्वारा और मक्षिकाओ के दश द्वारा मानव-शरीर मे अवाञ्छनीय रोगोत्पादकता व्याप्त हो जाती है। एक देश या प्रदेश से दूसरे देश या प्रदेश मे राष्ट्रव्यापी रोगप्रसर बढ जाता हे। सामान्यत रोहिणी (डिफ्थीरिया), मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, मस्तिष्क ज्वर आदि के जीवाणु श्वासमार्ग से, विसूचिका (हैजा), अतिसार, आन्त्रिकज्वर, राजयक्ष्मा आदि के पाचनसस्थान से, श्लीपद, मूषिदशज्वर, विपमज्वर (मलेरिया), धनुर्वात आदि त्वचा द्वारा शरीर पर आक्रमण करते हे। इस प्रकार जीवाणु किन्ही माध्यमो से शरीर मे प्रविष्ट होकर विभिन्न अवयवो मे व्याधि उत्पन्न करते है। इनकी चिकित्सा रोगानुसार करनी चाहिए।

ध्वनि से पर्यायवरण-प्रदूषण

वढती जनसख्या, वढते दुपहिया-तिपहिया-चौपहिया लघु या दीर्घकाय भारवाही वाहन और सडको पर तेज हार्न वजाती उनकी मतवाली चाल, शोर को जोरदार धक्का देकर शतगुणित वढा रही है। यदि शोर की यही स्थिति रही, तो आवादी का एक वडा हिस्सा शोर के कारण वहरा हो जायेगा।

ध्वनि की तीव्रता नापने की इकाई वेल कहलाती है। एक वेल का दसवाँ हिस्सा डेसीवल कहलाता है। विश्व-स्वास्थ्य-सगठन की रिपोर्ट के अनुसार १२० डेसीवल की सीमा से अधिक आवाज सिरदर्द तथा १४० डेसीवल की ध्वनि आदमी को पागल वना देने के लिए पर्याप्त है।

सवेरे एलार्म घडी का शोर, वीवी-वच्चो का शोर, सडक पर वाहनों का शोर, हाकरो का शोर, हवाई जहाजो का शोर, होली-दीवाली पर फटनेवाले पटाखो का शोर, विवाह के जुलूस के वैण्डवाजो का शोर, प्रार्थना-कीर्तन-आरती आदि सभी स्थानो पर शोर ही शोर है। विशेषकर वाहनक्रान्ति ने हमारे सामने ध्वनि-प्रदूषण की विकराल समस्या खडी कर दी है। वैज्ञानिको का कहना है कि एक दिन ऐसा आयेगा, जव मनुष्य को स्वास्थ्य के सवसे वड़े शत्रु के रूप मे निर्दयी शोर से ही जूझना पडेगा।

शरीर-विज्ञानियो के अनुसार शोर का मनुष्य के शरीर-मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडता हे। कानो को क्षति पहुँचती है, अधिक तेज ध्वनि से धमनियाँ सिकुडने लगती हे, व्लडप्रेशर वढ जाता है, श्वसनक्रिया अनियमित हो सकती है, पाचनक्रिया अव्यवस्थित हो जाती है, हार्मोनो के स्राव पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, नेत्रज्योति की मन्दता, रात्र्यन्धता, रङ्गज्ञान का अभाव, ऊँचे-नीचे धरातल का गलत ज्ञान होना, अङ्गो मे थकान, उदासी, मन की चञ्चलता, हिंसा की भावना और उत्तेजनापूर्ण जीवन की ओर झुकाव वढता है। ध्वनितरङ्गो के कम्पन के ज्यादा दवाव से वायुप्रणाली सुस्त पडने लगती है।

उपचार

१ ध्वनि-प्रदूषण के अवरोध के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम है—शोर को रोकना।

२ प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक उत्तरदायित्व है, कि वह अपने वाहनो मे साइलेन्सर लगावे, हार्न का कम प्रयोग करे और धीमी ध्वनि के हार्न वजावे।

३ मन्दिरो, मस्जिदो, गिरिजाघरो, जलपानगृहो और मेले-हाट मे अनवरत वजनेवाले ध्वनियन्त्रो को प्रतिवन्धित करे। सिनेमा तथा अन्य व्यापारिक उत्पादो के प्रचारवाहनो की तीव्र उद्वेजक ध्वनियाँ नियन्त्रित की जाये।

४ दूकानो या घरो मे लगे रेडियो, ट्राजिस्टर, टेलीविजन और टेपरिकार्डर धीमी गति से चलाये जाये।

५ शोर से विश्वमानवता के मन-मस्तिष्क और शरीर की रक्षा के लिए जो भी साधन उपलब्ध हो, उसका उपयोग करके ध्वनि-प्रदूषण को रोका ही जाना चाहिए ।

पर्यावरण-परिवर्तनजन्य व्याधियाँ
(Disorders Due to Climate)

लू लगना
(Sun-stroke)

सूर्य के प्रचण्ड सन्ताप मे, इजिन मे या टिन की छतवाले कारखानो मे या अग्नि के निकट कार्य करनेवाले या गौ चरानेवाले ग्वाले या किसान (जो कि खडी दोपहरी मे खेतो मे लू से तपते हुए कृषिकर्म करते है) सूर्य की उग्र अल्ट्रावायोलेट किरणो के आघात से प्रताडित होकर आतप-दग्ध (Sunburn) होते है, जिसे लू लगना या सनस्ट्रोक कहा जाता है । अधिक गोरे बदनवाले और भूरे बालवाले लोग सूर्यकिरणो से विशेषकर प्रभावित होते है । सूर्यकिरणो के ताप को बर्दास्त करने की क्षमता सूर्यप्रकाश एव धूप मे रहने से धीरे-धीरे प्राप्त होती है । किरणें त्वचा को सुरक्षा प्रदान करने का रग देती है ।

विना अभ्यास के तीव्र धूप मे थोडी देर रहने से शरीर मे गुलाबी रग की पिडकाये निकलती है और आक्रान्त प्रदेश मे खुजली होती है । यदि कुछ अधिक समय तक धूप मे रहना पडे, तो तीव्र व्यथा और शोथ तथा छोटे-बडे फफोले निकल आते है । इन स्थानीय विकारो के साथ वेचैनी, शिर शूल और वमनेच्छा होती है । गम्भीर रोग मे अत्यधिक स्नायविक क्लान्ति और परिसञ्चरणतन्त्र-श्वास, रक्तसवहन आदि सम्बन्धी निष्क्रियता होती है । जव त्वचा का अधिक भाग क्षतिग्रस्त होता है, तब पसीना आने के साथ तीव्रज्वर हो जाता है ।

उपचार

१ सामान्य धूप लगने मे सामान्यत शीतोपचार करना चाहिए । इसमे विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नही होती ।

२ गम्भीर रूप से धूप लगने पर रोगी को शान्त कमरे मे विश्राम करावे और वेदनाशामक उपचार करे ।

३ अतितीव्र ताप लगने से यदि दुष्प्रभाव हो, शॉक और जलाल्पता हो, तो शीघ्रतया समुचित चिकित्सा करनी चाहिए ।

४ यदि त्वचा पर होनेवाले फफोले बडे हो, तो उनका वेधन करना चाहिए ।

५ त्वचा को अखण्ड वनाने के ० ५ प्रतिशत क्रिस्टल वायोलेट युक्त कालमाइन लोशन का प्रयोग करना चाहिए ।

६ खुजली को शान्त करने के लिए मुख से खाने के लिए एण्टी-हिस्टामिन ड्रग्स देना चाहिए ।

७ अल्ट्रावायोलेट किरण के दुष्प्रभाव के शमनार्थ पैरा-एमीनो वेन्जोइक एमिडयुक्त फेस पाउडर और क्रीम का प्रयोग करे ।

सौर गजचर्म

(Solar Keratosis)

गोरी त्वचा वाले लोग जब अधिक दिनो तक क्रान्तिमण्डल (Trophics) मे रह जाते हैं और उन्हे जैसा चाहिए वैसा योग्य पोषण नही मिलता, तो उनके क्षीण अगो की त्वचा मे धब्बे हो जाते हैं। विशेषकर ये धब्बे हाथो के ऊपरी तल, ग्रीवा और ललाट पर होते हे। ये अग हाइपर केराटोसिस (Hyper keratosis) या गजचर्म (हाथी जैसी त्वचा) के छोटे-छोटे धब्बो से आक्रान्त हो जाते हैं। आगे चलकर यह विकृति शल्कयुक्त (मछली के चोइटा जैसी) कार्सिनोमा (Carcinoma) के रूप मे परिणत हो जाती है। यह एक गम्भीर श्वेतकुष्ठ एल्बिनो (Albino) जैसा हो जाता हे।

उपचार

१ जैसे भी हो त्वचा को वस्त्र से ढँककर अथवा क्रीम लगाकर सूर्य की रोशनी से बचाना चाहिए।

२ अति उग्ररूप मे खुरदुरे त्वचा भाग पर पूर्णविरोधक (Occlusive) ड्रेसिग के साथ फ्लुओरोरासिल (Fluorourasil) आइण्टमेण्ट का प्रयोग करना चाहिए।

आतपजन्य श्रम

(Heat Exhaustion)

१ अधिक गर्मी पडने अथवा ग्रीष्म ऋतु मे शरीर को थका देने वाले परिश्रम का कार्य करने से 'आतपजन्य श्रम' का विकार होता हे।

२ यह रोग तब भी होता है, जब रोगी पसीने की अधिकता से होनेवाली द्रवाशक्षति की आपूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा मे द्रव पदार्थ का सेवन नही करता है।

३ ग्रीष्म ऋतु मे कार्यरत व्यक्ति पसीने द्वारा शरीर के द्रवाश का ६ से ८ लीटर तक क्षति करता है और प्रति लीटर मे २ ग्राम सोडियम क्लोराइड की भी क्षति करता है।

वमन और अतिसार के साथ उदर मे गैस भर जाने के कारण अस्वस्थता की वृद्धि और थकावट एव शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है।

लक्षण

शिर शूल, बेचैनी, क्षुधानाश, वमनेच्छा, मासपेशियो मे ऐठन, पैरो मे वेदना, चिडचिडापन, स्वभाव मे परिवर्तन होना और प्रत्येक बात मे असहमति व्यक्त करना, ये लक्षण होते है।

यदि इन लक्षणो के आधार पर रोग का निदान कर लिया जाये, तो रोगी को शीतल वातावरण मे रखकर, शीतल जल मे लवण घोलकर थोडा-थोडा तब तक पिलाते रहना चाहिए जब तक कि स्थिति सामान्य न हो जाय।

यदि 'आतपजन्य श्रम' का प्रकोप बढा होता हे, तो रोगी अतिशय कष्ट का

अनुभव करता है, चिन्तातुर होता है, उसकी छवि पीली होती है, उसे पसीना आता है, नाडी लगातार दुर्बल होती जाती है, रक्तचाप निम्नगामी होता है, शरीर मे ऐंठन महसूस होती है, त्वचा शीत रहती है और गुदा का तापमान थोडा वढा होता है।

जलाल्पता (Dehydration) देखी जाती है, किन्तु प्यास की परेशानी नही होती। वार-वार जल पिलाते रहने से किसी नये विकार के प्रादुर्भाव की आशङ्का नही होती। यदि 'आतपजन्य श्रम' (Heat exhaustion) को नही समझा गया और उसकी तत्काल चिकित्सा नही की गयी, तो रोगी हीट हाइपर पाइरेक्सिया (अंशुघात—Sunstroke) रोग से आक्रान्त हो जाता है।

क्रान्तिमण्डलीय स्वेदावरोधक अतिदौर्बल्य

(Tropical Anhidrotic Asthenia)

इस विकार के वहुतेरे रोगी अत्पीडादायक सन्ताप से त्रस्त होते हैं। यह रोग त्वचा के अधिकाश भाग मे स्वेदनिर्गमन का अवरोध कर देता है। जैसे—वाहु, स्कन्ध आदि। यह स्थिति छलपूर्वक पूरे ग्रीष्मकाल तक वढती जाती है। इसमे शिर शूल, वेचैनी, शक्तिहीनता, स्वेदाभाव तथा वहुमूत्र आदि लक्षण होते हैं। मूत्र मे घुला हुआ क्लोराइड होता है। सामान्यत ज्वर का वेग वढ जाता है और अचानक यह अंशुघात के रूप मे परिवर्तित हो जाता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा लम्वी अवधि तक करनी चाहिए। रोगी को शीत वातावरण मे तव तक रखना चाहिए जव तक कि त्वचा सामान्य स्थिति मे न हो जाये और स्वेद का निर्गमन सामान्य स्थिति मे तथा स्वाभाविक न हो जाये। लक्षणो के अनुसार चिकित्सा के साथ ही शीतोपचार करना चाहिए। इसका उपचार धैर्यपूर्वक करना चाहिए क्योंकि इसमे महीनो का समय लग सकता है।

अंशुघात

(Heat Hyper Pyrexia)

अस्वाभाविक रूप से उच्च तापमानवाले वातावरण मे कार्यरत लोग इससे पीडित होते हैं, जो सीधे सूर्य की धूप मे अथवा आग की भट्ठी के निकट रहते है। जो लोग उष्ण वातावरण मे रहने के अनभ्यस्त होते हैं, वे लोग अंशुघात से अधिकतर आक्रान्त होते है। उष्णता के अभ्यस्त लोग भी लम्वे समय तक उच्च तापमान मे रहने से इस रोग से आक्रान्त हो जाते हैं।

यह रोग सदैव स्वेदावरोध के साथ होता है और उस समय शरीर का तापमान ४२° से ४३° से० या और अधिक होता है। अनुपयुक्त वस्त्रधारण, काम करने का अनुचित ढग, अल्प वायु-सञ्चालन, उच्च तापमान और आर्द्रता के स्थान मे भारी परिश्रम का कार्य करना, स्वेद के उत्पादन और उसके वाष्पीकरण मे प्रमुख रूप से वाधक कारण हैं। स्वेदग्रन्थियो के जन्मजात अभाव या मूत्राशयिक तन्तुमयतावाले व्यक्ति इस रोग से विशेषत प्रभावित होते हैं।

सवसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन केन्द्रीय नाडी-संस्थान मे होता है। मस्तिष्क सौषुम्निक द्रववृद्धि के दवाव से मस्तिष्क मे रक्तसचाराधिक्य हो जाता है। अणु

वीक्षणयन्त्रीय परीक्षण मे नाडीतन्तुओं का अपकर्ष प्रकट होता है और विशेषकर मस्तिष्क तल मे तथा हाइपोथैलमिक क्षेत्र मे।

प्रारम्भिक अंशुघात मे सामान्यत रोगी को नाटकीय ढग मे रोग का आक्रमण होता है, जब कि रोगी न तो जलाल्पता का और न ही लवणहीनता का शिकार होता है, किन्तु अचानक यह देखा जाता है कि रोगी को बहुत कम स्वेदनिर्गमन हो रहा होता है। रोगी जब विश्राम कर रहा होता है, तो कुछ ही घण्टो के बाद पता चलता है कि वह बेहोशी मे है। चेतनाहीनता का होना मस्तिष्कसक्षोभ के पूर्वरूप का लक्षण है।

चिकित्सा

सर्वप्रथम रोगी के तापमान को अतिशीघ्र कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को एक गीली चादर ओढा दे और पखे की हवा मे उद्वाष्पन करे अथवा ठडे जल मे गोता लगाकर नहलायें।

जब तापमान गिर जाये, तो रोगी के मस्तिष्क-सरक्षण का यत्न करे। यह ध्यान रखे कि तापमान नार्मल से भी नीचे न चला जाय। जब गुदा का तापमान ३९° सें० हो जाये, तो सभी शीतोपचार बन्द कर दे। एनोक्सिया (Anorexia) की स्थिति मे अविराम तीव्रता से आक्सीजन दिया जाना चाहिए।

रोगी को खुली हवा मे रखे। उसे क्लोरप्रामैजिन (Chlorpromazine) ५० मि० ग्रा० देना चाहिए। सिर के बाल कटवाकर उस पर बरफ के टुकडे रखे। सहस्रधारा स्नान (Shower bath) करावे।

पिपासा-शमनार्थ—बरफ के टुकडे चूसने को दे। घिसा हुआ चन्दन मिलाकर थोडा-थोडा जल पिलाना चाहिए। ५ बूँद अमृतधारा गुलाब के अर्क मे डालकर पिलावे अथवा गाजवाँ या सौफ का अर्क पिलावे। इससे तृष्णा शान्त हो जाती है।

शीताङ्ग—जब शरीर का स्वाभाविक तापमान गिर जाये और नाडी क्षीण तथा विषम गति हो तो—

रत्नेश्वर रस १५० मि० ग्रा०/1 मात्रा

त्रिफला क्वाथ २५ मि० ली० के अनुपान से ३–३ घण्टे पर ३–४ बार दे।

मृतसजीवनी सुरा २०–२५ बूँद समजल मिलाकर थोडी-थोडा देर पर दे।

आम्रपानक—कच्चे आम को गोइठे की आग मे पकाकर ठडे पानी मे कुछ देर ठडा कर किसी पात्र म हाथ से मसलकर गूदा निकाल ले और वक्कल तथा गुठली अलग कर दे। फिर उसमे पिसी सौंफ, चीनी और जरा-सा कालानमक मिलाकर शर्बत बना ले। इसे थोडा-थोडा पिलाते रहना चाहिए।

पथ्यापथ्य

रोग शान्त हो जाने पर रोगी को कुछ समय शीत स्थान मे रखे। सभव हो तो पर्वतीय स्थानो मे कुछ दिन ठहरना चाहिए। जब तक देह मे बल न आवे तब तक सावधानी से हितकर आहार-विहार कराकर मन को प्रसन्न रखे। बलकारक,

विवन्धनाशक, सुखविरेचन-कारक, स्निग्ध और पौष्टिक आहार पथ्य है। इसके विपरीत अपथ्य है। मिथ्या आहार-विहार से उन्माद या अपस्मार हो सकता है।

शीततजनित विकार
(Cold Injury)

शुष्क शीत जब 0° से के नीचे होता है, तब वह हाथ-पैर की अँगुलियो एव लघु अवयवो को शीताक्रान्त कर जमा देता है। खासकर ऐसे लोगो मे जो पहाड की ऊँचाई पर व्यायाम करते है और जहाँ पर अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है, जबकि वहाँ ऑक्सीजन कम मिलता है।

लक्षण—इसके चेतावनी देनेवाले लक्षण हैं—अगुलियो और पैरो मे प्रचण्ड पीडा होना। ऊपरी तौर पर शीत लगना या पाला मारना त्वचा पर फफोले उत्पन्न करता है, तन्तुओ को निर्जीव बना देता है और गहरा पाला मारना अगो को गलाने की स्थिति मे ला देता है और कोथ उत्पन्न करता है।

चिकित्सा

१. रोगी को उष्ण पेय—चाय-काफी आदि पिलाकर और लगातार उत्तम इन्स्युलेसन के प्रयोग से उष्णता प्रदान करना चाहिए।

२. निर्जीव जैसे अङ्गो को पुन. सजीव और उत्तेजित करना चाहिए।

३ शीतप्रभावित (Frost bite) अग को ४०° से० के गरम जल मे डालकर गरम करना चाहिए।

आकस्मिक शीत लगना
(Hypothermia)

यह स्थिति अचानक शीतजल के तालाब मे अथवा समुद्र मे गोता लगाने से या बरसात के समय भीगे हुए वस्त्र धारण करने से या अल्प पहनावे के साथ पहाडी यात्रा करने से आती है। वृद्ध और रोगी व्यक्ति यदि रात मे सुरक्षित प्रकार से इन्स्युलेटेड नही होते हैं, तो वे हाइपोथेर्मिया से ग्रस्त हो जाते हैं।

चिकित्सा—हाइपोथेर्मिया की स्थिति के यथार्थ निर्धारण के लिए रेक्टल थर्मामीटर की आवश्यकता होती है। यह स्थिति शरीर के तन्तुओ के ऑक्सीजन की माँग को कम करती है। यह रोग जब तक ३५° से० से नीचे न हो, तब तक घातक रूप नही लेता और जब तक यह हाइपोटेन्सन उत्पन्न कर रक्त को पकिल न बनावे एव व्यग्रता तथा बेहोशी न लावे।

२. सामान्यत सक्रिय रूप मे पुन उष्णीकरण नही करना चाहिए। हाँ, यह आवश्यक है कि जब व्यापक रूप से तापमान २६° से० हो तो आगे उष्णता का ह्रास न होने दे।

३ .यदि अन्तर्भाग तापमान (Core temperature) ३२° से० से कम हो, तो सक्रिय रूप से पुन उष्णीकरण की क्रिया करनी चाहिए और प्रति ६ घण्टे के बाद अन्त शिरा मे १०० मि० ग्रा० की मात्रा मे हाइड्रोकार्टिसोन (Hydrocortisone) का सूचीवेध देना चाहिए।

यात्राजन्य-विकार
पर्वतीय यात्रा-विकार

ऊँचे पर्वतो पर शीघ्रतापूर्वक चढाई करनेवाले लोग इस व्याधि से पीडित होते हैं। कुछ लोग ८,००० फुट की ऊँचाई पर बीमार पड जाते है, जब कि दूसरे लोग १९,००० फुट ऊँचाई तक विना कष्ट के यात्रा कर लेते है।

लक्षण—पर्वतीय यात्राजन्य विकारो मे पहले शिर शूल, वमनेच्छा या वमन शुरु होता है, फिर तन्द्रा, मासपेशियो मे दुर्बलता, श्वास लेने मे कष्ट, त्वचा मे श्यावता, चक्कर आना, नाडी की तीव्रता और अनिद्रा—ये लक्षण होते हैं। ये लक्षण अन्त -कोशिकीय शोथ के कारण होते है, जो दो गम्भीर रोगो के दूत बन जाते हैं, यथा—१ फुफ्फुसशोथ और २ मस्तिष्कशोथ। मिथ्याभिमानी एव साहसी युवक जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वास के कारण अपनी क्षमता से अधिक ऊँचाई तक पर्वतारोहण करते हैं, जिससे वे फुफ्फुसशोथ से आक्रान्त हो जाते हैं।

मस्तिष्कशोथ होने से आलस्य, सुस्ती, व्याकुलता, मूर्च्छा और सन्यास (Coma) ये लक्षण होते हैं। अकुर-सदृश शोथ (इल्ला–मासाकुर) की खोज से इस रोग का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। रेटिनल रक्तस्राव भी हो जाता है।

चिकित्सा—इन पर्वत-यात्राजनित विकारो का प्रतिषेध पहाड पर धीमी गति से चढकर या लगातार उतरकर अथवा यदि उपलब्ध हो, तो ऑक्सीजन देकर किया जा सकता है।

फुफ्फुसशोथ मे फ्रूसमाइड (Frusmide) ४०–१२० मि० ग्रा० या मार्फीन १५ मि० ग्रा० का प्रयोग करना चाहिए।

मस्तिष्कशोथ मे एसेटाजोलामाइड (Acetazolamide) २५० मि० ग्रा० का प्रयोग लाभप्रद होता हे।

सिरागत रक्तस्तम्भन होने पर फुफ्फुस मे अन्त शल्यता हो सकती है, जो पर्वतारोहण के अभ्यासी को पीडित करती है। ये विकार रक्त-स्कन्दन या घनत्व के कारण होते हैं। इनका प्रतिषेध पर्याप्त जल-प्रयोग और व्यायाम द्वारा किया जा सकता हे।

जीर्ण पर्वतारोहण-विकार
(Chronic Mountaineering Sickness)

यह विकार मधुमक्खी के छत्ते की तरह बने कम वायु-सचारवाले घरो मे रहने के कारण होता है अथवा पुरानी हाइपोक्सिया (Hypoxia) के कारण ऊँचे चढने वाले या नीचे उतरने वाले पर्वतारोहण के अभ्यासियो को होता है।

लक्षण—इससे शरीर मे श्याववर्णता, हृदयगत्यवरोध, फुफ्फुसीय तनाव और नाडी-सस्थान तथा मानस-विकृतियो के लक्षण उत्पन्न होते है।

चिकित्सा—ऐसे रोगी को समुद्री सतह के समान निचले स्थान मे रखकर उसका यथोचित उपचार करना चाहिए।

पञ्चम अध्याय

खाद्यान्न विषाक्तता एवं भारी धातुजन्य विषाक्तता

खाद्यान्न विषाक्तता

(Food Poisoning)

मनुष्य का जीवन आहार पर निर्भर है। अत आहार-पदार्थ के चयन, उसके निर्माण, रख-रखाव, उपयोग, वितरण, दस्तरखान और उपभोक्ता—इन सबके प्रति सावधानी, स्वच्छता, विश्वसनीयता तथा सजगता नितरा अपेक्षित है। यो तो विष देने के अनगिनत प्रकार है, फिर भी प्राय प्रयुक्त किये जाने वाले प्रकारो मे भोज्य पदार्थ, पेय पदार्थ, चाय-काफी, शर्बत, पान, सिगरेट-बीडी आदि प्रमुख हैं। अभ्यग के तेल, पाउडर, स्नानजल, वस्त्र, आसन, पहनावा, उष्णीष आदि के माध्यम से भी विष का प्रयोग किया जाता हे।

हजारो वर्ष पूर्व भारतीय सस्कृति मे कुछ ऐसी आचारसहिता का प्रणयन किया गया था, जो जीवन को सुरक्षा प्रदान करने की बहुत बडी युक्ति थी और आज भी सुसस्कृत परिवारो मे उस परम्परा का स्वाभाविक रूप मे पालन किया जाता है। जैसे—भोजन करने के पूर्व अग्नि मे भोज्य पदार्थ का हवन करना, घर के पालतू पशु-पक्षियो को भोजन का ग्रास देना, कुत्ते, कौवे, शुक-मारिका, मयूर आदि को ... भोजन मे से कुछ अश निकाल कर खिलाना आदि। यदि भोज्य द्रव्य मे विष होता है, तो आग मे डालने पर चटचटाहट होती है, मोर की ग्रीवा के रग जैसी हरी-नीली लपटे निकलती है, आग की ज्वाला असह्य होती है और अलग-अलग धारियाँ दीखती हैं, धुएँ मे तीक्ष्णता होती है तथा आग शीघ्र बुझ जाती है। मयूर उद्विग्न होकर दौड लगाता है, तोता-मैना क्रन्दन करते और चीखते-चिल्लाते है, कौवा काँव-काँव की रट लगाता है, हिरण की आँखे अश्रुस्राव करती हैं और बन्दर विषाक्त अन्न को देखकर-सूँघकर तुरन्त ही मल-त्याग कर देता है। इस प्रकार इन पालतू जीवो को ग्रास देकर अन्न के विषाक्तता की पहचान करके ही भोजन करना एक जीवन-रक्षक प्रक्रिया है, जो आज के सन्दर्भ मे तो और अधिक उपादेय है। एवञ्च इन पालतू पशु-पक्षियो का पालन करने से गृह की शोभा, बच्चो का मनोरञ्जन, उनके गुञ्जन और कलरव की मनोरम ध्वनियो से कर्णाह्लाद और उल्लास का वातावरण तो बनाता ही है, साथ ही सबसे बडी उपलब्धि है—भोजन के विषाक्त होने की पहचान।

विषाक्त अन्न के वाष्पजन्य विकार और उपचार

विषाक्त अन्न जब खाने के लिए थाल मे परोसा जाता है, तो ... वाली वाष्प के सूँघने पर हृदय मे पीडा, नेत्रो मे भ्रान्ति और शि...

उपचार—नस्य और अञ्जन तथा लेप का प्रयोग करे। कूठ, खस और जटामसी के चूर्ण का नस्य दे और इनके बारीक पीसे गये चूर्ण मे मधु मिलाकर अञ्जन करे। ललाट पर शिरीष बीज, हल्दी और चन्दन पीसकर उसका लेप करे तथा हृदयप्रदेश मे चन्दन का लेप करे।

विषाक्त अन्नस्पर्श

विषाक्त अन्न के हाथो मे लगने से हाथो मे दाह और नखो का झडकर गिरना, ये लक्षण होते है।

उपचार—हाथो के आभ्यन्तर तथा बाह्य तलो पर प्रियगु, इन्द्रवारुणी, सुगन्धमूल और गुडूची को बारीक पीसकर लगाये।

विषाक्त अन्न-भोजन

विष-मिश्रित अन्न के खाने से जिह्वा मे पत्थर जैसी कठोरता, अकडन और ऐठन तथा रसज्ञान-शून्यता, चुभन एव जलन होती है। मुख से लालास्राव होता है और कफ निकलता है।

उपचार—इसमे निम्नलिखित औषधो के चूर्ण को मधु मिलाकर मसूडो पर घर्षण करे। जैसे—धाय का फूल, हर्रे और जामुन की गुठली पीसकर मधु मिला कर मसूडो पर लगाये या अकोल के मूल की छाल या छितवन की छाल या शिरीष-बीज, इनके चूर्ण को मधु मे मिलाकर घर्षण करे।

आमाशयगत विषाक्त अन्न लक्षण और चिकित्सा

विषाक्त अन्न जब आमाशय मे पहुँचता है, तो मूर्च्छा, वमन, अतिसार, आध्मान, जलन, कम्पन और इन्द्रियो मे विकृति उत्पन्न करता है।

उपचार—इस अवस्था मे १५–२० ग्राम नमक को १ लीटर उष्ण जल मे घोलकर सुखोष्ण कर पिलावे या मदनफल, कडवी तरोई या तितलौकी के बीज १० ग्राम लेकर पीसकर नमक डालकर घोलकर पिलाना चाहिए या दही का पानी या मट्ठा या चावल का धोवन पिलाकर वमन कराना चाहिए।

पक्वाशयगत विषाक्त अन्न-लक्षण और चिकित्सा

विषाक्त अन्न पक्वाशय मे जाकर दाह, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा, इन्द्रिय-विकार, आध्मान, पाण्डुता और दुर्बलता उत्पन्न करता है।

उपचार—नीलिनी फल (इन्द्रवारुणी) को चूर्ण कर ६ ग्राम की १ मात्रा घी से चटाकर विरेचन करावे। इच्छाभेदीरस या नाराच रस का यथोचित मात्रा मे प्रयोग कराकर विरेचन करावे। शोधन करने के पश्चात् दूषीविषारि अगद का मधु से प्रयोग करे। **योग**—पीपल, कत्तृण (रोहिष घास), जटामसी, शावरलोध्र, केवटीमोथा, हुलहुल, छोटी इलायची और स्वर्णगैरिक—इनके समभाग का चूर्ण बनाकर २–२ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३–४ बार मधु से दे।

सविष द्रवद्रव्य के लक्षण

विषाक्त दूध, मद्य, जल आदि सभी तरल पदार्थों मे विष के प्रभाव से नाना प्रकार की रेखाएँ दृष्टिगोचर होने लगती है तथा उक्त द्रवो मे फेन बुद्बुद् उत्पन्न होने लगते हैं। उन द्रव पदार्थों मे विषाक्तता के कारण कोई परछाई नही दिखलाई देती और यदि दिखलाई देती भी है, तो वह जुडी हुई, दो-दो छिद्रयुक्त पतली और विकृत आकारवाली होती है।

सविष शाक, दाल तथा मांस के लक्षण

शाक, दाल और मास आदि आहार पदार्थों के विषाक्त होने पर वे विलग्न, स्वादरहित और ताजा होने पर भी बासी की भाँति दीखते है। वे अपने प्राकृत गन्ध, वर्ण तथा रस से हीन हो जाते है। पके हुए फल विषाक्त होने पर शीघ्र ही सड जाते है। यदि कच्चे फल विषाक्त होते है तो वे पक जाते हैं।

खाद्यान्न विषाक्तता के सामान्य कारण, लक्षण तथा उपचार

१ खाद्यान विषाक्तता होने की अधिक सभावना कैण्टीन, रेस्टोरेण्ट, हॉस्पिटल, सिनेमा हाउस और भीड-भाडवाले स्थान मे अधिक होती है।

२. आन्त्रिक एलर्जी (अनूर्जता) के कारण भी खाद्यान्न विषाक्तता होती है, जब कि बच्चे अनुपयुक्त कच्चे फल खाते हैं।

३ जिसमे पहले कोई केमिकल प्वाइजन रखा गया हो और खाली होने पर उसी टिन (Container) मे खाद्यान्न रख दिया जाये, तो वह विषाक्त हो जाता है।

४ यदि कोई खट्टा फलरस किसी सस्ते एनामिल या जस्ते के पात्र मे रख दिया जाय, तो उस पात्र का एनामिल या जिंक छूटकर या गलकर उसमे मिलकर उसे विषाक्त बना देता है।

५ घर की बनी शराब यदि किसी चमकते पात्र मे रखी जाय तो उसमे शीशक विष की प्रतिक्रिया होगी।

६ टिन मे रखा खाद्य या रस और प्रिजर्व की हुई मछली ये विषाक्त हो जाते है।

लक्षण—१ यदि भोजन करने के ३० मिनट के बाद वमन होता है, तो इसे केमिकल विष का प्रभाव जानना चाहिए।

२. खाद्यान्न विषाक्तता से एक ही समय मे उपभोक्ता-गण पीडित होते दीखते हैं, जबकि सामूहिक रूप से भोजन-व्यवस्था हो।

३ लक्षणों की गम्भीरता या हलका प्रभाव गृहीत विष की गुणवत्ता और विष की मात्रा पर निर्भर है।

४ वमनेच्छा, लालास्राव, वमन, अतिसार और अन्त्रशूल, ये प्रमुख लक्षण होते हैं।

५. गम्भीर रोगी मे प्रोस्ट्रेशन, कोलैप्स और डीहाइड्रेशन हो सकते है।

६ विषाक्त खाद्य-पेय के सेवन से उदावर्त होकर अतिसार और वमन होने लगता है, कदाचित् ग्रहणी और विसूचिका होती है।

७ बैक्टेरियल खाद्यान विषाक्तता से वमन, विबन्ध, पिपासा, लालास्राव, श्वासकष्ट और मूकता (Aphonia) हो जाती है। इसकी मृत्युदर अधिक होती है।

चिकित्सा—१ अधिकाशत विषाक्तता हलकी होती है और प्राय घरेलू उपायो से उसका निराकरण कर लिया जाता है।

२ आधा लीटर जल मे १ चाय चम्मच भर नमक डाले, फिर जल का आधा भाग सन्तरे का रस डाले। उसमे से थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

३ जो रोगी शीताङ्गता या जलाल्पता से गम्भीर रूप से पीडित हो, उन्हे फ्लूइड थिरेपी से इण्ट्रावीनस द्रव पदार्थ दें।

४ प्राय एक-दो दिन मे लक्षण शान्त हो जाते है, स्वाभाविक स्थिति मे आने तक हलका द्रव-प्रधान आहार देना चाहिए। मक्खन या घी लगी रोटी देनी चाहिए।

५ अतिसार के नियन्त्रण के लिए प्रति २ से ४ घण्टे पर केओलीन मिक्श्चर (Kaolin mixture) १० मि० ली० की मात्रा मे देते रहे। इसी प्रकार कोडेइन फॉस्फेट की ३० मि० ग्रा० मात्रा ६–६ घण्टे पर देनी चाहिए।

प्रतिषेध

१ वैयक्तिक स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए, जैसे—१ स्वच्छता, २ मौसम के अनुसार दोनो समय या एक समय स्नान, ३ मलत्याग के बाद मलद्वार एव पैरो का ठीक से प्रक्षालन, ४ स्वच्छ वस्त्र-धारण, केश-प्रसाधन, ५ नित्य तैलाभ्यग, ६ स्वच्छ जलवायु एव प्रदेश मे निवास करना तथा ७ आहार-विधि के अनुसार भोजन आदि नियमो का यथावत् पालन करना।

२ भोजनालय, पाककर्ता और पात्र तथा पाक-सामग्री की सफाई और रख-रखाव के प्रति सावधानी रखनी चाहिए।

३ उष्ण भोजन और विश्वस्त भोजन ही करना श्रेयस्कर है।

विषाक्त रोगी की चिकित्सा के सिद्धान्त

१. अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना।

२ शरीर मे शोषित विष को बाहर निकालना।

३. प्रतिविषो का प्रयोग।

४. लाक्षणिक चिकित्सा।

(१) अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना

शरीर के आभ्यन्तर अशोषित हुए विष को बाहर निकालने के लिए प्रमुख उपाय है—(क) आमाशय-प्रक्षालन तथा (ख) वमन कराना।

(क) आमाशय-प्रक्षालन—यदि रोगी ने विष का सेवन मुखमार्ग से किया है और यदि शीघ्र ही इस बात का पता चल जाये, तो अतिशीघ्र आमाशय-नलिका या पम्प से आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए।

(ख) वमन—यदि रोगी होश मे हो और तीव्र दाहक विष की आशङ्का न हो, तो अशोषित विष को बाहर निकालने के लिए रोगी को वमनकारक औषध से वमन कराना चाहिए। वमन के योग —

१ महीन सेंधानमक ३० ग्राम का १ लीटर सुखोष्ण जल मे घोल बनाकर आहिस्ता-आहिस्ता पिलाना चाहिए। अथवा—

२ राई का चूर्ण ३० ग्राम १ लीटर जल मे घोलकर पिलायें। अथवा —

३ जिंक सल्फेट १ ग्राम आधा लीटर जल मे घोलकर पिलाये।

४. फॉस्फोरसजन्य विषाक्तता मे तूतिया का चूर्ण १ ग्राम १ लीटर जल मे घोलकर पिलाना चाहिए।

५. मदनफल, मुलहठी, नीम, कड़वी तरोई, देवदाली, करज, वायविडग, चित्रकमूल—इनमे से किसी का भी चूर्ण सुखोष्ण जल मे घोलकर पिलाने से वमन हो सकता है।

(२) शरीर मे शोषित विष को बाहर निकालना

१ इसके लिए पसीना लानेवाली, मूत्रल तथा विरेचनकारक औषधो का प्रयोग करना चाहिए।

२ गरम जल, गरम वस्त्र-धारण या प्रावरण और उष्णवायु के सेवन से स्वेदन-क्रिया मे वृद्धि होती है।

३ सिरका २५–५० ग्राम मे ५–६ ग्राम नौसादर मिलाकर पिलाना स्वेद-जनक है।

४ मदार के जड की छाल, छितवन की छाल, चित्रकमूल की छाल, सहिजन की छाल, कुटकी अनन्तमूल, अतीस, शीतलमिर्च, पुनर्नवा और कपूर का सुविधा-नुसार प्रयोग स्वेदक है।

५ विषाक्तता के निवारणार्थ अनग्निस्वेदन[१] ही करना चाहिए।

६ मूत्रल औषधो मे गोखरू, कलमी सोरा, दूध, शर्बत, अपामार्ग, जवाखार, कुश-धास-नरसल के मूल का क्वाथ, नारियल का पानी, गदहपुर्ना, कमलगट्टा, अनन्तमूल और सहिजन प्रमुख है। इनका यथोचित रूप मे प्रयोग करना चाहिए।

७ शीतल पर्पटी, गोक्षुरादि गुग्गुलु, चन्द्रकला रस और पुनर्नवा क्वाथ तथा कुलत्थ क्वाथ का मूत्र-प्रवर्तनार्थ उचित मात्रा मे प्रयोग करे।

८ विवेचनार्थ—निशोथ, कालादाना, अमलतास, सत्यानाशी की जड, त्रिफला-

---

१. व्यायाम उष्णसदन गुरुप्रावरण क्षुधा।
बहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपा ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते।—चरक० सूत्र० १४।६४-६५

चूर्ण, मुनक्का, गम्भारीफल, फालसा आदि प्रयोज्य है। सिद्ध औषधो मे—इच्छाभेदी एव नाराच रस का प्रयोग फलप्रद होता है।

(३) प्रतिविष का प्रयोग

प्रतिविष तीन प्रकार के होते है—

१ यान्त्रिक प्रतिविष।
२ रासायनिक प्रतिविष।
३ क्रियाविरुद्ध प्रतिविष।

(१) यान्त्रिक प्रतिविष—

१ जब मुख के द्वारा मणि एव कॉच आदि का चूर्ण सेवन कर लिया जाता है, तब वह अन्दर पहुँचकर अपनी यान्त्रिक क्रिया के कारण आमाशय और आन्त्र की श्लैष्मिककलाओ पर आघात पहुँचाता है तथा उन्हे स्थान-स्थान पर क्षत-विक्षत कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप रक्तस्राव होता है और पीडा होती है। ऐसी स्थिति मे **क्षतनिरोधार्थ**—स्निग्ध पदार्थ जैसे—वसा, तैल, अण्डे की सफेदी (अल्ब्यूमिन) आदि का उपर्युक्त विषो के खाने के तुरन्त बाद अथवा कुछ देर बाद सेवन किया जाय तो आमाशय आदि की श्लेष्मलकलाएँ क्षताक्रान्त होने से बचाई जा सकती है। वसा-तैल आदि आमाशय और आन्त्र मे पहुँचकर वहाँ की श्लैष्मिक कलाओ पर एक आवरण की तरह चढ जाती है, जिससे मणि, काँच आदि की यान्त्रिक क्रिया फिर नही हो पाती।

२ वानस्पतिक या खनिज विषो को आमाशय मे निष्क्रिय करने के लिए सूक्ष्म पिसे हुए कोयले का चूर्ण उचित मात्रा मे खिलाया जाता है।

(२) रासायनिक प्रतिविष—

१ यदि अम्लीय पदार्थों का विष के रूप मे सेवन किया गया हो, तो उसके प्रतिविष के रूप मे क्षारीय पदार्थो का प्रयोग कराना चाहिए।

२ यदि क्षारीय पदार्थों का विष के रूप मे प्रयोग किया गया हो, तो उनके प्रतिविष के रूप मे अम्लीय पदार्थों का सेवन कराना चाहिए।

३ खनिज अम्लो के लिए मैग्नेसिया और कार्बोनेट्स देना चाहिए।

४ ऑग्जेलिक अम्ल के लिए चूने का प्रयोग करना चाहिए।

५ नाग और टैनिन विषो के लिए सोडियम सल्फेट का प्रयोग करे।

६ रसकर्पूर विष के लिए एल्ब्यूमिन का प्रयोग करे।

७ दाहक क्षारीय विषो के लिए नीबू के रस अथवा सिरका का प्रयोग करे। इन प्रतिविषो के प्रयोग के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनका शरीर पर कोई दुष्परिणाम न हो।

(३) क्रियाविरुद्ध प्रतिविष—

१ एट्रोपीन के लिए मार्फिया, २. स्ट्रिक्नीन के लिए क्लोरल हाइड्रेट के साथ

ब्रोमाइड, ३. डिजिटेलिस के लिए वत्सनाभ और ४. क्लोरोफार्म के लिए एमिल नाइट्रेट का प्रयोग करना चाहिए।

एक अति लाभप्रद रासायनिक प्रतिविष का योग—बहुत बारीक पीसा कोयला २ भाग, टैनिक एसिड १ भाग, मैग्नेशियम ऑक्साइड १ भाग मिलाकर रख लें। आवश्यकता पडने पर उनमे से ३ ग्राम लेकर चौथाई लीटर जल मे मिलाकर देना चाहिए। उसकी पुन दूसरी मात्रा दी जा सकती है।

कोयला क्षारामों का शोषण करा देता है—टैनिक एसिड क्षाराभो, शर्कराभो या अन्य धातुओं का अवक्षेपण करता है और मैग्नेसिया अम्लो को निष्क्रिय करता है तथा फेनाश्म (संखिया) के प्रतिविष के रूप मे प्रयुक्त होता है।

(४) लाक्षणिक चिकित्सा

१ पीडा कम करने के लिए रुजाहर और स्निग्ध औषधियाँ देनी चाहिए अथवा मार्फिया का सूची-वेधन करना चाहिए।

२. स्तब्धता और हृदयावसाद की अवस्था मे उष्णोदक भरी बोतलों से सेंकना चाहिए, जिससे शरीर का ताप स्थापित रहे और गिरे नही, अथवा तैलाभ्यङ्ग करके शरीर मे उत्तेजना लानी चाहिए। इसके लिए 'स्ट्रिक्नीन' $\frac{1}{30}$ ग्रेन, अथवा 'कैम्फर इन आयल' अथवा 'कैम्फर इन ईथर' का इञ्जेक्शन लगाना चाहिए।

३ सिरामार्ग मे लवणोदक (नार्मल सैलाइन) का उचित अवस्था मे प्रयोग करना चाहिए।

४. श्वासावरोध की दशा मे ऑक्सीजन की व्यवस्था करनी चाहिए।

५ श्वासकर्म मे बाधा होने पर 'कृत्रिम श्वसन-क्रिया' करे तथा एट्रोपीन अथवा स्ट्रिक्नीन का त्वचा के नीचे इञ्जेक्शन लगायें।[1]

भारी धातुजन्य विषाक्तता[2]

(Heavy Metallic Poisoning)

संखिया या फेनाश्म

(Arsenic)

परिचय—शखविष, गौरीपाषाण, दारुमोच, मल्ल, सोमल, सम्बल, फेनाश्म, संखिया और आखुपाषाण—ये संखिया के पर्याय है।

यह श्वेत और रक्त-भेद से दो प्रकार का होता है। श्वेत कृत्रिम होता है और रक्त खनिज होता है। यह विशोधित कर अत्यल्प मात्रा मे औषधीय प्रयोग मे लाया जाता है। इसे डॉक्टर, हकीम और वैद्य सभी प्रयोग करते है। इसका प्रयोग

---

१ यह सन्दर्भ सुश्रुत० कल्प० अ० २।८४ की 'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' व्याख्या से साभार उद्धृत है।

२ इस शीर्षक के अन्तर्गत का विषय 'विष-विज्ञान' ले० कविराज युगलकिशोर गुप्त से साभार सगृहीत है।

चूहा आदि को मारने के लिए भी किया जाता है। इसी से इसका एक नाम आखुपाषाण है।

सखिया के यौगिक

सखिया के बहुत से यौगिक होते है, जिनमे से कुछ अधोलिखित है—

(१) आर्सेनियस आक्साइड (Arsenious oxide)—

इसका सकेत As_4O_6 है। इसे श्वेत सखिया कहते है। यह स्फटिक के रूप मे पाया जाता है। इसमे कोई स्वाद या गन्ध नही होती है। यह जल मे विलेय नही है। मद्य मे किंचित् घुलता है और अम्लो तथा क्षारो मे घुल जाता है। चूहे आदि को मारने के लिए इसके योग से चूर्ण बनाया जाता है। **आर्सेनियम एसिड** 'ब्रिटिश फार्माकोपिया' की औषध है। इस ग्रन्थ मे इसका नाम 'आर्सेनाईट्राय आक्सीडम' है। इसकी ओषधि मात्रा $\frac{1}{60}$ ग्रेन से $\frac{1}{12}$ ग्रेन है।

(२) आर्सेनिक सल्फाइड्स—

यह हरिताल और मैनसिल का यौगिक है। यह खानो से निकलता है और कृत्रिम भी बनाया जाता है। इसका प्रयोग रक्तगत विकृति और त्वचा के रोगो मे होता है।

(३) आर्सेनिक डाइ क्लोराइड ($As\,Cl_3$)—

यह वर्णरहित अति विषैला द्रव पदार्थ है। औषध के रूप मे अर्बुद की चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होता है।

संखिया जन्य विषाक्तता के लक्षण

१ विष खाने के कुछ समय बाद से एक घण्टे के भीतर विष के लक्षण उत्पन्न होते है।

२ प्रारम्भ मे सिर चकराना, मिचली, थटावट, तृष्णा और दाह होता है।

३. फिर गले और आमाशय मे तीव्र दाह, पीडा के साथ वमन होने लगता है।

४ तदनन्तर उदर मे तीव्र शूल के साथ दस्त आते है। उदर मे कुथन होती है, फिर विसूचिका के समान मलत्याग होता है।

५. तीव्र उदरशूल के कारण श्वास लेने मे कठिनाई होती है और पैरो मे ऐठन होती है।

६ मूत्र की मात्रा क्रमश कम होती जाती है और मूत्रत्याग पीडा तथा दाह के साथ होता है।

७. ठडा पसीना आना, आँखो का धँसना, मुख की छवि नीली-पीली पडना, नाडी की गति तीव्र होना तथा दुर्बल होना ये लक्षण चिन्ताजनक है।

८ स्थिति गम्भीर होने पर तन्द्रा, मूर्च्छा और आक्षेप होने लगते है।

९ कदाचित् हनुस्तम्भ, मूकता, प्रकाशासहिष्णुता, कर्णनाद, ज्वर, लालास्राव और श्वासकृच्छ्रता होने के बाद श्वासावरोध होकर प्राण छूट जाता है।

घातक मात्रा—३ ग्रेन। **घातक काल** १२ से २४ घण्टे तक।

चिकित्सा

१ यदि अपने आप वमन न होता हो, तो वमन कराना चाहिए। एतदर्थ जिंक सल्फेट दे या राई पीसकर पिलाये या एपोमार्फीन का इन्जेक्शन दे।

२ विष-भक्षण का ज्योंही पता चले तुरन्त दूध और पानी मिलाकर आमाशय प्रक्षालन-नलिका से आमाशय का प्रक्षालन करे। आमाशय-प्रक्षालन के बाद नलिका द्वारा हायड्रेटेड फेरिक ऑक्साइड के द्रव का आमाशय मे प्रक्षेपण करे।

द्रव का योग

टिंक्चर फेरी पर-क्लोराइड	३ औंस
सोडाबाईकार्ब	१ औंस
जल	११ औंस

३ यदि दस्त न हुआ हो तो एरण्ड तैल या मैगसल्फ पिलाकर विरेचन करायें।

४ शरीर-ताप-रक्षणार्थ गरम जल की बोतलो से अगो को सेकना चाहिए।

५ अगो मे अधिक पीडा हो तो मार्फिया का इन्जेक्शन लगा देना चाहिए।

६ शरीर की शिथिलता को दूर करने तथा उत्तेजना लाने के लिए स्ट्रिक्नीन का इन्जेक्शन देना चाहिए।

७ डीहाइड्रेशन की स्थिति मे नार्मल सैलाइन का अवश्य प्रयोग करे।

८ प्रतिदिन एक बार—सोडियम थायोसल्फेट के १० प्रतिशत घोल का ७½ ग्रेन की मात्रा मे सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

९ निदान होते ही अतिशीघ्र बाल (BAL) का प्रयोग करना चाहिए।

१० बाल सखिया विषाक्तता मे उत्तम परिणामकारक प्रतिविष सिद्ध हुआ है।

११ इसका आविष्कार इगलैण्ड मे हुआ, इसलिए इसको ब्रिटिश एण्टी लेविसाइट (British anti lewisite BAL) कहते है।

यह तेल मे औषध का १० प्रतिशत घोल होता है, जिसमे २० प्रतिशत बेन्जिल बेन्जोएट मिला रहता है। इसके १ सी० सी० मे १०० मिलीग्राम औषध होती है। इसका इन्जेक्शन सदैव पेशी मे दिया जाता है।

अधिक समय तक सिरा द्वारा प्रयोग के लिए इसका विलयन (BAL intravenous) बाजार मे आता है। इसका प्रयोग करना चाहिए।

मात्रा—विष का परिमाण अधिक हो तो—१ किलोग्राम शरीर के वजन के लिए ३ मिलिग्राम औषध, इस परिमाण मे १ इन्जेक्शन के लिए पूर्ण मात्रा का निश्चय करना चाहिए।

प्रथम तथा द्वितीय दिन—प्रति ४ घण्टे पर १ इन्जेक्शन दिन-रात।

तीसरे दिन— ,, ४ ,, १ ,, ,, ।

चौथे दिन से जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो—एक इन्जेक्शन प्रति १२ घण्टे पर, प्राय १० दिन तक या जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो।

'बाल' के कुछ दुष्परिणाम—हृल्लास, वमन, शिर शूल, अगमर्द और दाह—ये उपद्रव कभी-कभी इञ्जेक्शन देते ही होने लगते है। ये उपद्रव प्राय. आधे घण्टे मे शान्त हो जाते है। यदि ये उपद्रव अधिक समय तक रहे, तो **बार्बिटयूरेट्स का** प्रयोग करने से सन्तोषजनक लाभ होता है।

जीर्ण शंखविष के लक्षण

अधिक समय तक सखिया खाते रहने से अथवा तीव्र शङ्खविष-विषाक्तता हो जाने के बावदूद जीवित बचे रहने पर और जिन कारखानो मे किसी भी रूप मे सखिया का प्रयोग किया जाता हो, ऐसे कारखानो मे काम करने से जीर्ण शखविष के लक्षण होते है।

इसमे होनेवाले लक्षणो को ४ अवस्थाओ मे बॉट सकते है, जैसे—

१ प्रथम अवस्था मे—मन्दाग्नि, अरुचि, दन्तवेष्टशोथ और लालास्राव होता है।

२ द्वितीय अवस्था मे—स्वरयन्त्र तथा श्वासनलिकाशोथ, खाँसी, स्वरभेद, त्वचा मे पिडका निकलना, नासास्राव नेत्ररक्तिमा और कालान्तर मे केश तथा नख का पतन होने लगता है।

३ तीसरी अवस्था मे—नाडी-सस्थान पर असर पडता है और शिर शूल, त्वचा मे कही-कही सूनापन होना, पेशियो मे पीडा, नपुसकता तथा कभी-कभी स्वेदाधिक्य होता है।

४ चौथी अवस्था मे—पेशियो मे कम्पन, पक्षाघात, चलने मे असमर्थता और हृत्पेशीदौर्बल्य होने से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१ खाने के लिए पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा मे प्रयोग करे।

२ सोडियम या कैलसियम थायोसल्फेट (Sodium or calcium thiosulphate) का प्रतिदिन सिरामार्ग से इञ्जेक्शन देना चाहिए।

३ शरीर मे सखिया विष के प्रवेश के कारणभूत सभी प्रकार के कार्यों से बचना चाहिए।

४ निदान होते ही बाल (BAL) का योग्य मात्रा मे प्रयोग करना अति लाभप्रद है।

नीलाञ्जन

(Antimony)

इसके अनेक यौगिक होते है, जिनमे एण्टीमनी टार्टरैटम महत्त्वपूर्ण है।

एण्टीमनी टार्टरैटम (Antimony tartaratum)—इसे पोटैशियम एण्टीमनी टार्टरेट (Potassium antimony tartarate) भी कहते हे। यह वर्ण रहित पारदर्शक स्फटिक के रूप मे अथवा चूर्ण रूप मे पाया जाता है। इसमे लगभग ३५

प्रतिशत धातवीय अञ्जन होता है। इसका स्वाद किंचित् अम्ल होता है। यह जल मे घुलनशील है, किन्तु मद्य मे नही घुलता। **स्वेदल** गुण के लिए १/६४ से १/१६ रत्ती की मात्रा मे और **वामक** गुण के लिए १/४ से १/२ रत्ती तक की मात्रा मे प्रयुक्त किया जाता है।

विष-लक्षण—मिचली, वमन, आमाशय मे दाह और पीडा तथा विरेचन होता है। नाडी मन्द, त्वचा शीतल और स्वेदयुक्त, श्वासकृच्छ्रता, मूर्च्छा होना—ये लक्षण होते हैं। कदाचित् हृदयावसाद होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

घातक मात्रा—६०० से १२०० मि० ग्रा० तक।

घातक काल—१० घण्टे से ६० घण्टे तक।

चिकित्सा

१ यदि वमन न हो रहा हो तो वमनकारक औषध देकर वमन कराये।

२ प्रतिविष के रूप मे टैनिकाम्ल (Tannic acid) २ से ४ ग्राम तक की मात्रा मे दे। इसके अतिरिक्त गैलिक एसिड एव कडी चाय या काफी दी जा सकती है।

३ दूध, जैतून का तेल आदि स्निग्ध और शामक औषधे दे।

४ अधिक पीडा होने पर मार्फिया का इन्जेक्शन लगाना चाहिए।

५ उत्तेजना लाने के लिए स्ट्रिक्नीन का इन्जेक्शन देना चाहिए।

पारद
(Mercury)

पर्याय—रस, रसेन्द्र, सूत, रसेश्वर, चपल, रसराज और शिव—ये पारद के पर्याय है।

परिचय—यह एक द्रव धातु है, जो पिघली हुई चाँदी जैसा होता है। इसका वाष्प बहुत विषैला होता है। अत पारद के कारखानो मे काम करनेवाले व्यक्तियो मे पारद के जीर्णविष के लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

पारद के अनेक प्रकार के यौगिक होते है, जैसे—

१ मरक्यूरिक क्लोराइड।
२ मरक्यूरिक आयोडाइड।
३ मरक्यूरिक ऑक्साइड।
४ मरक्यूरिक ऑक्सी साइनाइड।
५ मरक्यूरिक नाइट्रेट।
६ मरक्यूरिक सल्फाइड।
७ मरक्यूरिक सल्फेट।
८ मरक्यूरस क्लोराइड।
९ मरक्यूरस ऑक्साइड।
१० मरक्यूरस नाइट्रेट।
११ मरक्यूरस सल्फेट।
१२ ओलियेटेड मर्करी।
१३ अमोनियेटेड मर्करी।

पारद-विषाक्तता के लक्षण

१ पारद खाने के लगभग डेढ घण्टे के भीतर इसके विष-लक्षण उत्पन्न होते हैं।

२ मुख, गला और आमाशय मे क्षोभ एव तीव्र दाहयुक्त पीडा होती है।

३ स्वरभेद, लालास्राव, दन्त-शैथिल्य, मसूडे मे शोथ और रक्तयुक्त पूयस्राव होता है।

४ श्वासकष्ट, हृल्लास एव वमन मे रक्तयुक्त श्लेष्मा आता है।

५ उदर मे ऐठन के साथ मलत्याग होता है और मूत्राल्पता होती है।

६ नाडी तीव्र किन्तु क्षीण और अनियमित होती है।

७ शीतल स्वेद, श्वासकाठिन्य, तन्द्रा, आक्षेप और मूर्च्छा आदि हृदयावसाद के लक्षण होकर मृत्यु हो जाती है।

घातक मात्रा—रसकर्पूर ३-५ ग्रेन। मरक्यूरिक ऑक्सी सायनाइट २० ग्रेन।

घातक काल—१ से ५ दिन। कम से कम ३० मिनट।

चिकित्सा

१ अल्व्यूमिनेट ऑफ मर्करी को निकालने के लिए आमाशय-प्रक्षालन-नलिका से तुरन्त आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए।

२ जौ के क्वाथ को या आटे को जल मे घोलकर पिलाना चाहिए।

३ शरीरताप-रक्षणार्थ गरम जल से भरी बोतलो से अगो को सेकना चाहिए।

४ हृदयावसाद की स्थिति मे स्ट्रिक्नीन का इञ्जेक्शन देना चाहिए।

५ पीडा की अधिकता मे मार्फिया का इञ्जेक्शन देना चाहिए।

६ अन्य उपद्रवो या लक्षणो की चिकित्सा उन रोगो के अनुसार करे।

७ विषाक्तता का ज्ञान होने के तत्काल बाद सोडियम थायोसल्फेट तथा बाल (BAL) का यथाशीघ्र प्रयोग करना चाहिए।

पारद का जीर्णविष

जब कोई व्यक्ति अधिक समय तक ऐसे वातावरण मे रहता है, जहाँ पारद के बाष्प हो तो वह पारद के जीर्णविष से आक्रान्त हो जाता है। पारद का मुख द्वारा अधिक मात्रा मे प्रयोग करने से अथवा पारदघटित मलहम का दीर्घकाल तक प्रयोग करने से पारद के जीर्णविष के लक्षण उत्पन्न होते है।

लक्षण

१. हृल्लास, वमन, उदरशूल, दन्तमूलशूल एव शोथ, लालास्राव, दन्तशैथिल्य और दाँतो के मूल मे कृमि होना—ये लक्षण होते है।

२ अतिसार, दौर्बल्य, पाण्डु तथा त्वचा मे पिडकाये निकलती है।

३ हाथ-पैर मे कम्पन, जिह्वा और मुखपेशी-कम्पन और मानसिक विकार होता है।

४ खाँसी आती है और उसके साथ रक्त सहित कफ निकलता है।

५ फुफ्फुस वृक्क तथा नाडी-सस्थानगत विकृति होने पर कदाचित् मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१ सर्वप्रथम रोग के कारण का निवारण करना चाहिए।

२ मुखगत विकार और दन्तगत विकार को दूर करने के लिए पोटैशियम क्लोरेट तथा हाइड्रोजन-पर-आक्साइड के घोल से कवलग्रह करना चाहिए।

३ विबन्ध होने पर मैगसल्फ या षट्सकार चूर्ण खिलाना चाहिए।

४ त्वचा की शुद्धि के लिए उष्णोदक से स्नान कराना चाहिए।

५ रोगी की पाचनशक्ति के अनुसार पर्याप्त मात्रा मे दूध पिलाना चाहिए।

६ यथाशीघ्र सोडियम थायोसल्फेट तथा बाल का प्रयोग करना चाहिए।

७ पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए।

८ पक्षाघात होने पर नारायण तैल की मालिश और बिजली से सेंक करे।

९ कम्पन होने पर बार्बिट्युरेट का प्रयोग करना चाहिए।

नाग

(Lead)

पर्याय—सीसक, शीषक, नाग, कुवङ्गक, कुरङ्ग और सर्प के जो नाम है, वे सभी इसके भी नाम है।

परिचय—सीसक या नाग नील-श्याव वर्ण का, गन्धहीन, अपारदर्शक ठोस धातु है। इसमे एक प्रकार की धातवीय चमक होती है। यह जल मे अविलेय है। इसे कागज पर घिसने से काला निशान बन जाता है। इसे लेड (Lead) और और प्लम्बम (Plumbum) भी कहते है। यह चित्र बनाने, छापने के अक्षर बनाने और औषध बनाने के काम आता है। इसके अधोलिखित लवण प्रयुक्त होते हैं।

नाग के लवण

१ **प्लम्बाई एसिटस** (Plumbi acetas)—यह सफेद रग का स्फटिकीय द्रव्य होता है। स्वाद मे मधुर और गन्ध मे सिरके के समान होता है। इससे सपोजीटोरियम प्लम्बाई कम्पाउण्ड (Suppositorium plumbi compound) नामक योग तैयार किया जाता है।

२ **लाइकर प्लम्बाई सब-एसिटेटिस फोर्टिस** (Liqur plumbi sub-acetatis fortis)—यह वर्णरहित स्वच्छ क्षारीय द्रव होता है। इसका स्वाद मधुर और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इससे लाइकर प्लम्बाई सब-एसिटेटिस डाइल्यूटस नामक योग बनाया जाता है।

३ **प्लम्बाई मोनो ऑक्साइडम** (Plumbi mono-oxidum)—इसे लिथार्ज (Litharge) मृदारसंग या मुर्दासंग कहते हैं। यह पीला-नारंगी रंग का [illegible] पदार्थ होता है। यह जल मे अविलेय है किन्तु इसे [illegible]

मे घुल जाता हे। इससे ऐमप्लास्ट्रम प्लम्बाई, पिल्यूला प्लम्बाई कम ओपाई और अञ्जेण्टम प्लम्बाई ओलिएटिस आदि योग बनाये जाते है।

नाग-विषाक्तता के लक्षण

१ कण्ठशोथ, तीव्र तृष्णा, वमन मे रक्त या कफ आना तथा उदरशूल।

२ तीव्र विवन्ध, मूत्र की मात्रा कम, जिह्वा शुष्क और मलिन।

३ श्वास मे दुर्गन्ध, अत्यन्त दौर्बल्य, त्वचा पर शीतल स्वेद।

४ निद्रानाश, तन्द्रा, शिर शूल, चक्कर आना पेशियो मे सकोच एव शून्यता, आक्षेप तथा पक्षाघात आदि लक्षण और उपद्रव होते है।

चिकित्सा

१ मैगनेशियम सल्फेट या सोडियम सल्फेट का घोल पिलाना चाहिए, इससे लेड सल्फेट बनता हे, जो अघुलनशील होता है। इसके बाद जल से आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए।

२ यदि आमाशय का प्रक्षालन न किया गया हो, तो जिंकसल्फेट देकर अथवा एपोमार्फीन का इञ्जेक्शन लगाकर वमन कराना चाहिए।

३ दूध, जौ का क्वाथ, अण्डे की सफेदी आदि स्निग्ध और शामक औषधि दे।

४ अधिक पीडा हो तो मार्फिया का इञ्जेक्शन लगाना चाहिए।

५ उदरशूल मे कैल्मियम क्लोराइड या १० प्रतिशत कैल्सियम ब्रोमाइड की ७ से १० सी० सी० धीरे-धीरे शिरा द्वारा देना चाहिए।

नाग का जीर्णविष

सीसक के कारखाने मे काम करने, चित्रकारी करने, छापाखाने मे कम्पोजिंग करने, पानी का पाइप बैठाने, सिन्दूर का प्रयोग करने, कलईदार वर्तन मे पकाया हुआ भोजन लगातार खाने एव टीन के पात्र मे रखा समान खाने तथा इसी प्रकार के सीसक से सम्बद्ध अन्य वस्तुओ का प्रयोग करने से नाग के जीर्णविष के लक्षण प्रकट होते हैं।

लक्षण

१ शरीर दुर्वल, कान्तिहीन, निस्तेज और पाण्डुवर्ण का हो जाता है।

२ आध्मान, अजीर्ण, अग्निमाद्य और विबन्ध होता हे।

३ रक्तचाप बढ जाता है और नाडी मन्द होती है।

४ वृक्कशोथ होता हे और मूत्र मे अल्ब्युमिन मिलता है।

५ तीव्र विबन्ध, उदरशूल और नाभि के चारो ओर बहुत कुथन होती हे।

६ जानु, कूर्पर और स्कन्ध के जोडो मे रह-रहकर तीव्र शूल होता हे।

७ पेशियो मे आकस्मिक सकोच और कम्पन होता है।

८ निद्रानाश, शिर शूल, शिरोभ्रम, दृष्टिमान्द्य आदि उपद्रव होते है।

९ प्रलाप, उन्माद, आक्षेप और मूर्च्छा —ये उपद्रव होते है।

१० स्त्रियों के योनिमार्ग मे आकस्मिक सकोच तथा गर्भिणी स्त्री का गर्भपात और पुरुषो मे नपुसकता होती है ।

११ बाहुपेशियो मे पक्षाघात हो जाता है, जिससे हाथ नीचे की ओर झुक जाता है तथा अँगुलियाँ भीतर की ओर मुड जाती है ।

चिकित्सा

१ सर्वप्रथम कारण का परित्याग करना चाहिए ।

२ सोडाबाईकार्ब $\frac{1}{2}$ ग्राम की मात्रा दिन मे ४ बार दे । इसके साथ सीसक का घुलनशील योग बन जाता है, बाद मे सोडियम सल्फेट का सतृप्त घोल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए ।

३ पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा मे प्रयोग करे ।

४ पक्षाघात होने पर नारायण तैल की मालिश, विद्युत् स्वेदन एव त्वचा के नीचे स्ट्रिक्नीन क्लोराइड का प्रयोग करना चाहिए ।

५ रोगी को शुद्ध वायुमण्डल मे रखना चाहिए और दुग्ध-प्रधान पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए ।

६ सप्ताह मे एक दिन सोडियम या मैग्नेशियम सल्फेट देकर विरेचन कराना चाहिए ।

यशद

(Zinc)

यह खनिज द्रव्य है और खानो से कैलोमाइन या जिक कार्बोनेट या जिक ऑक्साइड और जिक सल्फाइड के रूप मे पाया जाता है । यह दो प्रकार का होता है —१ जिसमे पत्रक होते है, उसे दर्दुर (जिक कार्बोनेट) कहते हैं और २ जिसमे पत्रक नही होते, उसे कारवेल्लक (जिक सल्फाइड) कहते है ।

परिचय —यह नीलिमा लिये हुए स्फटिकीय धातु है । साधारण ताप पर यह भगुर होता है । लगभग ४२०° से० तापमान पर यह पिघल जाता है ।

यशद के यौगिक

(१) जिक ऑक्साइड (Zinc oxide)—

यह श्वेत चूर्ण के रूप मे पाया जाता है, जिसमे किसी प्रकार का स्वाद नही होता । गरम करने पर किंचित् पीत वर्ण का हो जाता है, किन्तु ठण्डा होने पर पुन श्वेत हो जाता है । यह जल मे अविलेय है, किन्तु सोडियम हाइड्रोक्साइड और हल्के धातवीय अम्लो के विलयनो मे घुल जाता है । औषध के रूप मे ३०० मि० ग्रा० से ६०० मि० ग्रा० तक की मात्रा मे प्रयुक्त होता है । इससे जिक मल्हम (Zinc ointment) और जिक पेस्ट (Zinc paste) बनाये जाते हैं । इसका वाष्प अत्यधिक विषैला होता है ।

(२) जिक सल्फेट (Zinc sulphate)—

इसके स्फटिक वर्णरहित और पारदर्शक होते है। इसमे किसी प्रकार की गन्ध नही होती और यह जल मे घुल जाता है। औषध के रूप मे ६० मि० ग्रा० से १५० मि० ग्रा० तक प्रयुक्त होता है।

(३) जिक क्लोराइड (Zinc chloride)—

यह एक ठोस पदार्थ है, जो चूर्ण के रूप मे, शलाका अथवा ढेले के रूप मे होता है। इसके तीव्र क्षोभक विष के लक्षण उत्पन्न होते है।

लक्षण

अत्यधिक लालास्राव, वमन तथा आमाशय एव अन्त्र मे पीडा होती है। विरेचन होता है। हृदयावसाद उत्पन्न होने पर अन्तत रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१ सोडाबाईकार्ब को गरम जल मे घोलकर उसी से आमाशय का प्रक्षालन कराना चाहिए। जिक क्लोराइड की आशङ्का होने पर प्रक्षालन नही करना चाहिए।

२ यदि वमन न होता हो, तो यथेच्छ गरम जल पिलाकर गले मे अँगुली डालकर वमन करा देना चाहिए।

३ दूध अण्डे की सफेदी, उष्ण चाय, टैनिकाम्ल इत्यादि पिलाना चाहिए। ये पदार्थ इसके प्रतिविष है।

४ यदि पीडा अधिक हो तो मार्फिया का इञ्जेक्शन लगायें तथा अन्य उपद्रवो की रोगानुसार चिकित्सा करे।

ताम्र

(Copper)

परिचय—यह अति प्रसिद्ध धातु है, जो रग मे लाल और चमकीली होती है। यह ताप और विद्युत् का अच्छा चालक है।

ताम्र के यौगिक

कॉपर सल्फेट (Copper sulphate $Cu\ SO_4$)—

इसे १५ मि० ग्रा० की मात्रा मे चिकित्सा मे प्रयोग किया जाता है। इससे एक मलहम बनाया जाता है, जिसे अन्जेण्टम क्यूप्री ओलिएटिस कहते है। यह दद्रु मे विशेष लाभकर है। यह कण्डू आदि रक्तविकारजन्य रोगो मे प्रयुक्त होता है।

लक्षण

१ आमाशय मे दाह के साथ पीडा होती है और प्यास अधिक लगती है।

२. नीले या हरे रग का वमन होता है। पित्तविकारजन्य वमन होने का सन्देह होने पर वमनद्रव्य के साथ अमोनियम हाइड्रोक्साइड मिलाया जाता है। यदि ताम्र-

विषज वमन होता है, तो उसका रग गहरा नीला हो जाता है तथा पित्तज वमन मे प्रतिक्रिया नहीं होती ।

३. उदरप्रदेश मे पीडा होती हे । मूत्र वहुत कम आता हे या मूत्राघात होता है । मूत्रस्राव रक्तमिश्रित होता है ।

४ शौच मे मल का रग भूरा होता है और कुथन के साथ होता है ।

५ कामला रोग हो जाता है । त्वचा पीत वर्ण की हो जाती है । उनका स्पर्श शीतल होता है तथा वह स्वेदयुक्त होती है ।

६ विषाक्तता दूर न होने पर हृदयावसाद, मूर्च्छा या पक्षाघात होकर मृत्यु हो जाती है ।

ताम्र के जीर्ण विष के लक्षण

ताम्र के कारखानो मे या वर्तन आदि बनने की जगह जो लोग काम करते हैं, उनके श्वास-मार्ग से सूक्ष्म ताम्रकण शरीर मे पहुँच जाते है, जिससे वे ताम्रविष से आक्रान्त हो जाते हैं ।

लक्षण

१ मुख का वर्ण ताम्रवत् होता है एव मसूडो पर हरितवर्ण की रेखा हो सकती है ।

२ अरुचि, शिर शूल, शिर चकराना और दुर्वलता होना, ये लक्षण होते हैं ।

३ कभी-कभी शूल और विरेचन होता है । पाण्डुरोग हो जाता है ।

४ त्वचा कामला के समान पीली होती है, मूत्र तथा स्वेद का वर्ण हरापन लिए होता है ।

५ कभी-कभी पक्षाघात जैसे लक्षण हो जाते हैं ।

घातक मात्रा—नीला तूतिया—२५ ग्राम ।

घातक काल—४ घण्टे मे ३ दिन ।

चिकित्सा

१ ५ प्रतिशत के पोटैशियम फेरो सायनाइड (Potassium ferro cynide) के घोल से आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए । इससे क्यूप्रिक फेरोसायनाइड नामक अघुलनशील योग वनता है और वमन होने से विष निकल जाता है ।

२ प्रतिविष के रूप मे दूध और अण्डे की सफेदी देनी चाहिए । इनसे अल्ब्युमिनेट ऑफ कॉपर वनता है, जो अघुलनशील योग हे । इसके वाद एरण्डतैल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए ।

३ पीडा की अधिकता मे मार्फिया का इन्जेक्शन देना चाहिए ।

४ मूत्रल औषध देवे और लक्षणो के अनुसार चिकित्सा करे ।

जीर्णविष की चिकित्सा मे सर्वप्रथम कारण का निवारण करे । रोगी को शुद्ध वातावरण मे रखे और शामक, स्निग्ध, दुग्ध-घृत प्रधान आहार दे । उपयोग मे लाये जाने वाले पात्रो मे कलई कराना चाहिए ।

वक्तव्य : विष-प्रयोग के मार्ग

१ मुखमार्ग से—भोजन के साथ या पेय पदार्थ के साथ।
२ श्वसनमार्ग से—धूल, धुआँ, वाष्प, गैस या नस्य के साथ।
३ शारीरिक छिद्र— गुदा, योनि, नासिका, कर्ण तथा रोमकूपो से।
४ त्वचा द्वारा—अभ्यङ्ग, उबटन, लेप आदि के साथ।
५ क्षत द्वारा—घाव होने मे, क्षत-विक्षत होने से तथा सडन से।
६ पेशी-सिरा—सूचीवेध के समय विष का सक्रमण होने से।

शरीर मे पहुँचे हुए विष के नि सरण के माध्यम मूत्रोत्सर्ग, मलोत्सर्ग, लालास्राव, स्वेद, वाष्प आदि है।

विषाक्तता में प्रभावकारी तत्त्व

१ विष की गुणवत्ता का तीव्र या मन्द प्रभावकारी होना।
२ विष की गुणवत्ता के अनुसार मात्राधिक्य।
३ विष के प्रयोग का प्रकार।
४ विष का शरीर मे सञ्चयन।
५ आक्रान्त व्यक्ति का स्वास्थ्य और आयु।
६ आक्रान्त व्यक्ति का मनोबल, प्रकृति और व्यक्तित्व।

विषाक्तता का निदान

१ रुग्ण के परिजनो से, मित्र और सहचरो से उसकी आदत, नशा-सेवन और खान-पान आदि के बारे मे पूछकर उसका इतिहास जानना चाहिए।

२ रुग्ण के पास उपस्थित खाद्य, पेय, पात्र, गिलास, सीसी, औषध, पान-सुर्ती, जर्दा, तम्बाकू आदि सहेजकर नोट कर लें जिससे आवश्यक होने पर उन सबका परीक्षण किया जा सके।

३ रोगी के श्वास की गन्ध या उपयोग मे लायी जानेवाली अन्य वस्तुओ की गन्ध आदि से अनुमान किया जाना चाहिए।

प्रत्यक्ष परीक्षा

रोगी किस वर्ग या किस कोटि के विष से ग्रस्त है, इसका सही अनुमान रोगी की सूक्ष्म शारीरिक परीक्षा करने पर ही हो सकता है। विष की आशङ्का होने पर रोगी की परीक्षा सम्पूर्णतया सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। अनेक विषो के कुछ लक्षण ऐसे सामान्य होते है, कि निर्णय करना कठिन होता है, फिर भी उन-उन विषो से होनेवाले विशेष लक्षणो के आधार पर अनुमान करना चाहिए।

१. **तत्काल मारक**—पोटैशियम साइनाइड, हाइड्रोसायनिक एसिड, कार्बन मोनोक्साइड, कार्बन-डाई-आक्साइड, आग्जेलिक एसिड इत्यादि।

२ **मूर्च्छाकारक**—मद्य, अफीम, क्लोरल हाइड्रेट, क्लोरोफार्म और कर्पूर आदि के विष-प्रभाव से मूर्च्छा होती है।

३ हृदयावसाद—तीव्र अम्ल या क्षार, वत्सनाभ, नीलाञ्जन, फेनाश्म, तमालपत्र, एण्टी-पायरिन, एण्टी-फ़ेबिन आदि की अन्तिम अवस्था मे होता है ।

४ प्रलाप—धतूरा, भांग, बेलाडोना, मद्य, खुरासानी अजवायन तथा कर्पूर के विषाक्त प्रभाव से प्रलाप होता है ।

५ पक्षाघात—वत्सनाभ, फेनाश्म, नाग आदि के प्रभाव से होता है ।

६. तारा-प्रसारण (पुतली फैलना)—यह धतूरा, बेलाडोना, खुरासानी अजवायन की प्रथमावस्था, अहिफेन तथा वत्सनाभ की अन्तिम अवस्था और मद्य एव क्लोरोफार्म के विषाक्त प्रभाव के कारण होता है ।

७ त्वचा-शुष्कता—यह धतूरा, बेलाडोना तथा खुरासानी अजवायन के प्रभाव से होती है ।

८ त्वचा की आर्द्रता—यह अहिफेन, वत्सनाभ, मद्य, नीलाञ्जन तथा तमालपत्र आदि से उत्पन्न हृदयावसाद की अवस्था मे होती है ।

९ मुखस्वेद—यह रसकर्पूर, दाहक अम्ल और क्षार के विषैले प्रभाव के कारण होता है ।

१० वमन—यह लक्षण प्राय फेनाश्म, नीलाञ्जन, डिजिटैलिस, वत्सनाभ, अमोनिया, फॉस्फोरस आदि के विषाक्त प्रभाव से देखने मे आता है ।

विषाक्तता की सामान्य चिकित्सा

१ शरीर से विष को निकालने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए आमाशय-प्रक्षालन करना चाहिए, वमन कराने की औषध देकर वमन कराना चाहिए तथा विरेचन करने वाली औषध का प्रयोग कर विरेचन कराना चाहिए ।

२ शोषित विष को निर्विष करने के लिए प्रतिविष का प्रयोग करना चाहिए । यदि आमाशय-प्रक्षालन करने के लिए रबर या आमाशय-नलिका (Stomach tube) का प्रयोग किया गया हो, तो उसको आमाशय से निकालने के पहले इसी नलिका द्वारा प्रतिविष को आमाशय मे प्रविष्ट करा देना चाहिए। अधिकतर प्रतिविष का प्रयोग मुख से या सूचीवेध द्वारा किया जाता है ।

३ विषनिष्कासन एव निर्विषीकरण आदि तत्काल करना चाहिए ।

४ अन्य जो लक्षण प्रकट हो उनकी रोगानुसार चिकित्सा करे ।

षष्ठ अध्याय

दंशजनित विकार और उनका प्रतिकार

कुछ प्राणियो के मुख या उदर मे रोगोत्पादक जन्तु रहते हैं। जब ये प्राणी रक्त चूसने के लिए मनुष्य को काटते हैं, तो उनके मुख से थूक द्वारा ये जन्तु शरीर मे प्रवेश कर जाते हैं और वे भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते है।

मच्छरो की एक विषैली जाति है, जो एनाफलीज कही जाती है। इस जाति के मच्छरो के मुख और पेट मे मलेरिया या विषम ज्वर के उत्पादक जन्तु रहते है। ये मच्छर प्लाज्मोडियम (Plasmodium) जाति के मलेरियाजनक जन्तुओ का मनुष्यो मे सवहन, प्रसार और उपसर्ग फैलाते है। जब एनाफलीज मच्छर काटते हैं, तो ये जन्तु शरीर मे पहुँच जाते हैं और वहाँ जाकर बढते है और फिर मलेरिया ज्वर उत्पन्न करते हैं।

कालाजार

(Kala-azar)

परिचय—यह एक सक्रामक ज्वर है, जिसमे तीव्र या मन्द ज्वर, कृशता, क्षीणता, कृष्णवर्णता आदि लक्षण होते है। यह अधिकतर बगाल, आसाम और मदास आदि प्रान्तो मे होता है। इसका उत्पादक कारण लीशमान डोनोवान वाडी (Leishman donovan body) नामक जन्तु है, जिसका प्रसार सैण्डफ्लाई (वालू-मक्षिका) के दश से होता है। इस मक्षिका के काटने से कालाजार जनक जन्तु शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है।

अफ्रीका देश मे होनेवाला अतिनिद्रा रोग एक विशेष जाति की मक्खियो के काटने से होता है, जिनके मुख मे अतिनिद्राजनक जन्तु रहते हैं। जब ये मक्खी काटती है तो ये जन्तु मनुष्य के शरीर मे पहुँच जाते है।

दक्षिण अमेरिका और अफ्रीका के देशो मे होने वाला भयानक पीतज्वर (पीला बुखार) एक विषैली जाति के मच्छरो के काटने से होता है।

श्लीपद (Filaria)—रोगजनक फाइलेरिया बैन्क्राफ्टी (Filaria bancrofti) नामक जन्तु का प्रसार क्यूलेक्स (Culex) जाति की फैटिगान्स (Fatigans) नामक मच्छरो द्वारा होता है।

ग्रन्थिक ज्वर (Plague)—एक तीव्र औपसर्गिक ज्वर है। यह महामारी के रूप मे फैलकर घातक रूप पकड लेता है और हजारो लोग इसके आगोश मे पडकर मृत्यु का वरण करने को मजबूर हो जाते है। इस रोग का मुख्य कारण प्लेग-दण्डाणु (बैसिलस पेस्टिस —B Pastis) है, जिसका सवाहक पिस्सू होता है। पिस्सू एक छोटा भुनगा —फुदकनेवाला विषैला जन्तु है। पिस्सू के शरीर मे असख्य प्लेग

दण्डाणु होते हैं। अनुकूल देश-काल-परिस्थिति होने पर पिस्सू के आक्रमण से चूहे पीडित होते है और चूहो के शरीर पर झुण्ड मे पिस्सू रहने लगते हैं। फिर चूहो की भाग-दौड से घर-गाँव के अन्य चूहे भी पिस्सूवाहक हो जाते हैं। जब बहुसख्यक चूहे मरने लगते हैं तो पिस्सू मनुष्यो पर आक्रमण करने लगते है। एव पिस्सुओ के काटने से प्लेग के दण्डाणु मानव शरीर मे प्रविष्ट होकर प्लेग पैदा करते है।

पागल कुत्ते या सियार के काटने से बहुत से मनुष्यो को अलर्कविष रोग हो जाता है, जिसे फोबिया या जलसत्रास कहते हैं। इस रोग के जन्तु पागल कुत्ते या सियार के थूक मे रहते है।

इन दशजन्य रोगो का वर्णन और उनकी चिकित्सा उन-उन रोगो के वर्णन के प्रसङ्ग मे द्रष्टव्य है।

सर्पदंशजनित विकार और उपचार

जगम विषो मे सर्पविष अति भयङ्कर और प्राणहर होता है। चलने-फिरने वाले प्राणियो के विष को जगमविष कहते है। सर्प के दाँत मे विष होता है, इसलिए इसे दष्ट्राविष (दाँत मे विषवाला) कहते हैं। वस्तुत. सर्प के दाँतो में विष नही होता, अपितु उसके ऊपर के चौघड (तालु-प्रदेश) में दो दाँत पाये जाते है। उन दाँतो के पास एक विशेष थैली होती है, उसी मे विष रहता है। ये दाँत कुछ मुडे हुए-से होते है। जब सर्प काटता है तब उसका दाँत मनुष्य की त्वचा या मासपेशी में धँस जाता है। उस दाँत को निकालने के लिए सर्प अपना गला ऊपर करके झटके से खीचता है, इस समय विष की थैली सकुचित हो जाती है, जिससे विष निकलकर दश-स्थान मे पहुँच जाता है।

सर्प क्यों काटते हैं ?

सर्प स्वभाव से भीरु होते हैं और बहुत आलसी होते हैं। जब वे पैर से दब जाते है या मारने पर क्रुद्ध हो जाते है तब काटते हैं। वे सोते-जागते, चलते-फिरते, झाडी-जगल, कूडे-कतवार, खण्डहर, वृक्ष के कोटर, घास-फूस से निकलकर आक्रमण कर देते है। सचमुच का साँप का काटा व्यक्ति आयुशेष रहने पर ही कदाचित् जीवित बच जाता है। जैसे मनुष्यो के शरीर मे शुक्रधातु सर्वशरीरव्यापी होता है, उसी तरह सर्प के समस्त शरीर मे विष व्याप्त रहता है और जब वह क्रुद्ध होता है, तो विष समूचे शरीर से आकृष्ट होकर विषदन्त मे चला जाता है एव काटने पर दष्ट व्यक्ति के दश मे प्रविष्ट हो जाता है।[1]

सर्प की जातियाँ

भारतवर्ष मे प्राय ३३० प्रकार के सर्प पाये जाते हैं। इनमे से ६१ प्रकार के सर्प ही विषैले होते है। इन विषैले सर्पो की ४० जातियाँ भूमि पर रहने वाली और

१ शुक्रवत सर्वसर्पाणा विष सर्वशरीरगम्।
क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्य शुक्र निर्मन्थनादिव ॥
तेषा बडिशवद् दष्ट्रास्तासु सज्जति चागतम्।
अनुद्धृत्ता विष यस्मान्न मुञ्चन्ति च भोगिन ॥ सु० क० ३।२८-२९

२९ जातियो के सर्प समुद्र मे पाये जाते है। इस प्रकार केवल ४० जातियो के सर्प ही मनुष्य को काटते है।

आचार्य सुश्रुत ने पाँच प्रकार के सर्पों का उल्लेख किया है—१ दर्वीकर, २. मण्डली, ३ राजिमान, ४ निर्विष और ५ वैकरञ्ज।

लक्षण

दर्वीकर सर्प—चक्र, हल, क्षत्र, स्वस्तिक, अकुश का चिह्न धारण करनेवाले, फणयुक्त और शीघ्रगामी होते है।

मण्डली सर्प—अनेक प्रकार के मण्डलों से चित्रित, मन्द गतिवाले, अग्नि और सूर्य के समान कान्तिवाले होते है।

राजिमान सर्प—नानावर्ण की चिकनी, तिरछी ऊर्ध्वगामी रेखाओ से युक्त एव चित्रित होते है। ये तीनो क्रमश वात, पित्त और कफ को प्रकुपित करते हैं।

निर्विष सर्प—विषरहित होते हैं, इसलिए इनका चिकित्सा की दृष्टि से कोई महत्त्व नही है।

वैकरञ्ज सर्प—यह सङ्कर जाति से उत्पन्न होते है। इनके दष्ट मे मिश्रित चिकित्सा की जाती है। अत मूलत दर्वीकर, मण्डली और राजिमान—ये तीन प्रकार मुख्य है।

सर्पदंश
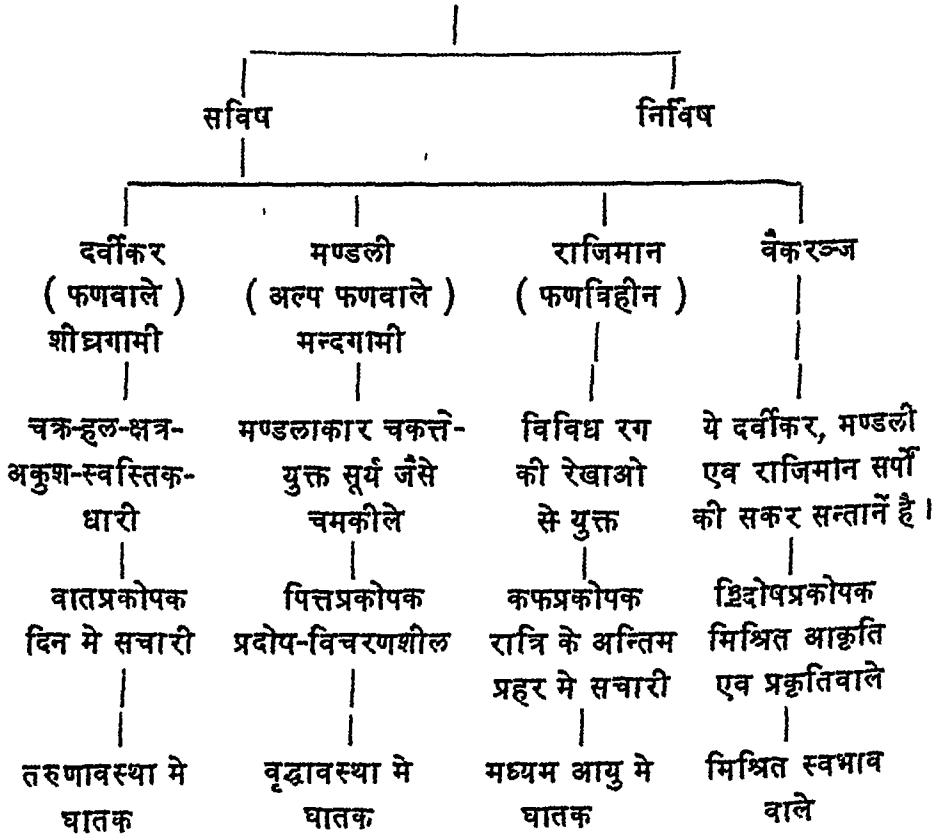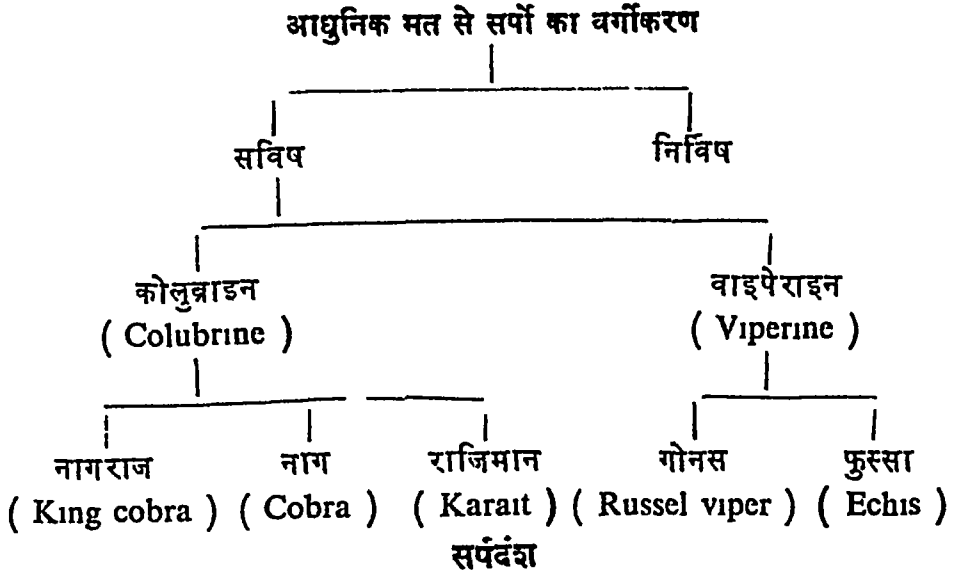
सर्प काटने से जब दशस्थान मे विष प्रवेश कर जाता है तो वह बडा ही तीक्ष्ण और शीघ्र प्रभावकारी असर करता है। वह बिजली और आग की लपट की तरह झपट वारा-न्यारा करनेवाला और तलवार की धार की तरह आशु परिणामकारी होता है।

दर्वीकर सर्प के दंश के लक्षण

इसके विष से त्वचा, नख, नेत्र, दाँत, मुख, मूत्र, मल और दशस्थान काले पड जाते हैं। रूक्षता, शिर मे भारीपन, सन्धियो मे वेदना, कटि, पृष्ठ ग्रीवा मे दुर्बलता, जम्भाई आना, कम्पन, गला बैठना, गले मे घरघराहट, जडता, शुष्क डकार, कास, श्वास, हिक्का, वायु का ऊपर की ओर जाना, शूल, ऐंठन, प्यास, लालास्राव, मुख से झाग आना, स्रोतो का बन्द होना और वातज अनेक प्रकार की वेदनाएँ होना—ये लक्षण होते है।

मण्डली सर्प के दंश के लक्षण

मण्डली सर्प के विष के प्रभाव से त्वचा, नख, मल-मूत्र आदि का पीला पडना, शीत की इच्छा होना, सर्वाङ्ग मे सन्ताप होना, दाह, प्यास, मद, मूर्च्छा, ज्वर, रक्त की ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से प्रवृत्ति, मास का फटना, शोथ, दशस्थान का सडना, पीले रूपो को देखना, शीघ्रता से विष का प्रकोप होना और पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदनाएँ होना—ये लक्षण होते हैं।

राजिमान सर्प के दंश के लक्षण

राजिमान सर्प के विष के प्रभाव से त्वचा, नख आदि श्वेत हो जाते है, शीत लगकर ज्वर होता है, रोमहर्ष, अगो मे जडता, दशस्थान के चारो ओर सूजन, घने कफ का मुख मे गिरना, बार-बार वमन, नेत्रो मे कण्डू, गले मे शोथ और घर्घराहट, श्वासावरोध, आँखो के सामने अँधेरा छा जाना और कफजन्य अनेकविध पीडाएँ होना—ये लक्षण होते है।

कोलुब्राइन जाति के सर्प अपने विष से हृदय-विस्तृति (Dilatation of the heart), श्वासकृच्छ्र एव शोथ उत्पन्न करने के साथ रक्तवहसस्थान की क्रिया को पूर्णत बन्द कर देते है, परिणामस्वरूप रोगी की मृत्यु प्राय ३० मिनट के भीतर हो जाती है।

वाइपेराइन जाति के सर्प का विष रक्तस्राव, रक्तवाहिनियो मे स्राव, हृद्गति-मन्दता और हृदयावसाद से रोगी की मृत्यु कर देते है। मृत्यु होने के समय की सीमा रक्त की अवस्था पर निर्भर है।

सभी सर्पों के विष के लक्षण विष के सात वेगो के अनुसार होते है।

सर्पदंश के सात वेगो के वेगानुसार लक्षण

	दर्वीकर (वातप्रकोपक)	**मण्डली** (पित्तप्रकोपक)	**राजिमान** (कफप्रकोपक)
१	रक्तविकार, कृष्णवर्णता, त्वचा पर चीटी रेगने का आभास।	रक्तविकृति, पीलापन, शीतज्वर	रक्तविकार, पाण्डुवर्ण रोमहर्ष।
२	मास मे प्रवेश, अति-कृष्णता, शोथ और गाँठो का निकलना।	मास मे प्रवेश, अति पीलापन, दाह एव दशस्थान मे शोथ।	मास मे शिथिलता, शिर मे शोथ, जडता।
३	मेदोदुष्टि, दश से स्राव, शिरोगौरव, स्वेदागम, तन्द्रा।	मेद प्रवेश, तन्द्रा, तृष्णा, दश से स्राव एव स्वेदनिर्गमन।	मेदोदुष्टि, तन्द्रा, दश से स्राव, स्वेदागमन।
४	कोष्ठ-प्रवेश, कफप्रधान दोषो की दुष्टि, आलस्य सन्धि-विश्लेष।	कोष्ठ-प्रवेश, ज्वरवृद्धि।	कोष्ठ-प्रवेश, शिरो-गौरव, मन्यास्तम्भ।
५	अस्थि मे प्रवेश, प्राणवायु तथा जठराग्नि का दूषित होना, हिचकी, दाह तथा पर्वभेद होना।	शरीर मे ज्वाला प्रतीत होना।	वाणी की रुकावट और शीतज्वर।
६	मज्जादुष्टि, ग्रहणीविकार, मूर्च्छा, भारीपन, अतिसार, हृदयशूल।	दर्वीकर के समान	दर्वीकर के समान
७	शुक्रधातु मे प्रवेश, व्यान-वायुकोप, सूक्ष्मसिराओ से कफ का स्राव, कमर और पीठ मे टूटन, चेष्टानाश, लालास्रावाधिक्य, स्वेदाति-प्रवृत्ति और श्वासनिरोध।	दर्वीकर के समान	दर्वीकर के समान

सर्पदंश की असाध्यता

अजीर्ण, पित्त और धूप से पीडित व्यक्तियो मे, बालको मे, वृद्धो मे, बुभुक्षितो (भूखो) मे, क्षतक्षीण, प्रमेह एव कुष्ठपीडितो मे, रूक्ष तथा निर्बल व्यक्तियो और गर्भवती स्त्रियो मे सर्पविष असाध्य होता है।[1]

जिसका मुख टेढा हो जाय, जिसके बाल गिर जाये, जिसकी नासा टेढी हो जाय, जिसे स्वरभग हो, जिसके दशस्थान मे लालिमायुक्त कृष्णवर्ण का शोथ हो और जिसे हनुस्तम्भ हो गया हो, वह असाध्य होता है। जिसके मुख से मोटी बत्ती जैसी लाला का स्राव हो, जिसे ऊर्ध्व एव अध दोनो मार्गो से रक्तस्राव हो रहा हो, जिसके दशस्थान पर चार दाँतो के चिह्न हो, उसकी चिकित्सा नही करनी चाहिए। जो उन्मत्त हो, अत्यधिक उपद्रव युक्त हो, विकृत स्वर एव वर्ण का हो, जिसमे अरिष्ट के लक्षण हो, जिसमे मल-मूत्र प्रवर्तन के वेग की शक्ति और गमनागमन की शक्ति न हो, वह असाध्य होता है।[2]

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा

जिस स्थान मे सर्प होने की सभावना हो, उस स्थान को बचाकर अन्य मार्ग से यात्रा करे। किसी खोह मे, ढँके गर्त मे, घास-फूस की ढेर मे और अज्ञात खडहर या भूसा आदि के ढेर मे हाथ-पैर नही डालना चाहिए। अन्धेरे मे बरसाती मौसम मे, पहली वर्षा की ऊमस भरी रात मे, नगे पॉव बिना टार्च जलाये नही चलना चाहिए। सोने के पूर्व बिस्तर-चादर-ओढना आदि को झाड लेना चाहिए। जूता आदि एव पहनने के वस्त्र भी झाडकर पहने। शयन-स्थल की जमीन या दीवार मे छिद्र न हो, दरवाजे के पल्ले ठीक से सटाकर बन्द करने लायक हो तथा जगले और रोशनदान पर महीन जाली लगी होनी चाहिए। सोने के पूर्व कीटनाशक अगरबत्ती या जन्तुघ्न धूप जलाना चाहिए। निवास-स्थान एव शयन-स्थान मे चूहे नही होने चाहिए। दिन मे छाता लेकर और रात मे झर्झर (फटा हुआ बाँस का डण्डा जिसको जमीन पर पटकने पर झर्झर की ध्वनि निकले) को हाथ मे लेकर चलना चाहिए। छाता की छाया देखकर तथा रात मे झर्झर शब्द सुनकर सर्प डर कर भाग जाते है।[3]

सर्पदंश-विषाक्रान्त के चिकित्सासूत्र

१ मन्त्र, २ अरिष्टाबन्धन, ३ उत्कर्तन, ४ निष्पीडन, ५ चूषण, ६ अग्निकर्म, ७ परिषेचन ८ अवगाहन, ९ रक्तमोक्षण, १० वमन, ११ विरेचन, १२

---

१ अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु।
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि ॥ मा० नि० विषनिदान।

२ सु० क० ३।४१–४४

३ छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद् रात्रौ तथा दिवा।
तच्छायाशब्दवित्रस्ता प्रणश्यन्त्याशु पन्नगा ॥ चरक० चि० २३।२५०

उपधान, १३ हृद्य औषध, १४ अञ्जन, १५ नस्य, १६ धूम, १७ अवलेह, १८ औषध, १९ प्रशमन, २० प्रतिसारण, २१ प्रतिविष, २२ सज्ञास्थापन, २३ लेप, २४ मृतसजीवन—इनका प्रयोग आवश्यकता और सुविधानुसार करना चाहिए।

सर्पदंश-निवारण के उपाय

हीरा, पन्ना, पुखराज, पद्मराग, सर्पमणि, वैदूर्य गजमुक्ता, गरमणि तथा विषघ्न औषधो (शिरीषबीज आदि) को धारण करना चाहिए। निवास-गृह मे तोता-सुग्गा, क्रौञ्च, हस, मोर आदि पालना चाहिए। इन पक्षियो को सर्प होने का पूर्वाभास होने पर ये शब्द करते है। साथ ही इन्हे भोजन खिलाकर आहार से सविष या निर्विष होने का परीक्षण किया जाता है।

तात्कालिक सर्पविषघ्न चिकित्सा

१ सर्प के काटने पर यदि सभव हो तो पुरुष को चाहिए कि दौडाकर उस **सर्प को दाँतो से काटे** अथवा मिट्टी के ढेले को दाँतो से काटे।

२ सर्पदश के स्थान के चार अगुल ऊपर **रस्सी-सूत-रबर आदि से कसकर बाँधे,** जिससे रक्त-सवहन अवरुद्ध हो जाये।

३ काटे हुए स्थान को चाकू से चीरकर रक्तस्राव कराकर आग से जला देना चाहिए।

४ रक्त न निकलने पर **आचूषण** करके रक्त निकालना चाहिए। इसके लिए ब्रीस्ट पम्प, रबर-ट्यूब, शृग आदि का प्रयोग करे। यदि मुख से चूसना हो तो मुख मे कपडा या रुई रखकर चूसे। यह रुई या कपडा मुख और शृग छिद्र के बीच मे रहना चाहिए।

५ यदि विष समस्त शरीर मे व्याप्त हो तो **शिरावेध** करके रक्त निकाले।

६ काटे हुए स्थान को शिरीष, मदार, धतूरा आदि के क्वाथ से **सिञ्चित** करे।

७ दशस्थान को पाछकर उसमे **पोटेशियम परमैगनेट** डालना चाहिए।

८ दष्टस्थान का **छेदन** कर प्रक्षालन करे, फिर उस पर घिसा हुआ कुचला या जमालगोटा या अशुद्ध वत्सनाभ विष का **लेप** या शिरीष, मदार या स्नुहीकाण्ड का **कल्क** लगाना चाहिए।

९ बेहोशी मे चन्द्रोदयावर्ती घिसकर **अञ्जन** लगाये। अथवा —

१० कट्फल की छाल के बारीक चूर्ण का नस्य सुँघाये।

११ गले मे कफ जमने से अवरोध प्रतीत हो, तो **पातालगरुडी** की ७ पत्ती और मरिच ११ दाना पीसकर पिलावे या **कवलधारण** करावे।

आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार उपचार

१ यदि हाथ या पैर की अँगुली या किसी अन्य लघु अवयव मे दश हो, तो सम्भव होने पर तत्काल उसे काट कर शरीर से अलग (Amputation) कर दे।

२ यन्त्र द्वारा विष के आचूषण का प्रयत्न करना चाहिए।

३ दश के तत्काल बाद दशस्थल के ऊपर दो जगहो पर रस्सी या रबर की नली या पतले कपडे से कसकर बाँधे, जिससे धमनीगत रक्तप्रवाह बन्द हो जाये फिर दशित स्थान के समीप ही किसी सिरा को काटकर स्वच्छन्दतापूर्वक रक्तस्राव कराये।

४ दशित स्थान के चारो ओर सूचीवेध द्वारा कार्बोलिक साबुन का ५% घोल ५ सी० सी० की मात्रा मे प्रविष्ट करे।

५ दश के बाद यथासम्भव शीघ्र ही काटे हुए सर्प के अनुसार ऐण्टीवेनम सीरम (Anti-venom serum) १०० सी० सी० की मात्रा मे सिरामार्ग (Intravenously) से सूचिकाभरण करना चाहिए।

६ लेक्सिन (Lexin) का सूचीवेध लाभदायक होता है। इसका स्थानिक या नासिका द्वारा या सूचीवेध द्वारा प्रयोग किया जाता है।

७ यदि सर्प की जाति का ठीक ज्ञान हो जाय, तो विशिष्ट प्रतिविष (Anti venom) का प्रयोग करना चाहिए।

८ तेज दर्द होने पर पेथीडीन का इञ्जेक्शन दे। डायजेपाम या बार्बिट्यूरेट का प्रयोग भी वेदनाशामक है।

९ टिटेनस से बचने के लिए एण्टी टिटेनस सीरम (A T S) देना चाहिए।

१० तीव्र रक्तस्राव से रक्षा के लिए रक्त का शिरागत इञ्जेक्शन (Blood transfusion) देना चाहिए।

११ रोगी को सोने नही देना चाहिए और शीत से बचाना चाहिए।

१२ उपद्रवो के अनुसार अन्य उपचार सावधानी से करते रहे, जैसे—गले मे कफ न जमने देने के लिए वमन कराये। कोलैप्स (Collapse) की उपयुक्त चिकित्सा करे।

१३. श्वासावरोध की स्थिति मे ऑक्सीजन (Oxygen) का प्रयोग करे।

१४ जलाल्पता (Dehydration) होने पर सभी मार्गो से यथेष्ट जल का प्रयोग कराये।

१५ सज्ञाप्रबोधनार्थ हृद्य औषध दे और तीक्ष्ण अजन या नस्य दे। आवश्यकतानुसार ग्लुकोज एव कोरामीन का प्रयोग करे।

वृश्चिक दंश और उसका उपचार

कह काले-भूरे रग का विषैला जीव प्राय ५ मिलीमीटर लम्बा होता है। इसे बिच्छी या बिच्छू कहते है। यह पुच्छयुक्त होता है। उनके पुच्छ मे कई पर्व या गाँठे होती है। पुच्छ का अन्तिम भाग ऊपर की ओर मुडा होता है, जिसमे काँटा-सा तुण्ड, आल या टॉड होता है। बिच्छू इसी तुण्ड से डक मारता है और डक के माध्यम से प्राणी के शरीर मे विष का सचार करता है। बिच्छू के डक मारने को 'बिच्छी मारना' कहते हे। यह दश नही करता है अपितु विद्ध करता है।

वेगानुसार सर्पविष-चिकित्सा-सारणी

वेग	दर्वीकर सर्प	मण्डली सर्प	राजिमान सर्प
प्रथम	रक्तमोक्षण	रक्तमोक्षण	तुम्बी लगाकर रक्तमोक्षण, मधु, घृत, अगदपान
द्वितीय	मधु, घृत, अगदपान	मधु, घृत, अगद-पान पश्चात् यवागू	वमन, अगदपान
तृतीय	विषनाशक नस्य, अञ्जन	विरेचन देकर शोधन तथा यवागूपान	दर्वीकरवत् दर्वीकरवत
चतुर्थ	वमन कराकर विषघ्न यवागूपान	दर्वीकरवत्	दर्वीकरवत्
पंचम	शीतल उपचार विरेचन, पश्चात् यवागू	दर्वीकरवत्	तीक्ष्ण अञ्जन
षष्ठ	पूर्वोक्त उपचार	काकोल्यादि मधुर-गण या अगदपान	नस्य
सप्तम	तीक्ष्ण अञ्जन, नस्य, तीक्ष्ण शस्त्र से शिरपर काकपद (+) बनाकर उस पर रक्तमिश्रित मास रखे।	अगद, अवपीड-नस्य	नस्य

उत्पत्ति-भेद से वृश्चिक के तीन प्रकार

(१) गोबर-गोहरी आदि के सडने से उत्पन्न होनेवाले वृश्चिक **मन्दविष** होते हैं, (२) ईंट और लकडी की सडन से उत्पन्न **मध्यमविष** और (३) सर्प के शव की सडन से उत्पन्न होनेवाले **महाविष** होते है।

वृश्चिक-विद्ध के लक्षण

बिच्छू जिस कोटि का होता है, उसके विद्ध में उसके अनुसार लक्षण पाये जाते हैं। सामान्यत बिच्छी मारने की जगह आग से जले हुए के समान जलन होती है। भेदनवत् पीडा की पराकाष्ठा होती है। विष का वेग शीघ्र ही ऊपर की ओर चढ जाता है। बिच्छी के विष का प्रभाव नाडी-सस्थान पर होता है, जिससे हृदय, नासिका, जिह्वा आदि अगो मे कम्प, स्तम्भ, शून्यता, कमजोरी, लालास्राव, मिचली, वमन, मासपेशियो मे ऐठन आदि लक्षण होते है। सार्वदेहिक लक्षणो मे मन्दज्वर, उदर मे भयकर शूल तथा अतिसार आदि लक्षण होते हैं। नाडीमण्डल के

अधिक प्रभावित होने पर सर्वाङ्ग मे स्वेदागम और पेशियो मे उद्वेष्टन (Muscular cramps) आदि होता है। ये ऐंठनें अधिकतर गले तथा अधोहनु की पेशियो मे दृष्टिगोचर होती है।

असाध्य लक्षण

प्राणहर बिच्छी के मारने से मनुष्य के हृदय, नासिका और जिह्वा अपना-अपना कार्य करने मे असमर्थ हो जाते हैं। जिस स्थान मे बिच्छी डक मारता है उस स्थान से मास कट-कट कर गिरने लगता है और वहाँ पीडा की असह्य व्यथा होती है, जिसके कारण विद्ध व्यक्ति को श्वासावरोध तथा सन्यास (Coma) होकर मृत्यु हो जाती है। तीन वर्ष से कम उम्र के बच्चो को बिच्छी मारने पर हृदय एव श्वास-क्रिया के बन्द होने से मृत्यु का भय रहता है।

चिकित्सा

१ यदि हाथ-पैर या अँगुली मे बिच्छू ने डक मारा हो, तो डक के स्थान से ४ इञ्च ऊपर एक टूर्नीक्वे (Tornique) या रबर या रस्सी अथवा कपडा कसकर बाँध देना चाहिए और विद्ध-स्थान पर ब्लेड से चीरा लगाकर रक्त-विष दबाकर बाहर निकाल दें।

२ विद्ध-स्थान पर बर्नोल (Burnol), लाइकर एमोनिया फोर्ट (Liquor ammonia forte) या स्पिरिट लगाना चाहिए।

३ कोकेन या नोवोकेन का स्थानिक प्रयोग करे। नोवोकेन का २% का घोल बनाकर पिचकारी से सूचीवेध के द्वारा विद्ध के आस-पास प्रक्षिप्त कर देने से वहाँ की सावेदनिक नाडियाँ सज्ञाहीन हो जाती है और वेदना की प्रतीति नही होती।

४ तारपीन का तेल, स्पिरिट, टिक्चर आयोडीन एव सरसो के तेल का मिश्रण कर मालिश करने से वेदना का शमन होता है।

५ अमोनियम फोर्ट के फाहे का प्रतिसारण करना (बार-बार पोछना) लाभप्रद होता है।

६ पोटैशियम परमैंगनेट और साइट्रिक एसिड का चूर्ण अलग-अलग ले। विद्ध स्थान पर पहले पोटैशियम परमैंगनेट का थोडा चूर्ण बुरक दे, बाद मे उसके ऊपर साइट्रिक या टार्टरिक एसिड का चूर्ण डाले, फिर उस पर दो-तीन बूँद जल डाले। इससे वहाँ एक उभार-सा बनेगा और विष का असर जाता रहेगा।

७ विद्धस्थल पर पोटाश के कुछ दाने रखकर उस पर एक-दो बूँद नीबू का रस टपकाने से भी विष-वेदना का शमन होता है।

८ आशिक सज्ञाहरण के लिए क्लोरोफार्म सुँघाना भी लाभकर है। इससे रोगी को पीडा की अनुभूति जाती रहती है।

९ उत्तेजक औषध के रूप मे स्पिरिट अमोनिया एरोमेट, ब्राण्डी अथवा कोरामीन का प्रयोग किया जा सकता है।

१० तिर्यक् (Tiryak) और लेक्सिस (Lexis) के प्रयोग लाभकर है ।

११ हल्दी, सेंधानमक, सोठ, मरिच, पीपर और शिरीष के फल या फूल के समभाग के चूर्ण का विद्ध स्थल पर घर्षण करना चाहिए ।

१२ तुलसीपत्र को गोमूत्र मे पीसकर लेप करे ।

१३ चीनी का मीठा शर्बत, अधिक चीनी डाला हुआ दूध अथवा गुड के गाढे शर्बत मे दालचीनी, छोटी लाइची, नागकेशर, तेजपात के चूर्ण का (३ ग्राम की मात्रा मे) प्रक्षेप डालकर पिलाना हितकर है ।

१४ मोर और मुर्गे का पख, सेंधानमक, तिल का तेल और घी सभी को एक मे मिलाकर विद्ध स्थान का धूपन करना लाभप्रद होता है ।

१५ अपराजिता या अपामार्ग की पत्ती पीसकर गरम कर लेप करे ।

१६ जमालगोटा या निर्मली पत्थर पर घिसकर लेप लगाये ।

१७ गुलाबजल मे सेंधानमक घोलकर आँखो मे डाले ।

१८ मदार के दूध का या उसके पत्रस्वरस का नस्य दे ।

१९ अमोनिया गैस सुँघाना चाहिए । अथवा—

२० कट्फल की छाल का बारीक चूर्ण कर उसका नस्य देना चाहिए ।

अलर्क विष

(Rabies)

पर्याय और परिचय—इसे रेबीज, हाइड्रोफोबिया, जलसत्रास और अलर्क विष, श्वानविष आदि नामो से जाना जाता है । यह एक तीव्र सक्रामक रोग है, जो पागल कुत्ता, गीदड आदि प्राणियो के काटने से मनुष्यो को हो जाता हे ।

निदान

कुत्ता, सियार, बन्दर, लोमडी, भेडिया, बिल्ली, सूअर तथा रीछ आदि प्राणियो के काटने से यह रोग होता है । विशेषकर मनुष्यो मे कुत्ते या सियार के काटने से यह देखा जाता है । जब कुत्ता या सियार आदि पागल हो जाते है तो उनके लाला मे इसके विषाणु होते है, और वह जब मनुष्यो को काटता है, तब दश के क्षत द्वारा कुत्ते की लार का विषाणु मनुष्य के शरीर मे पहुँच जाता है । क्षत जितना ही गम्भीर होगा, रोग के उतना ही गम्भीर होने की सभावना होती है ।

सम्प्राप्ति

इस रोग के कीटाणु क्षत द्वारा देह मे प्रविष्ट होकर नाडी-तन्तुओ द्वारा मस्तिष्क तक पहुँच जाते हैं और वहाँ जाकर मस्तिष्क के कोशो मे तथा उनके चारो ओर शोथ उत्पन्न करते है । सुषुम्नाकाण्ड, लालाग्रन्थि और सम्पूर्ण अश्रु-ग्रन्थियो मे ये कीटाणु स्थित होकर विकृति उत्पन्न करते है ।

गुप्तावस्था—दो सप्ताह से दो मास तक यह अवस्था रहती है । सामान्यत बारह दिन से एक वर्ष तक गुप्तावस्था का काल है ।

पागल कुत्ते के लक्षण

कुत्ते में जब तीनों दोषों का प्रकोप होता है, तो कुत्ते के शरीर की रसादि धातुएँ कुपित हो जाती हैं, जिससे कुत्ते के सिर में वेदना होती है, उसके मुख से लार टपकती रहती है, वह हमेशा सिर को नीचे झुकाए रहता है। कुत्ते के अतिरिक्त सियार, बिल्ली, बन्दर आदि हिंसक प्राणियों के काटने से ज्वर, शरीर में जकड़ाहट, प्यास और मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं (च० चि० २३)।

कुत्ता अन्धा और बहरा हो जाता है और चारों ओर दौड़ लगाता रहता है। पूँछ नीचे किये, गरदन लटकाये, कन्धा झुकाये बेचैन और व्याकुल होकर काट खाने को दौड़ता है। अलर्क-विषाक्रान्त अन्य हिंसक प्राणियों के वायु और कफ दूषित होकर संज्ञा और चेष्टा को विकृत कर देते हैं।[1]

अधुनातन चिकित्सा-विज्ञानी दृष्टिकोण—अलर्कविष (Rabies) से आक्रान्त पागल कुत्ते रोगाक्रमण से दस दिनों के भीतर ही प्राण त्याग देते हैं। उनकी पेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उनके भूकने की आवाज बदल जाती है, उनके मुख से लालास्राव होता रहता है, जिसमें विषाणु निकलते हैं। ये विषाणु कुत्ता काटे हुए व्यक्ति के दंशस्थान में लाला द्वारा आते हैं और दष्ट व्यक्ति के नाडीमण्डल द्वारा मस्तिष्क को आक्रान्त कर देते हैं।

अलर्कविष लक्षण

दंशस्थान पर पीड़ा और दाह होता है। वहाँ सूई चुभाने जैसी वेदना और संकोच होता है। मन्द-मन्द ज्वर, शिर शूल, निद्रानाश, बेचैनी और गले की पेशियों में खिंचाव होता है। जल पीने का प्रयास करने पर गले की मांसपेशियाँ सिकुड़ जाती हैं और रोगी जल नहीं पी पाता है। भय, व्याकुलता और कम्पन होने से रोगी निस्तेज और क्षीण होने लगता है। तृष्णाधिक्य, लालास्राव और वमथु होता है। नाड़ी कभी तीव्र और कभी क्षीण होने लगती है। कदाचित् शरीर का ताप अधिक बढ़ने और प्रबल आक्षेप होने पर श्वासावरोध होकर रोगी बेहोश और मरणासन्न हो जाता है।

जलसंत्रास

(Hydrophobia)

मत्त कुत्ते, सियार आदि के काटने से होनेवाले अलर्कविष से एक विलक्षण स्थिति यह होती है जब कि दष्ट व्यक्ति जल का नाम सुनकर, उसे देखकर या स्पर्श कर भयाकुल हो जाता है और उसे रोमाञ्च एवं संत्रास होता है। इसे **जलसंत्रास** कहते हैं। यह घातक लक्षण है।

अरिष्ट लक्षण

कुत्ता आदि के बिना काटे ही किसी व्यक्ति को जलसंत्रास होना अरिष्ट का लक्षण है। ऐसे रोगी को चुल्लूभर पानी से भी भय लगता है। उसे ऐसा आभास

---

१ चरक० चि० २३ तथा सु० क० ८ एवं अ० हृ० उ० ३८।

होता है, कि वह उस जल मे डूब जायेगा। रोगी काटनेवाले जन्तु की तरह चेष्टा या शब्द करता है, कुत्ते से दष्ट व्यक्ति भो-भो करता है और कुत्ते जैसा रोता है। शीशे मे या जल मे उसे उसी जन्तु की परछाई दिखलाई देती है। कुत्ता के काटे या अनकाटे दोनो ही स्थिति मे जलसत्रास घातक होता है।[1]

स्थानिक चिकित्सा

१ काटे हुए स्थान को कार्बोलिक साबुन से अच्छी तरह धो दे। फिर हाइड्रोजन-पर-ऑक्साइड डालकर प्रक्षालित करे या पोटैशियम परमैंगनेट के घोल से व्रण को स्वच्छ करे। तत्पश्चात् काटे हुए स्थान को पाछकर रक्त निकालकर तीव्र बल **नाइट्रिक एसिड** से जला दे। अथवा—

२ किसी विसक्रामक द्रव से प्रक्षालन कर प्याज के कल्क का लेप करे। अथवा—

३ कुचले को घिसकर गाढा प्रलेप लगाना चाहिए। अथवा—

४ काटे हुए स्थान के चारो ओर त्वचा मे, एण्टी-रैबीज सीरम (५–१० मिली०) का सूचीवेध करे। अथवा—

५ तप्त लौहशलाका से दाह कर विषघ्न द्रव्यो का लेप करे।

आभ्यन्तर चिकित्सा

१ एण्टी-रैबिक वैक्सीन (Anti-rabic vaccine) की १४ सूचीवेधो का पूरा कोर्स लगवाना चाहिए। यह सूई उदरभित्ति (Abdominal wall) को टिक्चर आयोडीन से साफ कर देना चाहिए। १४ दिन तक नित्य १० मिली० का सूचिकाभरण करना चाहिए। कुत्ता काटने के बाद जितना शीघ्र हो सके इसे लगवाना चाहिए। बच्चो को आधी मात्रा मे दे। इसे शिरामार्ग से कभी नही लगाना चाहिए।

२ पुराना घृत पिलाना चाहिए।

३ अकोल के मूल का क्वाथ घृत मिलाकर पिलाये।

४ धतूर के कच्चे फल को उचित मात्रा मे पुनर्नवा स्वरस से दे।

५ शुद्ध कुचला चूर्ण १ रत्ती प्रात -साय दूध के साथ दे।

६ सरफोका (शरपुखा) मूल ६ ग्राम और धतूरपत्र कल्क ३ ग्राम चावल के धोवन के साथ प्राय-साय दे।

प्रतिषेध

१ शराब आदि मादक द्रव्यो का प्रयोग नही करना चाहिए।

२ पहाड एव ऊँची सीढी पर नही चढना चाहिए।

३ शीत से बचना चाहिए और मलावरोध नही रहना चाहिए।

---

१ योऽद्भ्यस्त्रस्येददष्टोऽपि शब्दसस्पर्शदर्शनै.।
जलसत्रासनामानं दष्ट तमपि वर्जयेत ॥ अ० हृ० उ० ३८।१५

४ खेल-कूद और व्यायाम एवं श्रम से बचना चाहिए।

५ गुड़, तेल, गरम मसाला और खट्टे पदार्थ नहीं खाना चाहिए।

विषजन्तु-दंश और उपचार

लक्षण—कीड़े जन्तुओं के काटने से दंशस्थान में खुजली, सुई चुभाने-जैसी पीड़ा, विवर्णता, सूनापन, दाह, लालिमा, पक जाना, शोथ, ग्रन्थि बन जाना, अंगों में संकोच, फटन, विस्फोट, अंकुर निकलना, पानी निकलना और ज्वर होना—ये लक्षण होते हैं।

स्थानीय चिकित्सा

१ इसी अध्याय में सर्पदंश की चिकित्सा में बतलाये गये २४ प्रकार के उपचारों में से दंश की अवस्था और आवश्यकता के अनुसार (दो-चार-छह या और अधिक प्रकार से) चिकित्सा करें।

२ दंशस्थान पर लाइकर अमोनिया फोर्ट, सोडाबाइकार्ब या कोई क्षार-प्रधान साबुन घिसकर लगायें।

३. फेनर्गन क्रीम, सोवेण्टाल जैली या कैलाड्रिल लोशन लगायें।

४ बर्नाल, सिलोजीन, हील नामक मल्हम या टिंचर आयोडीन लगायें।

५ वेदना अधिक हो तो २% प्रोकेन का घोल २–३ सी० सी० की मात्रा में दंश के चारों ओर त्वचा में लगायें।

६ यदि उपद्रवस्वरूप शीतपित्त (जुलपित्ती के चकत्ते) उभड़ आयें, तो फेनर्गन एण्टीस्टीन का १०० मिलीग्राम अधस्त्वक् सूचीवेध करें।

आवस्यिक चिकित्सा

१. हृदय में दाह और मुख से लालास्राव होने पर रुग्ण के शरीरबल के अनुसार तीक्ष्ण वमन और विरेचन करायें और बाद में संसर्जनक्रम (पेया-विलेपी-अकृत-कृत यूष आदि) के प्रयोग से अग्नि को सन्धुक्षित कर विष-नाशक अगद औषधों का सेवन करायें।

२ शिरोगत विष-प्रभाव में काली तुलसी की जड़ का अथवा शिरीष बीज के चूर्ण का नस्य देना चाहिए।

३ नेत्रगत विष-प्रभाव में पिप्पल्यादि अंजन (च० चि० २३।१८३) लगाना चाहिए।

४ पक्वाशयगत होने पर हल्दी, दारुहल्दी और मजीठ पीसकर ३ से ६ ग्राम तक की मात्रा में पिलाना चाहिए।

५ सर्वधातुगत हो तो बरियार, ककही की जड़, महुआ का फूल, मुलहठी और तगर के समभाग का चूर्ण ६ ग्राम जल में पीसकर पिलायें।

६ कफप्रधान विकार हो तो पीपर, सोंठ और जवाखार के समभाग चूर्ण में मक्खन मिलाकर दंशस्थान पर धीरे-धीरे मलना चाहिए।

७ **शोथ आदि** हो तो मास्यादि योग (च० चि० २३।१९०) का पान, नस्य, अजन और लेप मे प्रयोग करे ।

८ **सर्वविध विष-प्रभाव** मे लाल चन्दन, तगर, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, दालचीनी, शुद्ध मैनसिल, सुर्ती की पत्ती, शोधित प्रारद, नागकेशर और नखी, इनको समभाग मे लेकर चावल के पानी मे पीसकर पिलाने से सभी प्रकार के विषो के प्रभाव नष्ट होते है ।

कीटदंश और उपचार

कीटो की उत्पत्ति—सर्पों के शुक्र, मल, मूत्र एव शव के सड़ने एव अण्डो के विनाश से कीटो की उत्पत्ति होती है ।

भेद—चरक के अनुसार सक्षेप मे कीट दो प्रकार के होते है—१ दूषीविष कीट और २ प्राणहर कीट । सुश्रुत ने दोषो की अधिकता के अनुमार इसके ४ प्रकार कहे है—१ वातोल्बण, २ पित्तोल्बण, ३ कफोल्बण और ४ सान्निपातिक । इनके अवान्तर भेदो की सख्या ६७ वतलाई है । जिनका विस्तार सुश्रुतसहिता-कल्प० अ० ८ मे द्रष्टव्य है ।

दूषीविष कीटदंश के लक्षण

दशस्थान लाल, श्वेत, कृष्ण या श्याव वर्ण का हो जाता है, वहाँ फुन्सियाँ निकलती हैं और खुजली, दाह, वीसर्प, पाक तथा कोथ होता है ।

प्राणहर कीटदंश के लक्षण

दश मे सर्प के काटने के समान शोथ, वहाँ के रक्त मे भयङ्कर गन्ध, नेत्र मे भारीपन, मूर्च्छा, शरीर मे वेदना और श्वास लेने मे कष्ट, प्यास की अधिकता और भोजन मे अरुचि होती है ।

कीटविष दंश-चिकित्सा

१ पूर्वोक्त जन्तुविषदश की स्थानीय चिकित्सा की तरह दशस्थान का उपचार करना चाहिए । रोगी को वमन-विरेचन करा कर शोधन करे और ससर्जन क्रम से पथ्य दे ।

२ कीटदश स्थल पर क्षीरी वृक्षो (वट-पीपर-पाकड-गूलर-महुआ) की छाल को बारीक पीसकर लेय लगाये ।

३ शोथ, दाह, वेदना और ज्वर हो तो दश पर मोती घिसकर लगाये ।

लूतादंश और उपचार

लूता मकडी को कहते है । मकडी का विष अति भयानक और कठिनाई से जाना जाता है । जिस प्रकार अकुर देखकर वृक्ष की जाति नही जानी जाती, उसी प्रकार शरीर मे अल्प मात्रा मे फैला मकडी का विष दुर्विज्ञेय होता है ।[1]

---

१ प्रोद्भिद्यमानन्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजाति प्रविभाति वृक्ष. ।
वहद्दुरालक्ष्यतम हि तासा विप शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥ सु० क० ८।७९

आचार्य चरक ने लूता के दो प्रकार कहे है—१ दूषीविष लूता और २ प्राणहर लूता। आचार्य सुश्रुत ने लूताओ के सोलह प्रकार बतलाये है, जिनमे आठ साध्य और आठ असाध्य होती हैं। सुश्रुत ने जिन्हे साध्य माना है, उन्हे ही चरक ने दूषीविष लूता माना है और सुश्रुत की असाध्य लूता को चरक ने प्राणहर लूता माना है।

लूताओ के विष का प्रसार

लूताएँ दष्ट प्राणियो मे सात प्रकार से विष का प्रसार करती हैं। जैसे—१ लाला, २ नख, ३ मूत्र, ४ दष्ट्रा, ५ रज, ६ मल और ७ शुक्र से। सुश्रुत ने इसके विष को उग्र, मध्य और हीन भेद से तीन प्रकार का कहा है और चरक ने दूषीविष और प्राणहर भेद से दो प्रकार का माना है।

लूता विष का सात दिनों में भावी लक्षण

प्रथम दिन—दशस्थान अल्प कण्डूयुक्त, फैलनेवाला, कोठ (चकत्ता) युक्त और त्वचा के रग का होता है।

द्वितीय दिन—किनारो पर शोथयुक्त, मध्य मे दबा हुआ और स्पष्ट लक्षणो वाला होता है।

तृतीय दिन—उक्त लक्षण और अधिक प्रकट होता है।

चतुर्थ दिन—विष प्रकुपित होता है और शरीर मे फैलने लगता है।

पञ्चम दिन—पहले से अधिक कुपित होकर फैलता है।

षष्ठ दिन—सम्पूर्ण शरीर मे फैलकर हृदय, मस्तिष्क, फुफ्फुस आदि मर्मदेशो को घेर लेता है।

सप्तम दिन—पुन बढकर शरीर मे व्याप्त होकर मारक हो जाता है।

दूषीविष लूता का दंश-लक्षण

दशस्थान का काला या श्याव होना, वहाँ शिराओ का जाल बनना, आग से जलने जैसा होना, दश का पाक, क्लेद और शोथयुक्त होना तथा ज्वर होना, ये दूषीविष लूता के दश के लक्षण होते हैं।

प्राणहर लूता दंश-लक्षण

दशस्थल मे शोथ तथा श्वेत, काली, रक्त अथवा पीली पिडकाये उत्पन्न हो जाती है। शरीर ज्वराक्रान्त हो जाता है, श्वासकष्ट की अधिकता होने पर प्राण जाने की स्थिति हो जाती है, दाह, हिचकी और शिर मे जकडन होती है।

लूताविष में चिकित्सासूत्र

लूताविष मे सुश्रुताचार्य ने दश प्रकार की चिकित्सा का विधान बतलाया है—जैसे—१ नस्य, २ अञ्जन, ३ अभ्यङ्ग, ४ पान, ५ धूम, ६ अवपीड, ७ कवल-ग्रह, ८ तीक्ष्ण वमन, ९ तीक्ष्ण विरेचन और १० सिरामोक्षण।

चिकित्सा

१ दशस्थान को पोटैशियम परमैंगनेट के घोल से धोना चाहिए। अथवा—

२ मधु-सैन्धव का लेप लगायें या मुलहठी के चूर्ण मे घृत मिलाकर लेप करे।

३ पचक्षीरी वृक्षो (वट-पीपर-गूलर-पाकड-महुआ) की छाल को पीसकर लेप लगायें।

४ **पान-नस्य-अंजन-लेप-अभ्यङ्ग** आदि मे लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, शिरीष-बीज, सिन्दुवार की पत्ती, क्षीरविदारी, तगर, कूठ, पाटला, सुगन्धवाला और अनन्त-मूल की छाल, सब समभाग लेकर लिसोडा की पत्ती के स्वरस मे पीसकर प्रयोग करे।

५ महुआ, मुलहठी, कूठ, शिरीष का फूल, सुगन्धबाला, पाटला की छाल, नीम की छाल और अनन्तमूल—इन्हे समभाग लेकर चूर्ण बनाकर जल मे घोलकर मधु मिलाकर पीने से लूताविष का नाश होता है।

६ मालकागनी, अर्जुन की छाल, शिरीष की छाल, लिसोडे की छाल, क्षीरी वृक्षो की छाल—इनके क्वाथ का पान करने से, कल्क का लेप करने से तथा चूर्ण को खाने से लूतादशज व्रण नष्ट हो जाते हैं।

७ **कर्णिकापातन योग**—लूतादशस्थान मे जो मास के अकुर हो जाते है, उनके पातन के लिए बर्रे का फूल, गाय का दाँत, सत्यानाशी (भडभाड) की जड, कबूतर का बीट, दन्तीमूल, निशोथ, सेंधानमक—इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर जल मे पीसकर लेप करने से लूताविष या कीटविष से कर्णिका (मासाकुर) का पतन हो जाता है।

लाक्षणिक चिकित्सा की दृष्टि से वेदना को दूर करने के लिए मौखिक या सूचीवेध से औषधे दी जाती हैं। जैसे—नोवाल्जीन, सिवाल्विन, कोडोपायरिन आदि। यदि इनसे सन्तोषप्रद लाभ न हो, तो पैथिडीन तथा मार्फिया का प्रयोग करे। केल्सीत्यूवीन (Calciluvin) का शिरामार्ग से प्रयोग उत्तम लाभकारी है। इसके साथ-साथ २०% शक्ति का २ सी० सी० की मात्रा मे मैगसल्फ का मासपेशीगत सूचीवेध करते है।

मूषक दंश और उपचार

चूहे को मूषक कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१ दूषीविष चूहा और २ प्राणहर चूहा।

दूषीविष मूषकदंश और उपचार

दूषीविष वाले चूहे के काटने के स्थान से पाण्डुवर्ण का रक्त निकलता है। वहाँ चकत्ते हो जाते है। दष्ट व्यक्ति ज्वर, अरुचि, रोमाञ्च और दाह से पीडित रहता है।

प्राणहर या असाध्य मूषकदंश

यदि चूहे के काटने पर मूर्च्छा, अगो मे शोथ, शरीर मे विवर्णता, दशस्थान मे

क्लेद, वहरापन, ज्वर, शिर मे भारीपन, लालास्राव और वमन होता हो, तो उस दश को प्राणहर जाने।

साध्यासाध्यता

यह चिरकालानुवन्धी होता है और समुचित चिकित्सा के अभाव मे कुछ महीनो या वर्षों तक वार-वार आक्रमण करता रहता है। यह दूषीविष की तरह वर्षा ऋतु मे कुपित होकर ज्वरादि लक्षणो को उत्पन्न करता है। धीरे-धीरे रोग की तीव्रता घटकर वह अच्छा हो जाता है। कदाचित् वार-वार पुनरावर्तक ज्वर होने से क्षीणता वढ जाती है, जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१ **अग्निकर्म**—दशस्थान पर सवसे पहले दग्धकर्म करे, तत्पश्चात् पाछकर रक्त को वाहर निकाले, फिर उस स्थान पर शिरीष, हल्दी, कूठ, कुकुम और गुरुच पीसकर लेप लगायें।

२ **वमन**—मदनफल, वच, देवदाली और कूठ इन द्रव्यो को गोमूत्र मे पीसकर पिलाकर वमन कराये।

३ **विरेचन**—पचसकार या निशोथ चूर्ण ४-६ ग्राम खिलाकर विरेचन कराये।

४. **नस्य**—चरकोक्त अपामार्ग तण्डुलादि नस्य या शिरीष फल एव त्रिकटु चूर्ण का प्रधमन नस्य दे।

५ **अञ्जन**—भैंस के गोवर के स्वरस मे छोटी पीपर को घिसकर अञ्जन करे।

६ **स्थानिक** उपचार मे शोधनार्थ जीवाणुनाशक घोल का प्रयोग करे और रोपणार्थ व्रणवत् उपचार करे।

आभ्यन्तर प्रयोग

१ कूठ, त्रिकटु, रसौत, मुलेठी, सेंधानमक, कालानमक, चमेली की पत्ती, नागकेसर और काकोल्यादिगण की औषधें कैथ के रस मे पीसकर मधु और चीनी से दे।

२. कैथ और गोमय स्वरस मधु से दे।

३ रसौत, हल्दी, इन्द्रजौ, कुटकी, अतीस, इनके कल्क को प्रतिदिन प्रात काल दे।

४ वनचौलाई की जड के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत का प्रयोग करे।

५ कैथ के पञ्चाङ्ग से सिद्ध घृत का सेवन कराये।

६ 'आखुविषान्तक रस' का रुग्ण के वलावल के अनुसार उचित मात्रा मे ३ सप्ताह पर्यन्त प्रयोग करे।

७ अपामार्गस्वरस १ चम्मच और आधा चम्मच मधु मिलाकर प्रात-साय सेवन कराये।

विषयुक्त मक्षिका एवं वर्रे या पिपीलिका दंश एवं उपचार

विषैली मक्षिका के दंश से उस स्थान में दाह होने लगता है एवं शोथ, लाली, पीडा और खुजली होती है। यदि ये कोष्ठ गर्दन में पीछे डंक मारते हैं तो वेगस नाडी (Vagus nerve) पर अत्यन्त अवसादक प्रभाव पड़ता है और वह व्यक्ति बेहोश होकर गिर पड़ता है।

वर्रे (हाड़ी) दंश के बाद अपना डंक त्वचा में नहीं छोड़ती, जब कि मधुमक्खी अपनी विष की थैली के साथ डंक को दंश के अन्दर छोड़ देती है, जिससे वह विष अन्दर मांसपेशियों में प्रसारित होता रहता है। ऐसी स्थिति में डंक को अंगुलियों से न निकालकर चिमटी आदि अन्य साधनों से निकाले।

चिकित्सा

१ स्थानिक दृष्टि से दंश पर सोडाबाईकार्ब या कपड़ा धोने का साबुन रगड़ना चाहिए। प्याज-हल्दी पीसकर लगायें।

२ फेनर्गन क्रीम, कैलाड्रिल लोशन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

३ काली बाम्बी मिट्टी (कृष्ण वल्मीक–मृत्तिका) को गोमूत्र में पीसकर लगाना चाहिए। यह प्रयोग हड्डा, चींटी या मधुमक्खी आदि के दंश में लेप से लाभ-प्रद होता है।

४ सोंठ, मरिच, सुगन्धबाला, नागकेशर—इन्हें दंशस्थान पर गोमूत्र में पीसकर लगाना चाहिए।

कृकलास (गिरगिट) दंश एवं उपचार

दूषीविष गिरगिट के काटने से शरीर का वर्ण श्याव एवं अनेक वर्णयुक्त हो जाता है, मोह और पुरीष भेद होता है।

- गिरगिट का एक प्रकार विषखोपड़ा होता है। इसके काटने पर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। इसका विष इतना तीव्र होता है कि चिकित्सा करने का अवसर ही नही मिलता।

चिकित्सा

जन्तुदंश-चिकित्सा मे निम्नलिखित प्रकार से चिकित्सा करे—

पञ्चशिरीष अगद—शिरीष के फल, मूल, छाल, फूल और पत्ती को समभाग मे लेकर पीसकर गोघृत मिलाकर पान करने से और दंश पर लेप करने से लाभ होता है।

गृहगोधिका (छिपकली) का दंश और उपचार

छिपकली के दंश के स्थान मे दाह, सूचीवेधनवत् पीडा, स्वेद और शोथ होता है और रोगी के शरीर से बहुत पसीना आता है। विषैली छिपकली के काटने पर पक्षाघात (Paralysis) होता है। यह बहुत विषैली और अशुभ जीव मानी जाती

है । इसका दश, मूत्र, स्पर्श या किसी अग पर गिरना घातक होता है । इसके दश से श्वासकष्ट होता है और मासपेशियो मे आक्षेप (Convulsions) शुरू हो जाते हैं, जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है । इसके विष का मुख्यत हृदय पर प्रभाव पडता है । हृदय विस्फारित (Dialated) हो जाता है तथा आभ्यन्तरिक अवयवो मे रक्ताधिक्य हो जाता है ।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा मे स्थानिक रूप से लाइकर अमोनिया फोर्ट या सोडा-बाई-कार्ब को लगाना चाहिए । विषघ्न लेप लगाना चाहिए एव अगद औषध-पान आदि का प्रयोग करे ।

लेप का योग—कैथ, सेम, मदार का वीज, सोठ, मरिच, पीपर, करञ्ज, हल्दी, दारुहल्दी—इन्हे समभाग मे लेकर जल से पीसकर दशस्थान पर लेप करने से विष-प्रभाव नष्ट हो जाता है ।

शतपदी (गोजर) दंश और उपचार

गोजर के काटने से विषैला प्रभाव होता है । इसका शरीर ३ से ६ इञ्च लम्बा और कई खण्ड या पर्व मे विभक्त होता है । इसके सैकडो जोडी पैर होते है । यह लाल रग का होता है और कोने-अतरे या किसी सामान मे या नीचे दुवका रहता है ।

लक्षण—दशस्थान पर शोथ होता है और वहाँ तीव्र वेदना होती है । सार्वदैहिक लक्षणो मे चक्कर आना, पसीना होना, शिर शूल और वमन होना—ये लक्षण होते हैं ।

चिकित्सा

१ दशस्थान पर सोडाबाईकार्ब लगाना चाहिए अथवा लाइकर अमोनिया के घोल से धोना चाहिए ।

२ वेदना-निवारणार्थ पैथेडीन या मार्फिया का सूचीवेध करे ।

३ सज्जीखार और बकरी की मींगी को जलाकर बनाया हुआ क्षार लगाना चाहिए ।

४ तुलसीपत्र या मूल और श्वेतशिम्बी पीसकर मद्य मिलाकर लेप करे ।

शङ्काविष के लक्षण

गाढे अन्धकार मे पैर आदि मे किसी काँटे आदि के धँस जाने से यह शका हो जाती है कि किसी विषैले जन्तु ने काट खाया, जिसके परिणामस्वरूप अवर मन के व्यक्ति मे विषोद्वेगजन्य लक्षण उत्पन्न हो जाते है । उसे ज्वर, वमन, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, मोह और अतिसार हो जाता है । इसे **शंकाविष** कहते है ।

चिकित्सा

१ रोगी का परीक्षण करके निश्चित करे कि क्या दश असत्य है ? और यदि आशका मात्र हो, तो रोगी को पूर्ण रूप से आश्वस्त करे कि सब कुछ ठीक है, घबडाने की बात नही है।

२ रोगी के विश्वास के अनुसार मन्त्रो से जलप्रोक्षण करे और मन्त्र पढकर कुश से उसके अगो का स्पर्श कर झाड-फूंक दे एव इष्टदेव का स्मरण करावे।

३ **आभ्यन्तर प्रयोग**—क्षीरकाकोली २ ग्राम, मुलहठी १ ग्राम, मुनक्का १० ग्राम, शुद्धगन्धक ½ ग्राम और चीनी १० ग्राम मिलाकर मधु से दिन मे ३–४ बार दे।

पथ्य

अगहनी चावल, साठी चावल, टागुन, सेंधानमक, चौलाई, बैंगन, परवर, लौकी, पपीता, मूग, अरहर की दाल, आँवला, खट्टा अनार तथा विषघ्न आहार-विहार का सेवन करना हितकर है।

अपथ्य

उचित उपचार से विष-लक्षणो का शमन हो जाने के बाद भी विरुद्ध भोजन, पूर्वभोजन के बिना पचे पुन. भोजन, क्रोध करना, भूखा रहना, मद्यसेवन, श्रमजनक कार्य, स्त्री-प्रसङ्ग और दिन मे सोना अपथ्य और अहितकर है।

सप्तम अध्याय

व्याधिक्षमित्व, प्रतिजन तथा प्रतियोगी, लसीका रोग एवं अनूर्जता

व्याधिक्षमित्व

(Immunity)

'व्याधिक्षमित्व वह शक्ति है, जो व्याधि के बल को घटाती है और व्याधि की उत्पत्ति को रोकती है'[1]। व्याधिक्षमित्व आयुर्वेद का प्राचीन शब्द है, जिसे पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र मे इम्युनिटी (Immunity) कहते है।

वातावरण मे सक्रमणशील रोगो के अगणित जीवाणु व्याप्त है, जो श्वासमार्ग से शरीर मे प्रविष्ट होते रहते है। रस और रक्त मे इन जीवाणुओ के विषो को नष्ट करने का अपूर्व सामर्थ्य है, जिससे इन जीवाणुओ का विष नष्ट हो जाता है तथा उनसे होने वाले रोगो से शरीर सुरक्षित बना रहता है। इस स्वाभाविक शक्ति का नाम **व्याधिक्षमित्व** है।

रक्त मे ल्यूकोसाइट नाम के जो क्षत्रकण हैं, वे जीवाणुओ का भक्षण कर उन्हे नष्ट किया करते हैं। इन कणो को **श्वेतकण** कहा जाता है। शरीर मे रोगोत्पत्ति करने वाले जीवाणुओ तथा उनके विषो के भक्षण और विनाश का कार्य रक्तान्तर्गत क्षत्र या श्वेतकणो के अधीन है। इस क्रिया को अग्रेजी मे **फंगोसायटोसिस** (Phangocytosis) कहते है। **जीवाणुओ और विषो के भक्षण की यह क्रिया शरीर की रोगप्रतिबन्धक शक्ति—व्याधिक्षमित्व का प्रमुख व्यापार** है।

रक्त के श्वेतकण अपनी किसी विशिष्ट कल्पना से जीवाणुओ को स्वादिष्ट बना लेते हैं, जिससे ल्यूकोसाइट इनकी ओर सहज ही आकृष्ट हो जाते है। जिस पुरुष मे रक्त की यह कल्पनशक्ति जितनी ही अधिक होगी, वह पुरुष जीवाणुओ के आक्रमण से उतना ही अधिक सुरक्षित रहेगा। यह शक्ति उत्तम आहार और शुद्ध वायु से उपलब्ध होती है। जो मनुष्य पुष्टिदायक भोजन करता है और उसको अच्छी तरह पचा लेता है, उसके श्वेतकण और अन्य सेल्स इन रोगकारी जीवाणुओ का मुकाबला अच्छी तरह कर सकती है। निर्बल और क्षुधा-पीडित को रोग अधिक सताते है। हमारे आत्मिक बल का भी हमारे स्वास्थ्य पर बडा भारी प्रभाव पडता है। इसी प्रकार जीवनीययुक्त आहार के सेवन से उत्तम और स्थिर रूप की व्याधिक्षमता उपलब्ध होती है।

---

१. व्याधिक्षमित्व व्याधिबलविरोधित्व व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्। च० सू० २८।१६ पर चक्रपाणि-टीका।

ल्यूकोसाइट्स के अतिरिक्त रक्त के लिम्फोसाइट नामक श्वेतकण भी जीवाणुओ के प्रतिरोध का कार्य करते है। इनकी उत्पत्ति रसग्रन्थियो, टॉन्सिल्स, पच्यमानाशय के अन्त मे स्थित ग्रन्थिसमूह तथा प्लीहा से होती है।

रक्त के द्रवभाग मे भी जीवाणुओ के सहार करने की शक्ति है। इसमे स्थित जो द्रव जीवाणुओ का सहार करते हैं, उनका नाम **जीवाणुसूदन** (Bacteriolysins) है।

जीवाणुओ के प्रतिरोध का अन्य साधन रक्त की **समसनी शक्ति** (एग्लुटिनेटिंग पावर—Agglutinating power) है। जीवाणुओ का प्रवेश होने पर रक्त मे समसन नाम के द्रव्य उत्पन्न होते हैं। उनके समागम से जीवाणु गतिशून्य होकर एक दूसरे से जुड जाते है।

शरीर मे प्रविष्ट जीवाणुओ द्वारा उत्पन्न विप को निष्क्रिय करने के लिए रक्त प्रतिविष तैयार करता है। सोडा आदि क्षार जिस प्रकार अम्लो के ससर्ग मे आने पर उन्हे उदासीन कर देते है, वैसे ही प्रतिविप भी अपने प्रभाव से जीवाणुजन्य विषो को अभिभूत कर निर्वीर्य कर देते हैं।

व्याधिक्षमित्व के दो भेद

रोगज क्षमता और कृत्रिम क्षमता के भेद से व्याधिक्षमता के निम्न दो प्रकार होते है—

रोगज क्षमता

(Acquired Immunity)

किसी रोग के होने पर एव उस रोग से छुटकारा पा जाने के पश्चात् उस रोग के पुनराक्रमण से बचने की जो शक्ति शरीर मे उत्पन्न हो जाती है, उसे रोगज क्षमता कहते है। यदि किसी रोग का नाश होकर शरीर रक्षित रहती है, तो यह नीरोगता रोगोत्पादक जीवाणुओ पर शरीर की क्षमता की विजय का प्रतीक है। इसके बाद शरीर मे जीवाणुसहार की विशिष्ट शक्ति चिरकाल तक बनी रहती है। अतएव मसूरिका, आन्त्रिक ज्वर आदि रोगो का एक बार आक्रमण हो जाने पर पुन दुबारा आक्रमण प्राय नही होता।

शरीर पर जीवाणुजन्य किसी रोग का आक्रमण होने पर उन रोगजनक जीवाणुओ के प्रतिकार या सहार के लिए शरीर मे यथोचित कल्पन प्रभृति द्रव्यो तथा ल्यूकोसाइट्स की अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। प्रत्येक जीवाणु के लिए ल्यूकोसाइट तो एक ही होते है, परन्तु कल्पन, जीवाणुसूदन, प्रतिविष और समशन भिन्न होते हैं। यदि शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता प्रभावी होती है, तो जीवाणुजन्य विकार नही उत्पन्न होते है। यदि घातक रूप से रोग प्रबल होता दीख पडे, तो शरीर की क्षमता का ह्रास समझना चाहिए।

कृत्रिम या युक्तिकृत व्याधिक्षमता
(Artificial Immunity)

कृत्रिम उपाय से भी शरीर मे व्याधिक्षमता उत्पन्न की जा सकती है। विशिष्ट जाति के जीवाणु अथवा उनके विष को उत्तरोत्तर बढती मात्रा मे सूचीवस्ति (Injection) के द्वारा घोडो के शरीर मे प्रविष्ट किया जाता है। परिणाम मे घोडो के रस-रक्त मे उस जाति के जीवाणुओ के विष का प्रतिरोधी विष उत्पन्न हो जाता है। इन घोडो का रक्त निकालकर उनकी लसीका (Serum) छोटी-छोटी प्रणालियो मे सग्रह् करके रखी जाती है। अनागत रोग के प्रतिबन्ध तथा आगत रोग के प्रतिकार के लिए इस लसीका की सूचीवस्ति दी जाती है। इस चिकित्सा-पद्धति का नाम लसीका-चिकित्सा (Serum therapy) है। मसूरिका प्रतिबन्ध के लिए गोमसूरिका (Cow-pox) से आक्रान्त बछडो के स्तनो से निकले स्राव की सूचीवस्ति दी जाती है। इस पद्धति का नाम 'टीका' (Vaccination) है। इसे ही **युक्तिकृत व्याधिक्षमता** कहते है।

व्याधिक्षमता और शरीर

व्याधिक्षमता की दृष्टि से 'दो प्रकार के शरीर होते है—१ व्याधिक्षम शरीर और २ अव्याधिक्षम शरीर।

व्याधिक्षम शरीर

जिनका शरीर न तो अतिस्थूल हो, न अतिकृश हो, जिनके शरीर मे रक्त, मास और अस्थियो का उचित प्रमाण मे सगठन हो, जो वलवान् हो, जिनके शरीर का पोषण हितकर तथा पौष्टिक आहार से हुआ हो, जिनके आहार द्रव्य और उनकी मात्रा समृद्ध हो और जो उच्च मनोबल-सपन्न हो, ऐसे व्यक्तियो का शरीर **व्याधिक्षम** होता है।

जिनके शरीर मे मास का प्रमाण शरीर के प्रमाणानुसार सम हो, इन्द्रियाँ दृढ हो, उनका शरीर व्याधिक्षमत्व शक्तियुक्त होता है और उन पर रोग का आक्रमण कदाचित् ही होता है। ऐसे व्यक्ति भूख, प्यास के वेगो को और धूप को सहन करनेवाले होते है। वे जाडा-गरमी-वरसात के अतियोग को, परिश्रम को सहनेवाले होते हैं। उनकी जठराग्नि मम होती है। नियमत प्रकृति और सात्म्य के अनुसार जो भी भोजन करते है, उनका पाचन अपने समय पर उचित रूप मे होता है।

जो व्यक्ति स्थौल्यकर एव कार्श्यकर आहार-विहारो को छोडकर साधारण सर्व रस युक्त एव सात्म्य आहार करते हैं, उनके शरीर की धातुएँ सम होती है। उनका शरीर मध्यम श्रेणी का होता है। वे सब कार्यो के करने मे समर्थ होते है और बलवान् होते है। ऐसे व्यक्ति **व्याधिक्षम शरीर** के होते हैं।[1]

१ सममासप्रमाणस्तु समसंहननो नर.।
दृढेन्द्रियो विकाराणा न बलेनाभिभूयते॥

अव्याधिक्षम शरीर

जिन व्यक्तियो का शरीर अतिस्थूल या अतिकृश होता है, जिनके शरीर मे रक्त-मास और अस्थियाँ सुसगठित नही होती, जो दुर्बल होते है, जिनका शरीर अहितकर आहार से पालित होता है, जो अल्पाहारी और हीन मनोबल के होते है, उनका शरीर रोगो के आक्रमण को बर्दास्त नही कर पाता और वे साधारण परिस्थितियो मे भी रोगी हो जाते है, ऐसे लोगो के शरीर **अव्याधिक्षम**[1] होते हैं।

रोगक्षमता : व्यापक सन्दर्भ में

रोगक्षमता-सारणी[2]

- सहज
  - जातिगत
  - वशगत
  - व्यक्तिगत
- जन्मोत्तर या अर्जित
  - सक्रिय
    - नैसर्गिक
      - स्वाभाविक मृदु उपसर्गलब्ध
      - प्रत्यक्ष रोगाक्रमणलब्ध
    - कृत्रिम या मसूरीलब्ध
      - सस्कारित जीवित जीवाणु लब्ध
      - मृत जीवाणुलब्ध
      - जीवाणु विषलब्ध
  - निष्क्रिय
    - सहज
      - माता से प्राप्त
    - जन्मोत्तरकालज
      - कृत्रिम या लसीका लब्ध
        - प्रतिविष लसीका
        - प्रतितृणाण्वीय लसीका
        - सन्निवृत्त लसीका
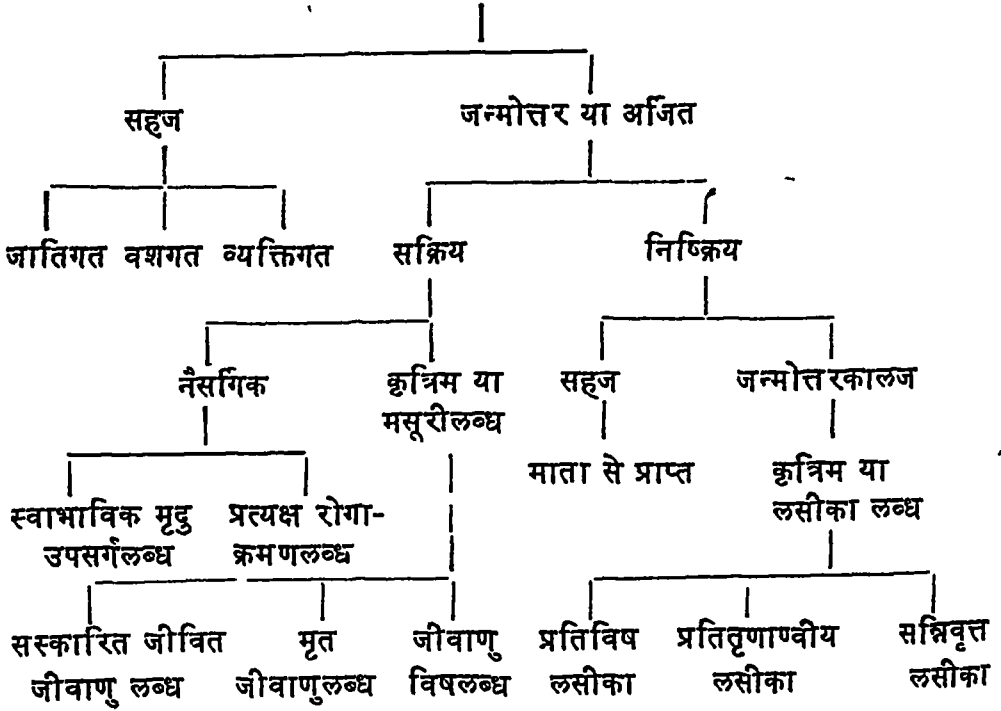
(क) सहज रोगक्षमता

गर्भावस्था मे अपरा के द्वारा माता के शरीर की रोग-प्रतिकारक शक्ति बच्चे मे सवाहित होती है। बहुत-सी जातियो मे एक प्रकार का रोग नही होता, शेष मे दूसरे प्रकार का रोग नही होता। इस सहजक्षमता के जाति, वश और व्यक्तिगत भेद से ३ विभाग किये जाते है—

क्षुत्पिपासातपसह शीत-व्यायामसंसह ।
समपक्ता समजर. सममासचयो मत ॥ च० सू० २१।१८–१९

१ शरीराणि चातिस्थूलानि अतिकृशानि अनिविष्टमास-शोणितास्थीनि दुर्बलानि असात्म्याहारोपचितानि अल्पाहाराणि अल्पसत्त्वानि न भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि । च० सू० २८।६

२. यह शीर्षक 'कायचिकित्सा' लेखक—डॉ० गंगासहाय पाण्डेय के ग्रन्थानुसार साभार सगृहीत है।

१ जातिगत—जैसे —फिरग, कुष्ठ, विसूचिका, रोहिणी आदि औपसर्गिक रोग केवल मनुष्यो को होते हैं। कुछ रोग पशु-पक्षियो को ही होते हैं। प्लेग, राजयक्ष्मा, जलसत्रास और रिकेट्स प्रभृति रोग मनुष्य, पशु या पक्षी को समानरूप से होते है। वकरी को राजयक्ष्मा नही होता। सहज रोगक्षमता जीवन भर स्थायी रहती है और सतति मे भी प्राय. सक्रान्त होती है।

२. वंशगत—यहूदियो को क्षयरोग बहुत कम और नेपालियो को अधिक होता है। अफ्रीकी हब्शियो को पीतज्वर कम, यक्ष्मा अधिक तथा गौराङ्गो को यक्ष्मा और पीतज्वर दोनो अधिक होता है।

३. व्यक्तिगत—लम्वे और चपटे वक्षवाले लोग राजयक्ष्मी हो जाते है। निरन्तर पोषक एवं सन्तुलित आहार-विहार वाला तथा व्यायामशील व्यक्ति रोगक्षमतायुक्त होता है। व्यवसाय रोगक्षमता को घटा-वढा सकता है। वाहर से त्वचा का दृढ आवरण औपसर्गिक रोगो का प्रतिरोध करता है। श्लेष्मलकला का शोधन करते रहने से इस मार्ग से जीवाणु प्रविष्ट नही हो सकते हे। त्वचा, मुख, नासिका एव श्वास-पथ को शोधित करना आवश्यक है। पाचक रस की अम्लता एव मूत्र की अम्लता अनेक जीवाणुओ का विनाश करती रहती है।

सहज क्षमता के ह्रास के कारण

अतिशीत या अति उष्ण जलवायु या शीतोष्ण विपर्यय, अनियमित एवं विषम आहार-विहार, अल्पाहार या उपवास, दूषित अन्नपान आदि क्षमता को घटाते हैं। दूषित वातावरण, मद्यपान, रक्तक्षय एव मधुमेह आदि जीर्ण रोग क्षमता का ह्रास करते है। सहज रोगक्षमता का ह्रास होने एव औपसर्गिक जीवाणु-विष की प्रवलता से रोगोत्पत्ति की सभावना अधिक होती है।

(ख) जन्मोत्तर या अर्जित रोगक्षमता

औपसर्गिक जीवाणु या उनके विष धीरे-धीरे जब शरीर मे सचित होते है तो शरीर उनके प्रति सहिष्णु होकर उनसे होनेवाले रोग के प्रति भी रोगक्षमता अर्जित कर लेता है और शरीर मे एकत्रीभूत विष की पर्याप्त मात्रा के कारण अधिक उपसर्ग होने पर भी रोगाक्रान्त नही हो पाता। यही अर्जित क्षमता के उपार्जन का मूलाधार है। इसके निम्न विभाग किये जाते है—

(१) सक्रिय क्षमता—जब शरीर मे स्वय सक्रिय रूप से क्षमता की उत्पत्ति होती है, तो इसे सक्रिय क्षमता कहते है। यह स्थायी और अस्थायी, दो प्रकार की होती है।

(क) मृदु उपसर्गलब्ध—वचपन से ही शरीर मे अल्प मात्रा मे औपसर्गिक जीवाणुओ का प्रवेश होता रहता है, किन्तु वह अव्यक्त रहता है। उस उपसर्ग से शरीर मे क्षमता उत्पन्न हो जाती है। उपसर्ग के मृदु होने से तथा सहज क्षमता सम्पन्न होने से कुछ वच्चे रोगाक्रान्त होते है और अन्य नही होते, जो भविष्य के

लिए रोगक्षम हो जाते हैं। अतएव युवावस्था मे वे उन रोगो से आक्रान्त नही होते। यही कारण है कि वाल्यावस्था मे रोहिणी, तुण्डीकेरीशोथ, श्वकास, कर्णमूलशोथ, रोमान्तिका आदि का प्रकोप अधिक होता है और युवावस्था मे नही होता है।

(ख) **प्रत्यक्ष रोगाक्रमणलब्ध**—कुछ रोगों मे पीडित होने के पश्चात् शरीर मे लम्बे समय तक उस रोग की प्रतिरोधक क्षमता उपस्थित रहती है और कुछ मे वहुत थोडे समय तक। मसूरिका, रोमान्तिका, कर्णमूलशोथ, रोहिणी, श्वकास आदि से आक्रान्त होने के वाद प्राय जीवन भर या कम से कम १०–१२ वर्ष तक क्षमता वनी रहती है और ये रोग नही होते। आन्त्रिक ज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात और प्लेग मे क्षमता केवल १–२ वर्ष रहती है। इसलिए वाल्यावस्था मे इनसे पीडित होने पर भी आगे चलकर व्यक्ति पुन उनसे आक्रान्त हो जाता है।

(ग) **सक्रिय कृत्रिम क्षमता**—रोगकारक जीवाणुओ का शरीर मे सस्कारित रूप मे प्रवश कराने पर रोगोत्पत्ति के विना क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिसके निम्नलिखित ३ प्रकार हैं—

१ **संस्कारित जीवित जीवाणुलब्ध**—जीवाणुओ की तीव्रता मर्यादित कर या विपरीत परिस्थितियो मे उनका सवर्धन कर तथा दूसरे सस्कारो द्वारा उनकी रोगोत्पादक शक्ति नष्ट कर दी जाती है, जिससे शरीर मे उनका अन्त रोपण होने पर रोगोत्पत्ति तो नही होती, किन्तु रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। जलसत्रास, मसूरिका तथा तन्द्रिक ज्वर की मसूरी (Vaccination) का प्रयोग इस रूप मे होता है।

२ **मृत जीवाणुलब्ध**—सवर्धित जीवाणुओ को ५५ से २० सेण्टीग्रेड तापक्रम पर ३० मिनट तक गरम करते हे। वाद मे इनको फार्मेलीन, फेनोल आदि के घोल म सुरक्षित कर प्रयोग किया जाता है। प्लेग, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर और श्वकास के जीवाणुओ का इस रूप मे उपयोग होता हे। जिन जीवाणुओ का विष उनके शरीर मे केन्द्रित रहता हे, उन्ही की मसूरी इस रूप मे उपयोगी होती है।

३ **जीवाणुविषलब्ध**—धनुर्वात तथा रोहिणी इस श्रेणी के प्रमुख रोग हैं, जिनके प्रतिकार के लिए रोगक्षमता उत्पन्न करने हेतु जीवाणुविपो या उनके विषाभ द्रव्यो (Toxins or toxoids) का प्रयोग होता है। इनके प्रयोग से शरीर मे प्रतिविष का निर्माण होता है, जिससे विषजन्य औपसर्गिक रोगो की लाक्षणिक निवृत्ति होती है। इसी क्रम से घोडे मे जीवाणुविपो का शनै -शनै प्रयोग कराकर प्रतिविप उत्पन्न किया जाता है और प्रतिविषयुक्त घोडे की लसीका का धनुर्वात तथा रोहिणी की चिकित्सा मे प्रयोग होता हे।

(२) **निष्क्रिय क्षमता**—रोग से सक्रान्त हो जाने पर सक्रिय क्षमता के प्रयोग से रोग के वढ जाने की सभावना रहती है। ऐसी स्थिति मे रोगशमनार्थ बनी-बनाई क्षमता का प्रयोग किया जाता है। शरीर की कोषाएँ इसकी उत्पत्ति मे सक्रिय

सक्रिय और निष्क्रिय क्षमता में भेद

सक्रिय क्षमता	निष्क्रिय क्षमता
१. उसी व्यक्ति के शरीर में प्रतियोगी की उत्पत्ति होती है।	१. अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रतियोगी की उत्पत्ति।
२. दीर्घकालिक।	२. अल्पकालिक।
३. प्रत्यक्ष रोग के समान सौम्य स्वरूप के लक्षण उत्पन्न।	३. कोई प्रतिक्रिया नहीं।
४. मसूरी के प्रयोग के ८–१० दिन बाद धीरे-धीरे क्षमता की उत्पत्ति।	४. सक्षम लसीका के प्रयोग से शीघ्र क्षमता उत्पन्न।
५. इसका प्रयोग दीर्घकालानुबन्धी मृदु स्वरूप के रोगों की चिकित्सा में होता है।	५. उग्र व्याधि के शमनार्थ प्रयोग।

प्रतिजन तथा प्रतियोगी
(Antibodies)

जो द्रव्य शरीर की कोषाओ मे प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न करने मे प्रेरक होते है, उन्हे **प्रतिजन** कहते है।

विजातीय द्रव्य और विजातीय प्रोभूजिन (Proteins) आदि के प्रयोग से शरीर मे व्यापक प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यदि प्रतिजन विशिष्ट श्रेणी के होते है अर्थात् किसी एक व्याधि के ही प्रेरक होते है, तो उनसे विशिष्ट प्रतियोगी द्रव्यो की उत्पत्ति होती है, अन्यथा सामान्यरूप से शरीर की प्रतिकारक शक्ति बढती है।

प्रतियोगी द्रव्य—प्रतिजनो की क्रिया के फलस्वरूप आक्रान्त व्यक्ति के शरीर मे कोषाओ के द्वारा जो रक्षक द्रव्य उत्पन्न होते है तथा जो प्रतिजनो के साथ सयुक्त होकर उनके विषैले परिणाम को नष्ट कर देते हैं, उन्हे **प्रतियोगी** द्रव्य कहते है।

व्यापक क्षमता-उत्पादक द्रव्य

१ **प्रोभूजिन वर्ग**—दुग्ध प्रोभूजिन (Milk proteins), पेप्टोन (Pepton), लसिका प्रोभूजिन (Serum proteins), मसूरी (Vaccines), रक्त (Blood)।

२ **धातु तथा उपधातु** (Heavy metals)—मैगनीज, रजत, सुवर्ण, आयोडीन (Iodine), कैल्सियम (Calcium)।

३ **तैलजातीय द्रव्य**—क्षोभक तैल (Oils with tissue irritant properties), जैसे—तारपीन का तेल, कपूर, जैतून के तेल से मिला क्रियोजोट, तुवरक तेल इत्यादि।

वक्तव्य—सुवर्ण, रजत आदि धातु तथा तैल द्रव्यो का प्रयोग किये जाने पर शरीर की प्रतिकारक शक्ति सामान्यतया पहले की अपेक्षा प्रबल हो जाती है।

रोगक्षमता के ह्रास या हीनता जन्य रोग

पूर्व के **अव्याधिक्षम शरीर** शीर्षक मे यह कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति कृश, दुर्बल और हीन मनोबल के होते है, उनमे रोगक्षमता अल्प होती है और वे अल्प कारण की उपस्थिति मे ही रोगाक्रान्त हो जाते है। आचार्य चरक ने आठ निन्दित पुरुषो मे कृश की गणना की है और **कृश व्यक्ति रोगक्षमता-विहीन होता है, जिससे वह प्लीहारोग, कास, राजयक्ष्मा, श्वासरोग, गुल्म, अर्श, उदररोग और ग्रहणीरोग से सहज ही मे आक्रान्त हो जाता है।**[1]

---

१. प्लीहा कास क्षयः श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च।
कृश प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगता ॥ चरक० सूत्र० २१।१४

कृशतानाशक सूत्र—

स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निर्वृति. शम.। चिन्ताव्यवायव्यायामविराम. प्रियदर्शनम् ॥
अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुव सन्तर्पणेन च। स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥
च० सू० २१।२९,३४

रोगक्षमता की कमी से सक्रामक रोग भी धर दबोचते हैं। जैसे ३ वर्ष से १० वर्ष की आयु के बच्चो मे स्कार्लेट फीवर हो जाता है। बच्चो को अक्सर ही हूपिंग कफ (Whooping cough) घेर लेता है। विसर्प (Erysipelas) और रोहिणी (Diphtheria) भी सहज ही हो जाते है। इसी तरह वयस्कों मे आन्त्रिक ज्वर (Typhoid fever), अतिसार (Dysentery), बैसिलरी डिसेण्ट्री, उष्णवात (Gonorrhoea), उपदश (Syphilis), चेचक आदि सक्रामक रोगो का आक्रमण हो जाता है।

वक्तव्य—प्राथमिक और द्वितीय व्याधिक्षमित्व हीनता-जनित विकार एव उपचार के लिए नव्य चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए।[1]

---

1 Primary acquired agammaglobulinaemia has been found eequally in males and females They have an unusually high incidence of auto-immune disease, such as pernicious anaemia, haemolytic anaemia etc A prominent and frequent complication is a sprue-like syndrome and giardia lamblia infection is common Another distinguishing feature of the variable form is the frequent occurrence of non-caseating granulomas, especially in lungs, liver, spleen and skin

As the different immunoglobulins have different functions, deficiencies might be expected to produce different clinical pictures This IGM deficiency is possibly associated with meningococcal meningitis and lack of IGA with gastro-intestinal or respiratory infections In the absence of IGA the lowered resistance would permit invasion of the normally sterile upper gut by bacteria, some of which would produce decomposition of bile salts and thus affect the absorption of fat causing malabsorption with steatorrhoea

Secondary immuno-deficiency

Immunoglobulin deficiency may arise also in adults as a result of abnormal metabolism of serum proteins as occurs in uraemic patients in whom susceptibility to infection in increased Diseases such as sarcoidosis and Hodgkin's disease are associated with a depression mainly of cell mediated hyper sensitivity

Treatment of immuno-deficiency

Immunoglobulin injections (0 250 g/kg body weight per week, consisting mainly of Ig G) can provide effective protection against severe, recurrent pyogenic infections in patients with various types of hypo or agammaglobulinaemia

—Principles and Practice of Medicine John Mackleod
12th ed , p 6–37

रक्त-रस या लसीका चिकित्सा

(सीरम थिरेपी Serum Therahy)

शरीर को किसी रोग से आक्रान्त होने और उत्पन्न रोग के विनाश से बचाने मे लसीका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। लसीका रोगप्रतिबन्धक और रोगविनाशक दोनो है। लसीका के प्रयोग से रोगक्षमता की वृद्धि होती है।

लसीकासाध्य रोग

१. रोहिणी, धनुर्वात और वातकर्दम (Gas gangrane) मे प्रतिविष लसीका प्रयोग,

२ मलाशयी दण्डाणुजन्य उपसर्ग (B Coli infections) मे प्रतितृणाण्वीय (Anti bacterial) लसीका का प्रयोग,

३. विसर्प, विसूचिका, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात तथा दण्डाण्वीय अतिसार इत्यादि मे मिश्रित लसीका का प्रयोग;

४ रोमान्तिका एव शैशवीय अगघात मे सन्निवृत्त लसीका का प्रयोग किया जाता है। और—

५ रक्तस्रावी रोगो मे रक्तस्तम्भक लसीका का प्रयोग किया जाता है।

६ सर्पदश मे प्रतिविष लसीका का प्रयोग किया जाता है।

प्रयोग-मार्ग—लसीका का प्रयोग अधिकतर पेशीमार्ग से किया जाता है। आवश्यक होने पर सिरा द्वारा भी देते है।

मात्रा—रोग की स्थिति के अनुसार मात्रा का निश्चय किया जाता है। सामान्यतया पहले अत्यल्प मात्रा मे देकर सहनशीलता एव अनुकूलता की परीक्षा करते हैं। सह्य होने पर प्रारम्भ से ही उच्च मात्रा का प्रयोग अधिक लाभप्रद होता है।

फलश्रुति या उपलब्धि—लसीका के प्रयोग से सद्य रोगक्षमता की उपलब्धि होती है, जिससे शरीर मे सचित विषो का विनाश होकर रोग की तत्काल निवृत्ति होती है। अत उपयोगिता के अनुसार प्रारम्भ मे ही पर्याप्त मात्रा मे लसीका का प्रयोग करना चाहिए। रोग के बढ जाने पर लसीका के प्रयोग से जीवाणु-विषो का नाश होने पर भी उनके द्वारा उत्पन्न शारीरिक विकृति का परिष्कार नही हो पाता। रोहिणी मे अगघात, हृदयनिपात तथा धनुर्वात मे स्तब्धताजनित व्रण, मूल व्याधि के ठीक होने पर भी बहुत समय तक कष्ट देते रहते है।

लसीका के प्रयोग मे सावधानी—कई बार लसीका-प्रयोग से असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। अत प्रयोग के पहले निम्ननिर्दिष्ट सावधानी वर्तनी चाहिए।

१ अनूर्जताजनित (Allergic) रोगो मे भरसक लसीका का प्रयोग नही करना चाहिए क्योकि उनमे सम्पवेदनता (Sensitiveness) होती है।

२ पूर्व मे किसी लसीका-माध्य रोग मे लसीका का प्रयोग किया गया हो, तो पुन लसीका न दे, क्याकि इससे सूक्ष्मवेदनता के लक्षण उत्पन्न होते है।

३ अधस्त्वगीय एव पेशीगत की अपेक्षा सिरान्तर्गत मे प्रतिक्रिया होने की सभावना अधिक होती है।

४ जिन रोगो मे बार-बार लसीका देने की आवश्यकता हो, जैसे—रोहिणी या धनुर्वात, उनमे प्रयोग के पहले ही नेत्र एव त्वचा कसौटियो द्वारा सूक्ष्मवेदनता का निर्णय कर लेना चाहिए।

नेत्र-कसौटी—रुग्ण के नेत्र मे १ बूँद लसीका डालने पर ३० मिनट के भीतर कण्डू, अश्रुस्राव और रक्तिमा उत्पन्न होकर सूक्ष्मवेदनता की पुष्टि होती हे। यदि एक घण्टे के भीतर कोई कष्ट न हो, तो लसीका का प्रयोग किया जा सकता है।

त्वचा-कसौटी—अधस्त्वगीय मार्ग से १ बूँद लसीका देने पर ५ से २० मिनट के भीतर सूचीवेध के स्थान पर शीतपित्त के सदृश चकत्ता उत्पन्न हो जाता है।

यदि चकत्ता न उत्पन्न हो तो पूर्ण मात्रा मे केवल ऋजु लवण जल (Hypotonic saline) मे मिलाकर प्रविष्ट करना चाहिए।

लसीका रोग

(Serum Sickness)

चिकित्सा मे लसीका का उपयोग करते समय विजातीय प्रोभूजिन (Proteins) की प्रतिक्रिया के समान असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न होते है। इसे **लसीका रोग** कहते हैं।

सूक्ष्म सवेदनशील (Sensitive) व्यक्तियों मे पूर्वोक्त सावधानी का पालन न करते हुए लसीका का प्रयोग किये जाने पर निम्नलिखित दुष्परिणाम होते है—

(क) **तात्कालिक**—जिनमे पहले लसीका का प्रयोग हो चुका है या जो एलर्जिक रोगो से पीडित हें, उनमे पहले से ही असहनशीलता विद्यमान रहती है। ऐसे रोगियो मे औषध-प्रयोग के २-४ मिनट बाद से आधे घण्टे के भीतर अधोलिखित स्वरूप के भयानक लक्षण उत्पन्न होते हैं—**श्वासकृच्छ्र, प्राणावरोध, श्यावाङ्गता, श्लेष्मकलाशोथ, शीतपित्तज चकत्ते** या **विस्फोट, आक्षेप, निपात** तथा **मूर्च्छा** की उत्पत्ति होती है।

(ख) **त्वरित**—यदि प्रतिक्रिया तत्काल न उत्पन्न होकर २४ घण्टे मे ७२ घण्टे के बीच उत्पन्न हो और लक्षण पूर्ववत् मिले तो उसे भी लसीकाजनित प्रतिक्रिया ही माना जाता है। अत लसीका प्रयोग के बाद रोगी को त्वरित प्रतिक्रिया-प्रतिषेध के लिए कुछ औषधियाँ पहले से दे देनी चाहिए।

(ग) **विलम्बित या सामान्य लसीका रोग**—लसीका का प्रयोग सिरा द्वारा करने के ६ से १४ दिन के भीतर यह स्थिति होती है। पूर्व लसीका-प्रयुक्त व्यक्तियों मे पुन प्रयुक्त होने पर जिस प्रकार प्रतिक्रिया होती है, उसी प्रकार सहज सूक्ष्मवेदी व्यक्तियों मे भी एक सप्ताह बाद स्वत तीव्र प्रतिक्रिया हो जाती है।

लक्षण-- हृल्लास, वमन, सन्धिपीडा, सन्धिशोथ, शीतपित्त, ज्वर, लसग्रन्थि-शोथ, मूत्राल्पता, शिर शूल, प्रारम्भ मे श्वेतकायाणुओ की वृद्धि किन्तु अन्त मे अपकर्ष, ये लक्षण होते है ।

चिकित्सा

लसीकारोग-प्रतिषेध के लिए आवश्यक होने पर निम्नलिखित क्रम मे लसीका का प्रयोग करना चाहिए—

१ रोगी को अल्पतम मात्रा १ बूँद लसीका को १० बूँद लवणजल मे मिलाकर अधस्त्वक् मार्ग से देकर धीरे-धीरे प्रतिक्रिया शान्त होने पर, क्रम से १–१ घण्टे पर १–१ बूँद बढाना चाहिए ।

२ यदि सभव हो तो प्रतियोगी . सकेन्द्रित लसीका (Globulin antibody concentrate) काम मे लायी जाय । इसमे अल्प लसिका मे ही अधिक शक्ति होती है तथा इससे लसीकारोग अपेक्षाकृत कम होता है ।

३ लसीकारोग मे प्रारम्भिक प्रयोग के ७–१० दिन बाद प्रतिक्रिया होती है । अत जिन रोगो मे केवल एक मात्रा के प्रयोग से ही चिकित्सा पूर्ण हो जाती हो, उनमे भी आवश्यकता के बिना ही सात दिन के पूर्व एक बार और लसीका का प्रयोग करना चाहिए ।

औषध-प्रयोग—१ एट्रोपीन (Atropine) $\frac{1}{150}$ ग्रेन, एड्रीनलीन (Adrenaline) $\frac{1}{2}$ से १ सी० सी० या एपीनेफिन (Apinephrine) $\frac{1}{2}$ से १ सी० सी० मिलाकर तुरन्त पेशीगत सूचीवेध के रूप मे प्रयोग करे ।

२ अनूर्जतानाशक (Anti-histaminic —Antistin, Benadryl etc) योग तथा जीवतिक्ति (Vitamin) 'सी' के साथ कैलशियम के योगो का पेशीमार्ग से उपयोग प्रथम प्रयोग के आधा घण्टा बाद करना चाहिए ।

३ कैलशियम ग्लूकोनेट (Cal gluconate vitamin 'C) १०% १० सी० सी० का सिरा द्वारा प्रयोग सख्या १ के प्रयोग के चार घण्टे बाद करना चाहिए ।

४ हृदयदौर्बल्य मे हृदयोत्तेजक औषध का प्रयोग करे ।

५. हाइड्रोकार्टिजोन (Hydrocortisone) १०० मि० ग्रा० की मात्रा मे सिरामार्ग से दे ।

अनूर्जता
(Allergy)

परिचय—कुछ लोग स्वभावत किन्ही परिस्थितियो, आहार-विहारो, औषध-द्रव्यों, रोजमर्रा की जिन्दगी मे प्रयुक्त किये जानेवाले खाद्य-पेय पदार्थों, सामान्य ऋतु-परिवर्तनजनित वातावरण, जनसमागम, सम्मेलन, गोष्ठी और सहज जीवन समस्याओ के समाधान-चर्चा मे उद्विग्न, क्षुब्ध और असहनशील जैसे दीखते है । वे या तो वशगत अवर मन से होते है अथवा सामाजिकता मे शून्य होते है । वे

छोटी-सी बात को लेकर तिल का ताड बना देते है और आधी डिग्री टेम्परेचर बढ जाने पर सिर पर पहाड उठा लेते हैं। यदि उन्हे एक ग्रेन क्विनीन का सेवन करा दिया जाय, तो कानो मे आवाज, शिर मे चक्कर, बेचैनी, वमन आदि विषैले लक्षण उत्पन्न हो जाते है। वे रक्त की कुछ बूँद देखकर घबडाने लगते है।

ऐसे व्यक्ति को असहिष्णु या एलर्जिक कहते है। कौन व्यक्ति किस आहार-विहार या औषध के प्रति असहिष्णु है, यह तो उन द्रव्यो के प्रयोग काल मे अल्प-मात्रा मे सेवन कराकर ही जाना जा सकता है। अत बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि किसी नवीन औषध का प्रयोग करते समय प्रारम्भ मे अल्पमात्रा मे ही प्रयोग करे। कई बार विना प्रकृति-परीक्षण किये औषध-प्रयोग से रोगी की जीवनलीला समाप्त हो जाती है। पेनिसिलीन मे अनजाने कितने लोग यमलोक सिधार गये।

ध्यान देने योग्य कुछ बाते

१ अनूर्जता मे कुलज प्रवृत्ति होती है, जो एक सहज स्वभावगत मानसदौर्बल्य है। सन्तति मे उसकी अभिव्यक्ति अनेक लक्षणो के रूप मे हो सकती है। यदि माता-पिता नासा-परिस्राव या अपरस से पीडित है, तो सन्तान श्वास का रोगी हो सकती है अर्थात् कुलज रोग या उससे मिलते-जुलते रोग सन्तान मे देखे जाते है। उकवत (विचर्चिका) रोग कई पीढियो तक की सन्तानो मे होता रहता है।

२ विषम मात्रा मे असात्म्य द्रव्यो का सेवन करने से अनूर्जता उत्पन्न हो सकती है। यदि क्रमवृद्धि से असात्म्य द्रव्यो का सेवन कराया जाय, तो वे द्रव्य सात्म्य हो जाते है।

३ सभी समय, किसी व्यक्ति मे अनूर्जता के लक्षण एक जैसे न होकर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

४ वातावरण मे परिवर्तन होने पर त्वचा या श्लेष्मलकला मे क्षोभ या शोथ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

५ त्वचा, श्वसनमार्ग या महास्रोत मार्ग से या सूचीवेध के द्वारा असात्म्य द्रव्यो का शरीर मे प्रवेश होने पर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। वसन्त ऋतु आने पर या शरद् के आगमन पर प्रतिक्रिया लक्षित होती है।

अनूर्जता की वृद्धि

१ जान्तव वस्त्रो का यथा—गिल्हरी की रोयेदार खाल, रेयन, रबर आदि के विभिन्न उपयोग; पक्षियो के पंखो का गद्दा-तकिया, ऊन आदि का प्रयोग, जन्तुओ, जैसे—बिल्ली-कुत्ता-गिल्हरी-घोडा से सम्पर्क—इन सबसे अनूर्जता की वृद्धि होती है।

२ कुलज प्रवृत्ति—यह एक प्रमुख अनूर्जता का कारक है।

३ वातावरण—शीत या उष्ण मौसम का हेर-फेर होना—कुछ समय गर्मी, फिर सर्दी पडना, प्रस्वेदन, धूल और धूम्रयुक्त वातावरण मे निवास तथा कुक्कुर-खासी रोमान्तिका, इन्फ्लुएन्जा से आक्रान्त होना ये सब अनूर्जतावर्धक कारण है।

४ आहार मे विटामिनो की कमी से यह बढती है।

५ **औषध अनूर्जता**—जैसे वातावरण मे फैले हुए विविध वस्तुओं के सूक्ष्म कण जब नासामार्ग, मुखमार्ग, श्वासपथ, त्वचा या आभ्यन्तर महास्रोतस् मे शरीर मे पहुँचकर अपनी एण्टेजेनिक शक्ति मे विशिष्ट प्रकार के शरीर-प्रतियोगी (Antibodies) तत्त्वो की उत्पत्ति को प्रोत्साहन देते है, उसी प्रकार औपधे भी (यथा -- Aspirin और P A S) शरीर मे पहुँचकर अनूर्जतामूलक प्रतिक्रिया को उत्पन्न करती है, जो शरीर-कोपो की क्रिया को अस्त-व्यस्त कर विकृतिजन्य लक्षणा को जन्म देती है।

अनूर्जता जनित रोग

(Allergic Diseases)

सामान्यत होनेवाले रोगो मे नासाशोथ, नासापरिस्राव और क्षवथु (Watery nasal discharge and sneezing), नासापाक (Rhinitis), शीतपित्त (Urticaria), त्वक्शोथ, दन्तपक्तिशोथ या दाँतो मे खोडला होना (Alveolitis), तृणगन्धज्वर, श्वसनिका-श्वासरोग (Bronchial asthma), फुप्फुसीय दमा (Pulmonary asthma) और अपरस आदि प्रमुख है।

अनूर्जता की प्रकृतिवाले व्यक्तियो मे समय-समय पर इन रोगो का पुनरावर्तन होता रहता है। जो व्यक्ति अपरस से पीडित होकर रोगमुक्त हो जाय, तो उसे श्वासरोग होते देखा गया है।

चिकित्सा—पूर्वलिखित त्वक्-कसौटी के द्वारा असात्म्य वस्तु के निर्णय के पश्चात् अल्पतम मात्रा मे उसका सेवन प्रारम्भ कर क्रमिक रूप से मात्रा बढानी चाहिए। धीरे-धीरे सात्म्यता (अनुकूलता) उत्पन्न करने से असात्म्य द्रव्यो के प्रति अनुकूलता या सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है।

अनूर्जताजनित रोगो का उपचार उन-उन रोगो की चिकित्सा मे निर्दिष्ट प्रकार से करना चाहिए।

चिकित्सक प्रेरित विकारो के प्रकार, उनका सामान्य परिचय और प्रतिकार

चिकित्सा-कर्म एक पुण्यतम कार्य है और किसी रोगी की वेदना को दूर कर उसे आरोग्य प्रदान करनेवाला चिकित्सक चिकित्सा मे **कारण** कहा गया है। उसका यह नैतिक कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम यह विचार करे कि क्या मै रोगी को वर्तमान व्याधि से मुक्त करने मे समर्थ हूँ, अथवा नही ? यदि वह अपने को असमर्थ समझे, तो रोगी को उस रोग के विशेषज्ञ के पास चिकित्सा कराने के लिए जाने को कहे।

स्वगुण-सम्पन्न चिकित्सक ही रोग का निराकरण करने मे समर्थ हो सकता है। चिकित्सक मे—(१) शास्त्र का परिष्कृत ज्ञान, (२) प्रत्यक्ष चिकित्सा-कर्माभ्यास,

(३) कुशलता—सकट को दूर करने की क्षमता, (४) पवित्रता, (५) हस्त-कौशल, (६) चिकित्सा के उपकरणों की सम्पन्नता, (७) सर्वेन्द्रिय-सम्पन्नता, (८) रुग्ण और रोगी की प्रकृति का ज्ञान और (९) किसी आत्ययिक स्थिति मे सकट को झटपट दूर करने की सूझ-बूझ, ये गुण होने चाहिए। इन गुणो से युक्त चिकित्सक अपने कर्तव्य का यथोचित पालन करने मे समर्थ होता है।

उक्त के विपरीत कुछ ऐसे भी (रोगाभिसर) चिकित्सक देखे जाते है, जो शास्त्रज्ञान और क्रियाज्ञान से शून्य होते है, किन्तु अपनी वेशभूषा, आडम्बरपूर्ण वाग्-व्यवहार के चलते अपने को कुशल चिकित्सक ख्यापित करते हैं। रोगियो का पता लगाकर उनके सगे-सम्बन्धियो की चापलूसी कर, उन्हे अपने पक्ष मे कर अपनी चिकित्सा-सफलता की डीग हाँककर, रोगी की चिकित्सा का अवसर प्राप्त कर लेते है। न तो उन्हे शारीर, न शरीर-क्रिया और न ही विकृति-विज्ञान का ज्ञान होता है। न तो वे सही निदान कर सकते हे और न रोगानुकूल औषध की व्यवस्था कर सकते है। ऐसी स्थिति मे अपने स्वल्प ज्ञान के भरोसे जैसे-तैसे समय विताते हैं। यदि रोगी की दशा विगडती देखते हैं, तो सिर पर पाँव रखकर पलायित हो जाते है। ऐसे लोगो की चिकित्सा अटकलपच्चूवाली होती है —'लहा तो तीर नही तो तुक्का'। वे अनजाने मे ही सव कुछ करते है, उन्हे अजाम से कोई मतलव नही—

> 'यस्य कस्य तरोर्मूल येन केनापि मिश्रितम्।
> यस्मै कस्मै प्रदातव्य तद्वा तद्वा भविष्यति'॥

यही उनका लक्ष्य होता है। ऐसे अज्ञ जनो के हाथ मे अपने जीवन-रथ की रास थमा देना खतरा मोल लेना है।

अस्तु, कदाचित् योग्य चिकित्सक भी असावधानीवश भूल कर वैठते हे, जिससे निम्न प्रकार की अनेक विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है—

१ कभी रोग का वास्तविक निदान न हो पाने के कारण उचित चिकित्सा व्यवस्था नही हो पाती और अनुचित औषधे खिला दी जाती है, गलत सूचीवेध लगा दिया जाता है अथवा अवाञ्छित शल्यक्रिया कर दी जाती है।

२ कभी औषध की अधिक मात्रा दे देने से उपद्रव उठ खडे हो जाते है और कभी अल्प मात्रा मे देने से कोई लाभ नही हो पाता।

३ कभी गर्भ को गुल्म समझकर भ्रूण की हत्या हा जाती है या किसी अवाञ्छित अग की शल्यक्रिया हो जाती है।

४ कभी आक्सीजन का गलत प्रयोग एव कभी एनीस्थीसिया का अनुचित प्रयोग कर दिया जाता है।

५ कभी शिरावेध या कटिवेध की क्रिया गडवड हो जाती है।

६ कभी पञ्चकर्म का अति-हीन-मिथ्यायोग होने से सकट उपस्थित हो जाता है और विविध सकट आ पडते है।

७ कभी स्नेहन-स्वेदन या ससर्जन क्रम के व्यतिक्रम से होनेवाली प्रतिक्रिया की विपदा झेलनी पडती है—

'गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत.'।

यह उक्ति सत्य है। बहुत सावधानी बरतने पर भी कितनी अनहोनी घटनाएँ हो जाती है या चिकित्सक और उसके सहयोगी जनो के प्रमाद से त्रुटिपूर्ण चिकित्सा का विधान या शल्यकर्म मे त्रुटि हो जाती है। कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि आपरेशन की छुरी भीतर ही छूट गयी और व्रण का सीवन कर दिया गया।

अत चिकित्सक के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के निर्वाह मे रचमात्र भी असावधानी जानलेवा हो सकती है. इसलिए पूर्ण निष्ठा और जागरूकता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

किसी औषध के प्रयोग के समय सम्भावित प्रतिक्रिया (Reaction) तथा उसके निराकरण का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार शल्यकर्म के समय समग्र उपकरण तथा योग्य सहायको का होना आवश्यक है। किसी भी प्रकार के उपद्रव का तत्काल शमन करने के लिए पहले से ही उपयोगी सामग्री तैयार रखनी चाहिए।

कतिपय उदाहरण

फुप्फुसावरण से द्रव निकालना (Plural tapping)—

फुप्फुसावरणशोथ मे सूचीवेध द्वारा द्रव का निष्कासन किया जाता है, जिसके प्रयोग से व्यवधान या बाधा उपस्थित हो सकती है। जैसे—

वायु का प्रवेश होना (Air embolism)—

यह सम्भव है, कि फुप्फुसीय तरल निकालते समय सूचीवेध करने मे सूची का भाग हार्दिकी धमनी अथवा फुप्फुसीय सिरा मे पहुँचकर वायु का भरण कर दे। हार्दिकी धमनी मे वायु का सभरण होने पर बेहोशी, श्वास, मूर्च्छा, हृदयकाय-विरोध आदि भयकर लक्षण हो सकते है।

चिकित्सा—(१) तरल निकालने का कार्य तत्काल बन्द करे। (२) रोगी का शिर नीचे कर दे। (३) शत-प्रतिशत ऑक्सीजन चिकित्सा आरम्भ करे। (४) मार्फिया के किसी इञ्जेक्शन का प्रयोग न करे। (५) श्वासक्रिया-केन्द्र को अवसादित करने की क्रिया करे।

फुप्फुसावरण की कलाजन्य व्यापत् (Plural shock)—

फुप्फुसावरणकला से द्रव निकालते समय वेधनकाल मे वेगस नाडी की क्रिया-हानि होने से मूर्च्छा (Syncop) हो सकती है एव बाहरी वायु के प्रवेश से भी मूर्च्छा हो सकती है।

चिकित्सा—१ १० से १५ मि० ग्रा० मार्फीन का मासगत सूचीवेध से प्रयोग करना चाहिए।

२ श्वासक्रिया को कम करने के लिए निकेथामाइड का शिरागत इञ्जेक्शन देना चाहिए।

३ वेगस नाडी के प्रभाव को कम करने के लिए १ मि० ग्रा० एट्रोपीन और ५० मि० ग्रा०' पेथीडीन मिलाकर प्रयोग करे। इससे रोगी की स्थिति सुरक्षित रहती है।

अनुचित वायु-प्रवेश या फुप्फुसीय सक्रमण—

फुप्फुसावरण से द्रव निकालने मे यन्त्र का ठीक ढग से प्रयोग न करने से भीतर प्लूरा या उसके अन्य भाग मे संक्रमण हो सकता है। ऐसी स्थिति मे सक्रमण विरोधी या पूयभरण विरोधी उपचार करना चाहिए।

आमाशय मे नली डालना—

वेहोश रोगियो मे नासिका द्वारा आमाशय तक नली डालकर द्रव-आहार पहुँचाया जाता है। होश रहने पर श्वासनली मे ट्यूब जाने पर रोगी को इतना कष्ट होता है कि वह छटपटाने लगता है। कभी-कभी द्रव-आहार भरने मे वडी विषम परिस्थिति हो जाती है और द्रव जब फुप्फुसो मे चला जाता है तो श्वास की अधिकता और तीव्र शोथ एव वेदना होती है। कदाचित् रोगी वेचैन हो उठता है और प्राणनाश का सकट आ पडता है। आमाशय-प्रक्षालनार्थ ट्यूब डालने मे यह त्रुटि हो सकती है।

चिकित्सा—१ यह ध्यान दे कि ट्यूब डालते समय नली आमाशय मे पहुँची या नही।

२. प्रति वार द्रव-आहार डालने से पूर्व ट्यूब को चेक कर लेना चाहिए।

३ एक वार मे ६ औंस तक द्रवाहार धीरे-धीरे डाले।

४ शिर को ६ से ९ इञ्च तक ऊँचा उठाकर ट्यूब मे द्रव डाले।

५ यदि द्रव श्वासप्रणाली मे चला जाता है, तो रोगी को पसीना छूटने लगता है। ऐसी हालत मे भीतर का सव द्रव वाहर निकाल दे। आवश्यकता पडने पर यन्त्र द्वारा चूसना चाहिए (By bronchoscopy and suction)।

६ एण्टीवायोटिक्स का प्रयोग कर फुप्फुस को रुग्ण होने से वचाना चाहिए।

अष्टम अध्याय

क्षुद्र-रोग

[1]**क्षुद्र शब्द की निरुक्ति**—१ 'क्षुदिर् सम्पेषणे' (रु० उ० अ०) धातु से उणादि सूत्र से रक् प्रत्यय होने पर क्षुद्र शब्द बनता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—पीसनेवाला।

२ 'क्षुदिर् सञ्चूर्णने' (रु० उ० अ०) क्षुद्यते वा।

पर्याय[2]—दरिद्र, कृपण, निकृष्ट, अल्प, नृशस, कदर्य, क्षुद्र, अधम, क्रूर—ये सभी समानार्थक शब्द है।

कुछ लोग क्षुद्र का अर्थ **रौद्र** और अन्य लोग **बालक** भी करते है।

आयुर्वेद के सन्दर्भ मे 'क्षुद्र' की परिभाषा

(१) जिन रोगो का वर्णन सक्षिप्त निदान, लक्षण और चिकित्सा के साथ किया गया हो, उन्हे **क्षुद्ररोग** कहते है।

(२) जिन रोगो को लघु समझकर स्वतन्त्र अध्यायो मे वर्णित नही किया गया हो, ऐसे लघु रोगो के वर्ग को क्षुद्ररोग कहते है।

(३) क्षुद्र का अर्थ भयकर और नीच भी है। जिस वर्ग मे अग्निरोहिणी जैसे भयकर और पलित जैसे नीच रोगो का वर्णन हो, उसे क्षुद्ररोग कहते है।

(४) छोटे और दोष-दूष्य आदि का विचार जिनमे नही किया गया हो, ऐसे रोगो को क्षुद्ररोग कहते है।

(५) कुछ लोग क्षुद्र का अर्थ बालक से लगाते हे और बालको को होनेवाले रोगो को क्षुद्ररोग कहते है। किन्तु यह धारणा ठीक नही है, क्योकि इनमे से अधिकाश रोग वयस्को को भी होते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—(१) **सुश्रुत** (निदान० अ० १३) ने ४४ रोगो का, वाग्भट (उत्तर० अ० ३१) ने ३६ रोगो का, तथा माधव (क्षुद्ररोगनि०) ने ४३ क्षुद्र रोगो का वर्णन किया है।

(२) **वाग्भट** ने सुश्रुतोक्त कुछ रोगो को अन्य नाम दिया है, जैसे —इन्द्रविद्धा को विद्धा, अधालजी को अलजी, मषक को माष और न्यच्छ को लाञ्छन कहा है।

इन्द्रलुप्त, पलित, दारुणक और अरूषिका का शिरोरोगाध्याय मे तथा

---

१ 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचा'। अमर० ३।१।४८ पर रामाश्रमी टीका।

२ 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयो'। हेमचन्द्र। रामाश्रमी अ० ३।१।४८ तथा 'क्रूरेऽधनेऽल्पेऽपि क्षुद्र'। अमर० ३।३।१७७। एव 'क्षुद्र स्यादधनक्रूरकृपणाऽल्पेपु वाच्यवत्'। विश्वकोष अमर० ३।३।१७७ रामाश्रमी।

परिकर्तिका, अवपाटिका और निरुद्धप्रकश का गुदरोगाध्याय में एवं अहिपूतना का बालामय में वर्णन किया गया है।

अनुशयी, रकसा पाददारिका, वृषणकच्छू और गुदभ्रंश का उल्लेख नही किया है।

गर्दभी, गन्ध, गन्धनामा, राजिका प्रसुप्ति, उद्वेष्टिका, उत्कोठ और कोठ का अधिक वर्णन किया है।

(३) सुश्रुत ने पामा और विचर्चिका को क्षुद्ररोगो मे और कुष्ठभेद मे भी बतलाया है, जब कि वाग्भट और माधव ने उनका उल्लेख कुष्ठ मे ही किया है।

(४) माधव ने मसूरिका और विस्फोट का पृथक् अध्यायो मे विस्तार से वर्णन किया है, जब कि सुश्रुत एवं वाग्भट ने इन्हें क्षुद्ररोगो मे गिना है।

(५) माधव ने उत्कोठ और कोठ का भी पृथक् अध्यायो मे वर्णन किया है।

(६) माधव ने सुश्रुतोक्त रकसा एवं वाग्भटोक्त राजिका और प्रसुप्ति को छोडकर नीलिका और वाराहदंष्ट्र, इन दो रोगो का अधिक उल्लेख किया है।

(७) मूषिकाकर्ण, मुखशोथ और कक्षाश आदि कुछ अन्य रोगो का भी भोज-संहिता आदि मे उल्लेख मिलता है।

अत उन क्षुद्ररोगो की सख्या अधिक भी हो सकती है। इसी अभिप्राय से सुश्रुत ने सक्षेप मे चौवालीस क्षुद्ररोगो को बतलाया है—'समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति'। (सु० नि० १३)

१. अजगल्लिका-लक्षण

यह कफ और वात दोष से बालको मे उत्पन्न होने वाली मूग के दाने के समान पिडका होती है, जो स्निग्ध, त्वचा के समान वर्णवाली, गांठदार और वेदनाविहीन होती है।

चिकित्सा—

१ अपक्वावस्था मे जोक द्वारा रक्तनिर्हरण तथा सीप की भस्म, सज्जीखार, यवाखार को एकत्र पीसकर जल मिलाकर वारम्वार प्रलेप करे।

२ तरुणावस्था मे कांटे से या सूची की नोक से वेध करने से या तुतमलगा को पानी मे भिगोकर लेप करने से पककर सूख जाती है।

३ खाने के लिए 'इन्दुकला वटी' (भै० र०) १०० मि० ग्रा०/१ मात्रा सवेरे-शाम मधु या दूध से दे।

२. यवप्रख्या-लक्षण

कफ और वात से मास मे होने वाली, यव के आकार की, स्पर्श मे अधिक कठिन, गाँठदार पिडका को यवप्रख्या कहते है।

चिकित्सा—

१ मैदा लकडी, मुसब्बर और आमाहल्दी का लेप लगावे।

२ खाने के लिए काञ्चनार गुग्गुलु उचित मात्रा म सवेरे-शाम देवे।

३. अन्धालजी-लक्षण

कफ एव वात से उत्पन्न, कठिन, मुखरहित, उठी हुई, मण्डलाकार और अल्पपूय युक्त पिडका को अन्धालजी कहते है।

चिकित्सा—इसमे स्वेदन करके देवदारु, मैनसिल और कूठ को पीसकर लेप करना चाहिए।

४ विवृता-लक्षण

पित्त से उत्पन्न खुले-फैले मुखवाली, दाहयुक्त, पके गूलर के फल के समान वर्णवाली और चारो ओर मे घेरे मे घिरी पिडका को विवृता कहते है।

चिकित्सा—

१ शतधौतघृत मे सोनागेरू मिलाकर लेप करे अथवा लालचन्दन, मुलहठी, देवदारु, मजीठ और खश को समभाग लेकर पीसकर लेप करे।

२ खाने के लिए 'नवकगुग्गुलु' (भै० र०) का प्रयोग करे।

५. कच्छपी-लक्षण

कफ तथा वात से उत्पन्न, मध्य मे कछुए की पीठ के समान उन्नत, पाँच-छ सख्या मे होने वाली, दारुण व्यथायुक्त पिडका को कच्छपिका कहते हैं।

चिकित्सा—स्वेदन कर देवदारु, मैनसिल और कूठ पीसकर लेप करे।

६. वल्मीक

वात-पित्त-कफ से उत्पन्न, सूई चुभाने जैसी वेदनायुक्त, स्राव-दाह-कण्डूयुक्त, वल्मीक के स्वरूप की, धीरे-धीरे बढनेवाली, हाथ-पैर के तलवे मे, ग्रीवा और जन्तु के ऊपर होनेवाली, व्रणो से व्याप्त गाँठ को वल्मीक कहते हे।

चिकित्सा—वल्मीक को शस्त्र से चीरकर गाँठ को निकाल दे, फिर क्षार या अग्नि मे दग्ध करे। यदि मर्मस्थान मे न हो तो रक्तमोक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् मन शिलादि तैल लगावे।

योग—मैनसिल, हडताल, भिलावा, छोटी इलायची, अगर, लालचन्दन और चमेली के पत्ते को समभाग मे लेकर पीसकर कल्क कर चतुर्गुण तिलतैल मे, तेल से चौगुना पानी डालकर तेल पकावे। इसके प्रयोग मे बहुछिद्र युक्त एव स्रावयुक्त वल्मीक नष्ट हो जाता है।

७ इन्द्रवृद्धा-लक्षण

वात और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न और कमल की कर्णिका के आकार की छोटी फुन्सियोवाली पिडका को इन्द्रविद्धा कहते है।

चिकित्सा—पञ्चवल्कल (वट, गूलर, पीपर, महुआ और पाकड) की छाल को पीसकर लगावे और इनके ही क्वाथ से परिषेक करे अथवा घृत मिलाकर दशाङ्ग लेप लगावे।

८. पनसिका

दोनो कानो पर या उनके चारो ओर अथवा पीठ पर कमलकन्द की आकृति की तीव्र पीडायुक्त कफ एव वायु के प्रकोप से उत्पन्न पिडका को पनसिका कहते है।

चिकित्सा—स्वेदन कर मैनसिल, देवदारु और कूठ पीसकर लेप करे।

९. पाषाणगर्दभ

कफ और वायु के प्रकोप से हनुसन्धि-प्रदेश म उत्पन्न पाषाणवत् कठिन, अल्प पीडावाले स्थिर शोथ को पाषाणगर्दभ कहते है।

चिकित्सा—पत्थर के टुकडे से स्वेदन करना चाहिए या लवग को पीसकर लगाना चाहिए अथवा देवदारु, मन शिला और कूठ पीसकर लेप करना चाहिए। यदि पक जाय तो चीर कर व्रणवत् उपचार करे।

१० जालगर्दभ

पित्त के प्रकोप से उत्पन्न, विसर्प के समान प्रसरणशील, दाह एव ज्वर युक्त तथा अल्प पाकयुक्त शोथ को जालगर्दभ कहते है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा पित्तज विसर्प की भाँति करनी चाहिए। पंचक्षीरी वृक्ष की छाल पीसकर लेप करे या मुलहठी का चूर्ण घी मे मिलाकर लगावे अथवा जात्यादि तैल या घृत लगावे। मृडालादि लेप (शा० स०) लगावे।

११. कक्षा

पित्त के प्रकोप से बाहु, पार्श्व, स्कन्धप्रदेश तथा कक्षा (काँख) मे उत्पन्न कृष्ण वर्ण के फफोले को कक्षा कहते हैं।

चिकित्सा—दशाङ्ग लेप गरम कर बाँधना चाहिए अथवा शहतूत की पत्ती पीसकर गरम कर लगावे। यदि पक जाय तो व्रणवत् उपचार करे। शीघ्र पाक के लिए तुनमलगा पानी मे भिगोकर बाँधना चाहिए।

१२ विस्फोटक

रक्त तथा पित्त के प्रकोप से शरीर के किसी एक प्रदेश पर अथवा पूरे शरीर पर अग्नि के जलने जैसे फफोले उत्पन्न हो जाये और ज्वर भी हो, तो उन्हे विस्फोटक कहते है।

चिकित्सा—सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, छोटी इलायची, जटामसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ, सुगन्धवाला—इन दस द्रव्यो को समभाग मे लेकर, बारीक पीसकर घृत मिलाकर लेप करना चाहिए।

१३. अग्निरोहिणी : ग्रन्थिक ज्वर या प्लेग

कक्षा-प्रदेश मे मास को विदीर्ण करने वाले तथा अग्नि के समान अन्तर्दाह और ज्वरकारक फफोले उत्पन्न हो जाते हैं। ये फफोले सात दिनो मे या दस दिनो मे अथवा एक पक्ष मे मनुष्य को मार डालते है। सन्निपात से उत्पन्न इस असाध्य रोग को अग्निरोहिणी कहते है।

चिकित्सा—

खाने के लिए ४–४ घण्टे पर—

१ रत्नगिरि रस	२०० मि० ग्रा०
आर्द्रकस्वरस व मधु से।	१ मात्रा

अथवा—३–३ घण्टे पर ५ बार—

२ चण्डेश्वर रस	१२० मि० ग्रा०
आर्द्रक स्वरस व मधु से।	१ मात्रा

अथवा—दिन मे ४ बार—

३ वेताल रस	२०० मि० ग्रा०
आर्द्रक स्वरस व मधु से।	१ मात्रा

४ **गाँठ पर** आमाहल्दी, कूठ, देवदारु, तीसी, तुतमलगा, सहिजन बीज पीसकर गरम कर दो बार लेप करे और स्वेदन करे।

१४ चिप्प-लक्षण

पित्त और वात प्रकुपित होकर नख के मास मे अधिष्ठित होकर पीडा, जलन और पाक उत्पन्न करते है, उसे चिप्प रोग कहते हैं। इसे क्षतरोग और उपनख भी कहते है।

चिकित्सा—चिप्प को गरम जल मे स्वेदन कर गले हुए मास को काट दे, फिर पचगुण तैल लगाकर राल के चूर्ण का अवचूर्णन करे। पश्चात् व्रणवत् उपचार करे।

१५. कुनख-लक्षण

चोट लगने से दूषित हुआ नख रूक्ष, काला और कठिन तथा खुरदरा हो जाता है। उसे कुनख अथवा कुलीन कहते हैं।

चिकित्सा—दूषित नख को निकाल कर नख के भीतर चौकिया सोहागा का महीन चूर्ण भरना चाहिए अथवा शाखोटक (सिहोर) का दूध भरना चाहिए।

१६. अनुशयी-लक्षण

कफ के प्रकोप से गहरी धातुओ मे उत्पन्न, अल्प-शोथयुक्त, त्वचा के समान वर्ण की शरीर के ऊर्ध्वभाग मे स्थित एव भीतरी भाग मे पकनेवाली पिडका को अनुशयी कहते हैं।

चिकित्सा—कफज विद्रधि के समान चिकित्सा करे। नीम के गरम जल से उपनाह स्वेद करे।

खाने के लिए—प्रात सायं त्रिफला गुग्गुलु १–१ ग्राम जल मे दे।

१७. विदारिका-लक्षण

वातादि तीनो दोषो से उत्पन्न एव तीनो दोषो के लक्षणो से युक्त, विदारीकन्द के समान गोल और कक्षा तथा वक्षण की सन्धि मे स्थित लालरंग की पिडका को विदारिका कहते हैं।

चिकित्सा—विदारिका मे पुन-पुन रक्तमोक्षण और स्वेदन करना चाहिए तथा सहिजन की छाल और देवदारु को बारीक पीसकर लेप करना चाहिए।

१८. शर्करार्बुद-लक्षण

कफ, वात एव मेद प्रदुष्ट होकर मास, सिरा और स्नायु मे जाकर गाँठ उत्पन्न करते हैं, जो फूटकर मधु, घृत और चर्वी के समान स्राव करती हैं। उस विदीर्ण हुई गाँठ मे प्रवृद्ध वायु मास को सुखाकर ग्रन्थियुक्त शर्करा को उत्पन्न कर देती है। फिर उसकी सिराएँ दुर्गन्धित एव अत्यधिक क्लिन्न और अनेक रग का अकस्मात् स्राव कराती है। इसे शर्करार्बुद कहते हैं।

चिकित्सा—अर्बुद की तरह चिकित्सा करे। पिण्डतैल लगावे और खाने के लिए सवेरे-शाम कैशोरगुग्गुलु १-१ ग्राम देना चाहिए।

१९. पामा-लक्षण

कण्डू, स्राव और दाहयुक्त छोटी-छोटी पिडकाओ को पामा कहते हैं। इसे साधारण बोलचाल मे खुजली भी कहते हैं।

२० विचर्चिका-लक्षण

शरीर के हस्त-पाद आदि अगो मे चर्म पर फटने जैसी रेखाओ का होना तथा उस स्थान मे खुजली, पीडा और रूक्षता का होना, ये विचर्चिका के लक्षण हैं।

२१ रकसा-लक्षण

सम्पूर्ण शरीर मे स्रावरहित किन्तु कण्डूयुक्त पिडकाओ की उत्पत्ति होने को रकसा या सूखी खुजली कहते हैं।

चिकित्सा—१९, २० और २१ इन तीनो सख्याओ मे निर्दिष्ट रोगो की कुष्ठवत् चिकित्सा करनी चाहिए।

सामान्यत निम्बपत्र क्वाथ से प्रक्षालन कर पानी सुखाकर महामरिचादि तैल या सोमराजी तैल या करञ्ज तैल लगाना चाहिए।

आभ्यन्तर प्रयोगार्थ, दिन मे ३ बार—

आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम
गन्धकरसायन	१ ग्राम
गुडूचीसत्त्व	३ ग्राम
मधु मे।	३ मात्रा

भोजनोतर २ बार—

खदिरारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मे पीना।	२ मात्रा

२२. पाददारी-लक्षण

जो मनुष्य सदा घूमता-फिरता रहता है उसके अत्यन्त रूक्ष हुए दोनो पावो

के तलवो के आस-पास किनारो पर एडी मे वायु पीडादायक दरारे उत्पन्न कर देती है, उसे पाददारी, बिवाई या विपादिका कहते है ।

चिकित्सा—

१ तलशोधिनी नामक सिरा का वेधन कर स्नेहन तथा स्वेदन करना चाहिए। तत्पश्चात् मोम, चर्बी, मज्जा, घी और यवक्षार को एक मे मिलाकर लेप करे ।

२ गुड, सेंधानमक और इमली की छाल—प्रत्येक १ भाग तथा गोमूत्र ६ भाग मिलाकर पीस ले और कुछ सूखने पर यह लेप लगावे । अथवा—

३ राल, सेंधानमक, मधु और घी को कडवे तेल मे मिलाकर लेप करना चाहिए ।

२३ कदर-लक्षण

चलते-फिरते समय शर्करा (कंकण, गिट्टी, पत्थर) आदि से बार-बार टक्कर खाने पर अथवा काँटे आदि से क्षत होने पर कुपित हुए दोष मेद तथा रक्त को दूषित कर पावो मे जो पीडादायक गाँठ उत्पन्न करते हैं, उसे कदर कहते है । यह गाँठ कीलयुक्त तथा स्पर्श मे कठिन, मध्यभाग मे उन्नत एव चारो ओर निम्न और बेर के स्वरूप की होती है ।

चिकित्सा—कदर को शस्त्र द्वारा काटकर तप्त तैल द्वारा दग्ध करे ।

२४. अलस-लक्षण

जल-जमाववाले स्थान मे पानी और कीचड सडता रहता है, जब उसमे बार-बार पैर पडने से पाँवो की अँगुलियो के बीच व्रण होकर क्लेद, खुजली, पीडा और जलन होने लगती है, तो उसे अलस कहते हैं ।

चिकित्सा—

१ कदर को नीम के पानी से साफ कर, उस पर पटोलपत्र, नीम की छाल, कासीस, आँवला, हर्रा, बहेडा, इनको पीसकर अँगुलियो के मध्य मे लेप करे ।

२ करञ्जबीज, हल्दी, कासीस, मुलहठी, मधु, गोरोचन और हरताल, इनको पीसकर लेप लगावे ।

२५ इन्द्रलुप्त-लक्षण

वात के साथ मिला पित्त रोमकूपो मे जाकर बालो को गिरा देता है, तदनन्तर रक्त से मिला हुआ कफ रोमकूपो को बन्द कर देता है, जिससे उस स्थान मे दूसरे बाल नही उत्पन्न होते हैं, इसे इन्द्रलुप्त, खालित्य या रुज्या कहा जाता है ।

चिकित्सा—

१ हाथीदाँत के बुरादे को लोहे की कडाही मे रखकर मिट्टी की परई से ठीक से बराबर ढँककर चूल्हे पर चढाकर अन्तर्धूम राख बनावे और उसके बराबर रसौत मिलाकर दूध मे पीसकर लेप करे । यह निश्चित रूप से लाभकारक है ।

२ मुलहठी, नीलकमल, मूर्वा की जड, काला तिल, भृङ्गराज —इन्हे समभाग लेकर पीसकर गोघृत मिला दूध से पीसकर लेप करे।

३ मैनसिल, हीराकसीस और तूतिया का समभाग मे कल्क बनाकर लेप करे।

४ शिर मे महाभृङ्गराज तैल लगाये।

२६. दारुणक-लक्षण

कफ तथा वायु के प्रकोप से केशो का स्थान कठिन (दारुण), खुजलीयुक्त, रूक्ष और फटनयुक्त हो जाता है, उसे दारुणक कहते है।

चिकित्सा—

१ स्नेहन, स्वेदन कराकर शिर की सिरा का वेधकर रक्तमोक्षण करे। शिरोवस्ति और शिरोऽभ्यग करे।

२ नीलोफर, नागकेशर, मुलहठी, कालातिल और आँवले के फल का वक्कल समभाग लेकर पानी मे पीसकर शिर पर लेप करे। या—

३ आम की गुठली का गूदा और बडी हर्रे का वक्कल समभाग लेकर गोदुग्ध मे पीसकर शिर पर लेप करे।

२७ अरूंषिका-लक्षण

कफ रक्त तथा कृमि के प्रकोप से मनुष्यो के शिर मे अनेक छोटे-छोटे मुखवाली तथा अत्यधिक स्रावयुक्त पिडकाएँ हो जाती है, उन्हे अरूपिका कहते है।

चिकित्सा—अरूषिका मे स्नेहन-स्वेदन कर सिरावेध करके दूपित रक्त निकाल दे और निम्बक्वाथ से प्रक्षालन कर निम्नलिखित लेप लगावे—

१ घोडे की लीद का रस सेधानमक मिलाकर लगावे। या—

२ खैर, नीम और जामुन की छाल समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर लेप करे। या—

३ शाङ्र्गधरोक्त काशीसादि घृत लगावे।

४ त्रिफला के कल्क एव क्वाथ से सिद्ध तैल लगावे।

२८. पलित-लक्षण

क्रोध, शोक, चिन्ता और परिश्रम से उत्पन्न शरीर की उष्णता और पित्त शिर मे जाकर वालो को पकाकर सफेद बना देते है, उसे पलित कहते हैं।

चिकित्सा—

१ लेप—पुराने मण्डूर का चूर्ण, अडहुल का फूल और आँवले का वक्कल समभाग मे लेकर, पीसकर शिर पर रगडकर लेप करे। अथवा —

२. आँवले का फल २, हरड का फल २, वहेडा का फल १, आम की ५ गुठली का गूदा और पुराना मण्डूर १० ग्राम लेकर, पानी मे पीसकर रातभर लोहे की कडाही मे रख छोडे। सवेरे इसका शिर पर लेप कर कुछ घण्टे रखे। अथवा—

३ महानील तैल या महाभृगराज तैल (च० द०) का शिर मे अभ्यग करे।

२९. मसूरिका-लक्षण

सम्पूर्ण शरीर मे तथा मुख और गले के भीतर पीलापन लिये हुए रक्तवर्ण के स्फोट या पिडकाएँ निकल आती है, उन्हे मसूर के समान आकार और वर्ण होने के नाते मसूरिका कहते हैं। इसमे शरीर मे दाह, ज्वर और पीडा होती है।

वक्तव्य—सुश्रुत, चरक तथा वाग्भट ने इसे क्षुद्र रोगो मे गिना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके काल मे इसका प्रकोप अल्प रहा होगा। माधवकर और भावमिश्र ने अपने ग्रन्थो मे इसका स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया है।

चिकित्सा—

१ रुद्राक्षचूर्ण और कालीमिर्च आधा-आधा ग्राम पीसकर पीने से शीघ्र आरोग्य-लाभ होता है।

२ **खदिराष्टक क्वाथ**—खैर की लकडी, आँवला, हरड, वहेडा (तीनो निर्बीज), नीम की छाल, परवर के पत्ते, गुरुच और अडूस की छाल समभाग मे लेकर क्वाथ बनाकर पिलावे।

३ सर्वतोभद्र रस १२० मि० ग्रा०/१ मात्रा मधु से ३ बार दे।

३० यौवनपिड़का-लक्षण

कफ, वात और रक्त-विकार के कारण युवा मनुष्यो के मुख पर सेमल के काँटे के समान पिडकाएँ उत्पन्न हो जाती है, उन्हे यौवनपिडका या मुखदूषिका कहते है।

चिकित्सा—

१ **लोध्रादि लेप**—लोध, धनियाँ और वच को पानी मे पीसकर मुख पर लेप लगावे। अथवा—

२ सेमल के काँटे और मसूर की दाल को गोदुग्ध मे पीसकर मुखालेप करे।

३ चिरौजी, पीली सरसो और मसूर की दाल समभाग मे लेकर पीसकर चेहरे पर लेप लगावे। यह अनुभूत योग है।

३१ पद्मिनीकण्टक-लक्षण

कफ और वात से उत्पन्न, कमलिनी के काँटो जैसे काँटो से भरा हुआ गोल, कण्डूयुक्त एव पाण्डुवर्ण के मण्डल को पद्मिनीकण्टक कहते हैं।

चिकित्सा—

१ नीम की छाल का क्वाथ पिलाकर वमन कराना चाहिए।

२. नीम की छाल के क्वाथ से सिद्ध घृत का मधु से सेवन कराये।

३ नीम की छाल और अमलतास के पत्ते का कल्क बनाकर उबटन और लेप लगाना चाहिए।

३२. मषक-लक्षण

मनुष्य के शरीर के विभिन्न अगो पर वात के कारण उत्पन्न पीडारहित, स्थिर और उड़द के समान काले वर्ण के उभार को मषक कहते है।

चिकित्सा—मषक की चिकित्सा शस्त्र, अग्नि या क्षार से दग्ध करना है।

३३. जतुमणि-लक्षण

कफ और रक्त के कारण उत्पन्न, वेदनारहित, समान उभारवाले लालवर्ण के चिकने, जन्मजात मण्डल को जतुमणि कहते हैं।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा मषक के समान करे।

३४. तिलकालक-लक्षण

वात, पित्त और कफ के उद्रेक से शरीर के किसी अंग मे तिल के वर्ण और आकारवाले, वेदना रहित चिह्न को तिलकालक कहते हैं।

चिकित्सा—शस्त्रकर्म या अग्नि या क्षार से इसका उपचार किया जाता है।

३५. न्यच्छ-लक्षण

शरीर के किसी भाग पर छोटा या बडा, श्याव अथवा श्वेत, पीडारहित, जन्मजात चिह्न को न्यच्छ कहते है।

चिकित्सा—यौवनपिडका की तरह इसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

३६. चर्मकील-लक्षण

प्रकुपित व्यानवायु कफ के साथ सयुक्त होकर त्वचा के बाह्य प्रदेश पर कील के समान अर्श उत्पन्न करता है, उसे चर्मकील कहते हैं।

चिकित्सा—इसका उपचार शस्त्रकर्म है।

३७. व्यङ्ग-लक्षण

क्रोध से कुपित पित्त और परिश्रम से कुपित वायु सयुक्त होकर मुख-प्रदेश मे आकर अकस्मात् मण्डल उत्पन्न करते है, जो पीडारहित, अल्प तथा श्याव वर्ण का होता है, उसे व्यङ्ग कहते है।

३८. नीलिका-लक्षण

व्यङ्ग के समान लक्षणोवाले किन्तु वर्ण मे काले तथा मुख के अतिरिक्त अन्य भागो मे भी होने वाले मण्डल को नीलिका कहते हैं।

चिकित्सा—इसकी न्यच्छ और नीलिका के समान चिकित्सा है। इसमे—

१. मूली के बीज को गोदुग्ध मे पीसकर उबटन और लेप करे।

२ जायफल को पानी मे पीसकर लेप करना चाहिए।

३ कलमीसोरा और ढेला हडताल समभाग लेकर पीसकर लेप करे।

४ हल्दी और जायफल को मदार के दूध मे पीसकर लेप करे।

५ वट के पके पीले पत्ते, चमेली की पत्ती, लालचन्दन, असली कूठ, पीलाचन्दन और लोध समभाग मे लेकर पानी से पीसकर लेप करना चाहिए।

६ किंशुकादि तैल (सि० यो० स०, यादवजी) का अभ्यङ्ग करे।

३८. परिवर्तिका-लक्षण

हाथ आदि से मर्दन करने, अधिक दवाने तथा मैथुन के समय झगडा-फसाद हो

जाने के कारण अधिक आघात होने से, सर्वशरीर-सञ्चारी व्यान वायु लिङ्ग के अग्र चर्म भाग मे प्रविष्ट होती है। तब वायु से आक्रान्त हुआ वह चर्म ऊपर की ओर चढ जाता है तथा मणि (सुपारी) के नीचे ग्रन्थि रूप मे होकर लटकता है। कभी-कभी उसमे पीडा, दाह और पाक भी होता है। इस प्रकार वायु तथा अभिघात आदि आगन्तुक कारण से उत्पन्न हुए इस रोग को परिवर्तिका कहते है।

यदि उसमे खुजली और कठिनता प्रतीत हो तो उसे कफज परिवर्तिका जानना चाहिए।

चिकित्सा—पीडित स्थान मे सहन होने लायक गरम घृत लगाकर स्वेदन करे। मुलहठी चूर्ण मे घृत मिलाकर उपनाह स्वेद करे। इशारे से शिश्नमुण्ड को दवावे और चर्म को धीरे-धीरे उतारे। जब मणि चर्म के भीतर प्रविष्ट हो जाय, तो चर्म पर चार-पाँच दिन तक हल्का स्वेदन करे। स्निग्ध वातहर वस्ति दे और स्निग्ध आहार दे।

३९ अवपाटिका-लक्षण

जब कोई मनुष्य अल्पयोनि छिद्रवाली वाला स्त्री के साथ वेगपूर्वक मैथुन करता है, या तिला लगाते समय या हस्तमैथुन करते समय हाथ के अभिघात से चर्म ऊपर चढ जाता है अथवा शिश्न के मर्दन और पीडन से एव उपस्थित शुक्रवेग को रोकने से शिश्नमणि के ऊपर का चर्म फट जाता है, तो उसे अवपाटिका कहते हैं।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा परिवर्तिका की तरह करनी चाहिए।

४० निरुद्धप्रकश

प्रकुपित वात से दूषित शिश्नचर्म मणि को पूर्णरूप से आच्छादित कर देता है एव मूत्र निकलने के छिद्र को भी अवरुद्ध कर देता है। जिस कारण मूत्र मन्द धार मे अल्पपीडा से साथ निकलता हे, किन्तु मणि नही खुलती है। इस वातज पीडादायक रोग को निरुद्धप्रकश कहते है।

वक्तव्य : भेद—यह १ जन्मजात और २ जन्मोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम का कारण गर्भवृद्धि-दोष है। जन्मोत्तर बच्चो मे शिश्नचर्म के बार-बार खुजलाने अथवा पकडकर खीचने से, युवाओ मे पूयमेह होने से तथा वृद्धो मे वस्तिगत अश्मरी, मूत्रमार्ग-सङ्कोच एव अष्ठीलावृद्धि के कारण खुजलाने और मसलने से उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—

१. इसमे शल्यकर्म यथोचित रीति से करना चाहिए।

२ यदि अल्पविकार हो तो सूअर की चर्बी से स्नेहन कर परिसेचन करना चाहिए।

३ शिश्न-छिद्र को शलाका का प्रवेश कराकर धीरे-धीरे खोलना चाहिए। स्नेहनार्थ वातघ्न तैल का प्रयोग करना चाहिए।

४. स्निग्ध आहार एव अन्नपान देना चाहिए।

वक्तव्य—इसकी चिकित्सा दो प्रकार की वतलायी गयी है—

(क) **द्विमुखी नाड़ी का प्रयोग**—रोगी के मूत्रद्वार मे लौहमयी या काष्ठमयी दो मुखवाली नाडी को घृताभ्यक्त कर प्रविष्ट करे। तदनन्तर प्रत्येक तीसरे दिन पहले की अपेक्षा स्थूलतर नाडी को प्रविष्ट करे। स्नेहन के लिए वातनाशक तैल का प्रयोग करे। इस प्रकार मूत्रस्रोत का व्यास बढ जाता है।

यदि इस कर्म मे सफलता न मिले, तो शस्त्रकर्म किया जाता है।

(ख) **शस्त्रकर्म**—यदि द्विमुखी नाडी के प्रयोग द्वारा स्रोत न फैले, तो पाटन-कर्म द्वारा मूत्रस्रोत के सकोचक कारण अग्रत्वचा को काट दिया जाता है और सीवन आदि सद्योव्रण विधि द्वारा निरुद्धप्रकश की चिकित्सा की जाती है।

४१. सन्निरुद्धगुद-लक्षण

अपानवायु तथा मल-मूत्र के वेगो को रोकने से प्रकुपित वात गुदा मे जाकर महास्रोत का अवरोध करके उसके नीचे गुदमार्ग सकुचित और छोटा कर देती है। इस तरह मार्ग के छोटा होने से उस मनुष्य का मल कठिनता से बाहर निकलता है। इस कष्टसाध्य रोग को सन्निरुद्धगुद कहते हैं।

चिकित्सा—

१ रोगी को प्रारम्भिक अवस्था मे पैराफीन आदि मृदुरेचन द्रव्यों के प्रयोग से मलत्याग नियमित होता रहे, यह उपाय किया जाता है। एतदर्थ वस्ति का भी प्रयोग किया जाता है।

२ आहार मे घृत की प्रधानता हो, जिससे रूक्षता न होने पावे और मल का सचय न हो।

३ निरुद्धता को हटाने के लिए निरुद्धप्रकश की तरह नाडी-प्रवेश द्वारा गुदमार्ग को बढाया जाता है। क्रमश तीसरे दिन अपेक्षाकृत बडे आकार की नाडी का प्रयोग किया जाता है। नाडी के प्रयोग मे हडबडी न करे, अपितु शनै-शनै नाडी को स्निग्ध करके प्रयोग करे।

रोग ठीक होने पर पुन हो सकता है, अत. दीर्घकाल तक उपचार और सावधानी अपेक्षित है। मलावरोध न होने पाये, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

४२ अहिपूतन-लक्षण

मलोत्सर्ग या मूत्रोत्सर्ग के पश्चात् पानी से गुदा का प्रक्षालन नही करने से या पसीना होने पर जल से स्नान न कराने से बच्चे की गुदा मे रक्त और कफ के कारण खुजली उत्पन्न होती है। उसको खुजलाने से स्फोट उत्पन्न होकर उनसे स्राव होता है। व्रणयुक्त इस रोग को अहिपूतन कहते हैं।

वक्तव्य—मल-मूत्र और स्वेद-से गुदा के सदा गन्दी रहने से यह रोग होता है। दुष्टस्तन्य पान से भी यह होता है।

चिकित्सा—

१. माता के दूध का शोधन करने के लिए कफ-पित्तनाशक औषधों का क्वाथ पिलाना चाहिए।

२. त्रिफला और खदिरसार के क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करे।

३. हीराकसीस, गोरोचन, तूतिया, हडताल ढेला और रसौत समभाग मे लेकर काञ्जी से पीसकर लेप करे।

४ पटोलादि घृत (भै० र०) पिलावे।

४३. वृषणकच्छू-लक्षण

स्नान तथा उवटन नही करनेवाले वच्चे के वृषणप्रान्त मे जमा हुआ मल जव पसीने से गीला होता है, तव वह खुजली उत्पन्न करता है और वहाँ खुजलाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ निकल आती हैं तथा उनसे स्राव भी वहता है। इस प्रकार कफ और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुए इस विकार को वृषणकच्छू कहते है।

चिकित्सा—

कर्पूरादि लेप—कपूर, गन्धक और श्वेत चन्दन समभाग मे लेकर पीसकर लेप करना चाहिए। अथवा—

गोमूत्र योग—३½ लीटर गोमूत्र मे १०० ग्राम सज्जीखार डालकर एक घडे म रख ३ दिन धूप मे रखकर फिर वृषण पर उसका लगातार लेप करना चाहिए। गन्धक रसायन उचित मात्रा मे प्रात -साय खिलाये।

४४. गुदभ्रंश-लक्षण

रूक्ष तथा दुर्वल शरीरवाले मनुष्य के प्रवाहण (कुन्थन) और अतिसार से गुदा वाहर निकल आती है, उसे गुदभ्रश कहते है।

भेद—इसके पूर्ण तथा अपूर्ण दो भेद होते हैं। **पूर्ण गुदभ्रंश** अधिकतर वच्चो को होता है और इसमे गुदा की समग्र दीवार वाहर निकल आती है। **अपूर्ण गुदभ्रश** अधिकतर युवको मे होता है तथा इसमे गुदा की केवल श्लेष्मल त्वचा मलद्वार से वाहर निकलती है।

चिकित्सा—

१ **प्रक्षालन**—५ ग्राम हीराकसीस ½ लीटर जल मे घोलकर नित्य गुद क प्रक्षालन करे।

२ चतु स्नेह या मूषकवसा से गुद का स्नेहन कर अन्दर प्रविष्ट करे।

३ घृत मे भुने चूहे के मास की पोटली से गुदा का अल्प स्वेदन करे।

४ **चाङ्गेरीघृत**—प्रात -साय २०–२० ग्राम २०० ग्राम मट्ठे के साथ पिलावे।

५ मूषिकादि तैल और चागेरीघृत से अभ्यङ्ग करे।

६ काले तिल का कल्क ५० ग्राम प्रात नित्य पिलायें।

७ गुलकन्द, ईसब्वगोल की भूसी, मुनक्का तथा अगूर खिलाये।

८. स्निन्ध और वातनाशक आहार-विहार का प्रयोग करे।

नवम अध्याय

मनोविज्ञान

मन का निरूपण

मन का ज्ञानेन्द्रियो से वहुत घनिष्ठ सम्वन्ध है। जव मन साथ होता है, तभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विपयो को ग्रहण करती है। इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान का सकल्प-विकल्प मन ही करता है और वही कर्मेन्द्रियो द्वारा कार्य करता है। मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो मे होती है, क्योकि वह ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अपना-अपना व्यापार तथा कर्मेन्द्रियो द्वारा अपना-अपना कर्म कराता है। बिना मन के न ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विपयो का ज्ञान कर सकती है और न कर्मेन्द्रियाँ अपनी क्रियाएँ कर सकती है। अतएव मन पुर सर इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों मे प्रवृत्त होती है—'मन पुर सराणि इन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति' (चरक-सूत्र ८।७)। अत मन ज्ञान-कर्मेन्द्रिय (उभयात्मक) है। इसकी उत्पत्ति अन्य इन्द्रियो की तरह ही होती है। मन की गणना अन्त करण मे भी की गयी है।

मन का स्वरूप

आत्मा के चैतन्य मे मन की प्रमुख भूमिका रहती है। जव आत्मा मन सयुक्त होता है और मन इन्द्रिय सयुक्त होता है एव इन्द्रिय अपने विपय से सयुक्त होती है तभी विपय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन की परिभापा है—'सुख-दु ख आदि के साक्षात्कार की साधनभूत इन्द्रिय को मन कहते है।'[1]

मन का लक्षण

आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का सम्वन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नही होता है। यह ज्ञान का होना या न होना किसी ज्ञान-साधक कारण को सूचित करते है और यह ज्ञानसाधक कारण 'मन' है, एव 'ज्ञान का सद्भाव और ज्ञान का अभाव होना मन का लक्षण कहा गया है।'[2]

आत्मा का सब इन्द्रियो के साथ सम्वन्ध होने पर भी एक काल मे एक ही विषय का ज्ञान होना और दूसरे विषय का ज्ञान न होना मन की सिद्धि मे प्रमाण है।

---

१ सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन.। —तर्कसग्रह

२ आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। —वै० द० ३।२।१

* *

लक्षण मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थाना सन्निकर्षे न वर्तते ॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञान सान्निध्यात्तच्च वर्तते। —च० शा० १।१८-१९

मन की निरुक्ति

'मन्यतेऽनेन इति मन' (मन ज्ञाने) 'मनुते इति मन' (मनु अवबोधने) इन धातुओ से 'मन' शब्द बनता है। एव जिससे ज्ञान होता है, उसको मन कहते हैं।

मन के भेद (सात्त्विकादि भेद से)

सिद्धान्तत मन एक है, किन्तु उपाधिभेद से अनेकत्व की प्रतीति होती है। अनेकत्व प्रतीति के कई कारण हैं, जैसे—मन के विषयो की अनेकता, इन्द्रियो के विषयो की अनेकता और नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प। इसके अतिरिक्त सत्त्व, रज और तम के सयोग से भी मन अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।[1]

मन जब धर्म की चिन्ता करता है, तब धार्मिक कहा जाता है और जब अधर्म की चिन्ता करता है, तब उसे अधार्मिक कहते है, एव काम के चिन्तन मे लगा हुआ मन कामुक कहलाता है। मन के एक विषय को छोडकर दूसरे विषय को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का नाम व्यभिचरण है। अत जब वह रूप को ग्रहण करता है तो रूपग्राही होता है और जब वह रूप का व्यभिचरण करके गन्ध को ग्रहण करने लगता है, तब गन्धग्राहक कहलाता है। इसी प्रकार कभी उपकारक, कभी अपकारक, कभी गुणग्राही और कभी दोषग्राही होता है। जब मन मे सत्त्वगुण की अधिकता होती है, तो वह धार्मिक एव सत्य, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान तथा नियमव्रत सम्पन्न होने से सात्त्विक कहा जाता है। जब उसमे रजोगुण की अधिकता होती है तो काम, क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि होने से राजस, और तमोगुण की अधिकता होने पर मोह, शोक, अज्ञानादि से ग्रस्त होने के कारण तामस कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि सकल्प की विविधता, विभिन्न इन्द्रियार्थों मे व्यभिचरण तथा त्रिगुणो का सयोग होने के कारण उसमे अनेकत्व का भ्रम होता है, परमार्थत मन एक है। अतएव एक काल मे वह एक ही इन्द्रिय के साथ रहता है। जैसे—भिन्न-भिन्न कार्य करने के कारण एक ही व्यक्ति का अलग-अलग नाम पड जाता है, उसी प्रकार अनेक कार्यों मे प्रवृत्त होने के कारण मन की भी अनेक सज्ञाएँ हो जाती है, फलत वह राजस, तामस, सात्त्विक, धार्मिक, अधार्मिक आदि नाम धारण करता है।

आन्तर् और बाह्य भेद से मन का विश्लेषण

वैज्ञानिको ने मन की तुलना समुद्र मे तैरते हुए बर्फ की चट्टान से की है। जिस तरह बर्फ की चट्टान का अधिकाश भाग पानी के नीचे रहता है और पानी की सतह के ऊपर रहने वाला भाग सम्पूर्ण चट्टान का थोडा-सा भाग ही होता है, इसी तरह हमारे मन का अधिक हिस्सा इतना छिपा हुआ है कि वह चेतन मन की पहुँच के बाहर है। मन का अधिकाश भाग अव्यक्त मन है। जिस प्रकार व्यक्त मन सक्रिय है, उसी प्रकार अव्यक्त मन भी सक्रिय है।

---

१ स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्व रजस्तम सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वम्, नह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्ति ।—च० सू० ८।५

व्यक्त और अव्यक्त मन को समझने के लिए नाटयशाला की व्यवस्था से तुलना की जाती है। जिस तरह अभिनय के समस्त पात्र एक साथ मच पर नही आते, इसी तरह हमारे अव्यक्त मन की समस्त भावनाएँ या वासनाएँ एक साथ व्यक्त मन के समक्ष नही आती। चेतन मन की क्रियाओ का सचालन भी अव्यक्त मन से होता है। जिस प्रकार नाटयशाला के तीन विभाग है—१ पर्दे के सामने वाले पात्र, २ पर्दे के पीछे वाले पात्र और ३ सूत्रधार। इसी तरह—१ चेतन मन, २ अचेतन मन और ३ नियन्ता मन—ये मन के तीन भाग किये जा सकते हैं। नियन्ता मन ही व्यवस्था-क्रम से उन-उन पात्रो को रगमच पर लाता है।

इन तीन भागो की कल्पना वैज्ञानिको ने अलग-अलग प्रकार से की है। कुछ ने उन्हें चेतन, अर्धचेतन और अचेतन नाम दिया है। इन्ही बातो को 'योगवाशिष्ठ' मे अतीव सुन्दर ढग से विस्तारपूर्वक कहा गया है। उसमे बतलाया गया है कि मन एक होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे भिन्न-भिन्न वृत्ति का होने के कारण असख्य कहा गया है और उसकी प्रधान तीन अवस्थाओ का वर्णन किया गया है, जिसका विवरण नीचे की सारणी मे दिया जा रहा है।

वशिष्ठ ने मन के स्वरूप की विभिन्न अवस्थाओ का सूक्ष्मतम विवेचन किया है। उन सबका विस्तार जानने के लिए योगवाशिष्ठ का स्वाध्याय करना चाहिए।
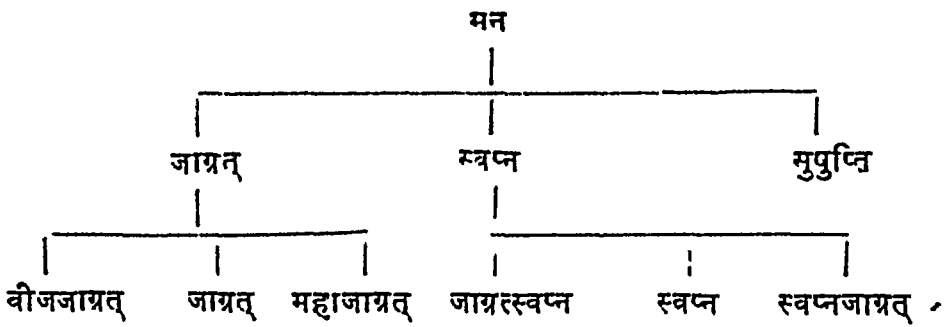
मनोविज्ञान-विवेक

'मन तथा मन की विभिन्न वृत्तियो के सम्बन्ध मे विचार करने वाले शास्त्र को मनोविज्ञान कहते हैं।' मन के सम्बन्ध मे भारतीय दर्शनो मे विशद वर्णन किया गया है, विशेषकर योगदर्शन मे मन और मन की वृत्तियो का विस्तृत वर्णन मिलता है। योगाशिष्ठ मे मन को ससारचक्र की नाभि कहा गया है 'चित्त नाभि किलस्येह मायाचक्रस्य सर्वत।' मन के विषय मे विचार करने वाले दर्शन को मनोविज्ञानशास्त्र कहते है। मन की परिस्थिति पर ही ससार के आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक सभी विचार निर्भर करते है। इस प्रकार मन उस विराट्, अनन्त, और अगाध चैतन्य के सृजन कर्म के एक निश्चित स्पन्दन के समान है। आयुर्वेद मे सत्त्वसज्ञक मन को शुद्ध और निर्दोष माना गया है, किन्तु जब उसमे रज और तम

बढ जाते हैं, तो वह इग ससार की नाट्यशाला मे विविध रूप और नाम को धारण कर अनेक प्रकार की लीलाएँ करने लग जाता है।

विमर्श—मनोविज्ञान एक स्वतन्त्र विषय है, जिसका सर्वाङ्गीण वर्णन उस स्वतन्त्रशास्त्र मे ही सम्पूर्णतया हो सकता है। मन भारतीय दर्शनो का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हे। उन सभी दर्शनो का निचोड है—'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' क्योकि मनुष्य का मन ही उसे ससार के विविध प्रपञ्चो मे आवद्ध करता हे और मनुष्य तव तक उन वन्धनो से छुटकारा नही पाता जव तक मन स्वय उसे वन्धनमुक्त करना न चाहे। जव तक मन का विकल्प दूर होकर सत्सकल्प की ओर उसकी प्रवृत्ति नही होती, तव तक मन मानव-कल्याण के पथ का पथिक नही वन पाता। 'योगवाशिष्ठ' मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए एक विशिष्ट ग्रन्थ है। उसमे कहा गया है कि मन ही समस्त विचारो का मूल है। मन सर्वशक्तिमान् विराट् चेतना की इच्छा का एक स्वरूप है। जव परमेश्वर एकान्त जीवन से ऊवकर 'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय' का सकल्प कर सृष्टि की ओर उन्मुख होता हे, तो उसकी सकन्पशक्ति से ही मन का सृजन होता हे—

'अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मन ।
सङ्कल्पशक्तिरचित यद्रूप तन्मनो विदु' ॥

मन शुद्ध चेतना का स्फुरण मात्र (Vibration of pure consciousness) है, जो विषयो के सम्पर्क से *पुण्यमय या पापमय आभासित होता है। यह चेतना* का एक स्पन्दनशील और परिवर्तनशील रूप है। जो ज्ञान तथा कर्म दोनो के सम्पर्क मे आता रहता है। 'योगवाशिष्ठ' का मन-विषयक सन्दर्भ मनन करने योग्य है—

'मम्पन्ना कल्पना नाम्नी सङ्कल्पानुविधायिनी ।
सङ्कल्पन मनो बुद्धि सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते ॥
परस्य पुस सङ्कल्पमयत्व चित्तमुच्यते ।
चिति स्पन्दो हि मलिन कङ्कविकलान्तरम् ॥
मन इत्युच्यते राम ! न जड न च चिन्मयम् ।
जडाजडदृशोर्मध्ये दोलारूप स्वकल्पनम् ॥
चर्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ।
चित्ते यच्चेत्यकलन तन्मनस्त्वमुदाहृतम् ॥
मनो हि भावनामात्र भावना स्पन्दधर्मिणी' ॥

अर्थात् मन परमात्मा की कल्पना का केन्द्र है, जिसके द्वारा इस जगत् का भान होता है। किसी विषय की ओर प्रवृत्ति और उसका ग्रहण या ज्ञान मन के ही द्वारा होता है। मनन करते रहने के *कारण वह मन कहलाता है और चिन्तन करते रहने* के कारण उसे चित्त कहा जाता है। मन भावात्मक है और भावना स्पन्दन धर्मवाली होती है। अत मन इस विराट्, अनन्त एव अगाध चैतन्य के मृजनकर्म के एक निश्चित स्पन्दन (Definite wave) के समान है।

आधुनिक दृष्टिकोण—रैशनल मिस्टीसिज्म (Rational mysticism) नामक पुस्तक में मन के विषय में यह कहा गया है कि 'मन एक निश्चित केन्द्र है, जिसमें आत्मा इस संसार को निर्देश देने के लिए अपने को केन्द्रित कर सकता है।'[1]

'योगवासिष्ठ' में मन और आत्मा को एक साथ अनुस्यूत बतलाया गया है, फिर भी दोनों का भिन्नत्व भी प्रदर्शित है। जैसे 'सोने के बने कटक-कुण्डल-केयूरादि आभूषण सोने से भिन्न न होने पर भी पृथक् समझे जाते है, उसी प्रकार मन भी आत्मा का एक निश्चित अंग समझा जाता है। विषय-वासना से रहित चेतन को चित्त कहते है। जिस प्रकार वात तथा वातस्पन्दन, शून्य तथा आकाश मे कोई भेद नही होता, उसी प्रकार मन तथा शुद्ध चेतन (ब्रह्म) मे वस्तुतः कोई भेद नही होता है।[2]

बौद्ध विद्वान् अश्वघोष ने भी इसी तरह की चर्चा की है—सत्त्वसंज्ञक मन (विराट् मन) नित्य, शुद्ध तथा दोष रहित होता है, परन्तु अविद्या का प्रभाव उसे संकुचित बना देता है। अविद्या के कारण मन के संकुचित न होने पर मन अपने आप में शुद्ध, स्वच्छ, नित्य तथा अपरिणामी है। यद्यपि वह स्वयं अविशेष (Free from personalization) तथा अपरिणामी है, तथापि वह परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न रूपों का धारण कर लेता है। (महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र)।

आयुर्वेद में भी आचार्य चरक ने शुद्ध-सात्त्विक मन को अदोष बतलाया है, क्योंकि विकार का अंश (रज-तम) न होने से वह कल्याणकारक होता है—'तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्' (च० शा० ४।३६)।

वशिष्ठ के अनुसार शुद्ध मन परमचेतनस्वरूप है, जो सृजन कर्म के रूप मे अपने को व्यक्त करता है। यह पूर्ण ब्रह्म से भिन्न नही होता, किन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टियों मे देखा जाता है। वशिष्ठ ने उसे चिदणु (An atom of consciousness or monad) कहा है। यह कथन आधुनिक परमाणु सिद्धान्त से साम्य रखता है। किंग्सलैण्ड[3] (Kingsland) नामक वैज्ञानिक का कहना है, कि वास्तविक अणु (परमाणु) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के बदले वह महान् से भी महान् है। क्योंकि प्रत्येक

---

1 The mind is, as it were a definite centre in which the self which in itself is universal and absolute can itself sees to particularise a world

2 यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षण। तथात्मनश्चितो रूप भावयन्त्या स्वमायिकम्॥
किञ्चिदामृष्टरूप यद् ब्रह्म तच्च स्थिर मन। चैत्येन रहिता येषा चित्तब्रह्म सनातनम्॥
चैत्येन सहिता चैषा चित्स्थैव कलनोच्यते। वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते॥
शून्यत्वस्वच्छोपमेयश्चिन्मात्रात् यतस्तथा॥ —यो० वा०

3 The real atom instead of being smallest of the small, is the largest of large, for every so called atom is nothing less in substance than the one substance which the only thing in the universe which can not be divided or cut —Rational Mysticism

तथाकथित परमाणु द्रव्यत्वस्वरूपेण उस द्रव्य से किसी प्रकार न्यून नही है, जो विश्व मे एक ही वस्तु के रूप मे वर्तमान है और जिसका कोई विभाग नही हो सकता।

सर ओलिवर लाज (Sir Oliver Lodge) ने भी इसी तरह का विचार प्रस्तुत किया है कि परमाणु मे अनन्त शक्ति का सचय है। वे कहते हैं—'इथेरिक स्पेस के प्रत्येक क्यूबिक मिलीमीटर मे इतनी शक्ति का संचय है कि करोडो अश्वबल (Horse-power) समूह चालीस करोड वर्ष तक उससे लगातार कार्य कर सकते है।"[1]

वाह्य एव आभ्यन्तर ससार की विविधता मन से विविध रूपो के फलस्वरूप है। इन्द्रियाँ भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म शरीर मन के ही भिन्न-भिन्न रूप तथा नाम हे। जिस प्रकार नर्तक नाटयशाला मे आवश्यकतानुसार विभिन्न रूप धारण करता हे, वैसे ही मन भी विभिन्न कार्यों के अनुसार विभिन्न रूप धारण करता रहता है।

मन के दो गुण

अणुत्व और एकत्व मन के दो गुण कहे गये हैं।[2] यदि मन को महत् और अनेक माने तो व्यापक तथा अनेक इन्द्रियो मे एक समय सम्पर्क होने के कारण एक समय मे अनेक ज्ञान होने लगेंगे, परन्तु ऐसा नही होता है। अत. मन एक तथा अणुपरिमाण है। कभी-कभी मिठाई खाते समय उसके रूप, रस, गन्ध आदि का एक ही समय मे ज्ञान होने से मन के महान् एव अनेक होने का भ्रम होता है, किन्तु सच यह है कि मन की गति चचल है, इसलिए एक ही काल मे रूप, रस, गन्धादि का ज्ञान होने का आभास होता है। वस्तुत उस ज्ञान मे क्रम है और एक के बाद ही दूसरा ज्ञान होता है। जैसे—कमल के सौ पत्तो को ऊपर नीचे रखकर एक सुई से छेदे जाने पर ऐसा आभास होता है कि सभी पत्ते एक ही साथ छिद गये, किन्तु कमल के पत्ते क्रमश छिदते है और उनके छिदने मे समय का अन्तर सूक्ष्म होने के कारण उनके एक साथ छिदे जाने का भ्रम होता है एव मन एक बार मे एक ही इन्द्रिय के साथ रहता है और चचलता के कारण वह अतिसूक्ष्म काल मे ही दूसरी-तीसरी इन्द्रियो के साथ हो जाता है। मन की क्रियाएँ क्रमश होती है, भले ही काल की सूक्ष्मता के कारण मन की विविध क्रियाओ के एककालिक होने का आभास होता है।

मन के विषय

चिन्तन करना, गुण-दोष का विचार करना, तर्क, ध्यान, सकल्प तथा सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष आदि मन के विषय है। उन्हे ही मन का अर्थ भी कहते है।[3]

---

1 In every cubic milimeter of etheric space there is so mouch energy as to furnish a million horse-power working continually for forty million years —Oliver Lodge

२ अणुत्वमथ चैकत्व द्वौ गुणौ मनस स्मृतौ। —चरक शा० १।१९

३ चिन्त्य विचारमूह्य च ध्येय सङ्कल्पमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेय तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ —चरक शा०-१।२०

विमर्श—चिन्तन का अर्थ है—विषय के ग्राह्य या अग्राह्य होने के विषय मे सोचना। विचार का तात्पर्य है—किसी भी कार्य के विषय मे यह सोचना कि इस कार्य मे क्या हानि या क्या लाभ है। तर्क या ऊह का अर्थ है—किसी कार्य के सम्पन्न होने की सम्भावना का विचार करना। सकल्प का तात्पर्य है—गुण-दोष का विवेचन करना और अच्छे कर्म की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा। मन मे जो विषय है उनको ग्रहण करने के लिए उसे किसी इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नही होती है।

काम-क्रोधादि मनोवृत्तियाँ

मुख्य रूप मे मनोवृत्तियाँ दो है—१. इच्छा और २ द्वेष।[1] जिन विषयो मे अतिशय अभिलाषा होती है, वे इच्छा के अन्तर्गत आते है। नाना वस्तुओ के प्रति अनेक प्रकार की विभिन्न इच्छाएँ—हर्ष, काम, लोभ आदि इच्छा के ही प्रकार है। द्वेष मे विषयो से अप्रीति होती हैं, क्रोध, शोक, भय, विषाद, ईर्ष्या, असूया और मात्सर्य द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य सुश्रुत ने मानसिक भावो को बतलाते हुए क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि को इच्छा और द्वेष के भेदो से गिनाया है।

विमर्श—किसी अन्य के साथ द्रोह की भावना को 'क्रोध' कहते हैं। इष्ट, धन-सम्पत्ति, पुत्रादि वियोगजन्य चित्त की उद्विग्नता को 'शोक' कहते है। दूसरे प्राणियो से अहित होने की धारणा को 'भय' कहते हैं। मन के आनन्द की स्थिति को 'हर्ष' कहते हैं। 'विषाद' उस स्थिति का नाम है जब अभीष्ट कार्यों मे सफलता न मिलने के कारण कार्य करने की प्रवृत्ति मे ह्रास हो जाता है। दूसरे की सम्पत्ति के प्रति असहिष्णुता को 'ईर्ष्या' कहते है। दूसरो के गुणो मे छिद्रान्वेषण करने को 'असूया' कहते हैं। मन की खिन्नता को 'दैन्य' कहते हैं। दूसरे के गुणो के प्रति जलन या क्रूर भाव होना 'मात्सर्य' कहलाता है। इन्द्रियो के विषय शब्द-स्पर्श आदि की अभिलाषा को 'काम' कहते हैं। दूसरे के धन को प्राप्त करने की इच्छा को 'लोभ' कहते है। इसी प्रकार मान मद, दम्भ, मोह आदि भी मानसिक विकार होते हैं।

मन के कर्म

इन्द्रियो मे अधिष्ठित होकर उन्हे अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्त करना तथा अहित विषयो से उन्हे रोकना तथा स्वय अपने को अहित विषयो मे जाने से नियन्त्रित करना, किसी कार्य की सम्भावनाओ के प्रति तर्क-वितर्क करना और हित-अहित का विचार करना ये सब मन के कर्म है।[2]

---

१ मानसास्तु—कामशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। —सु० सू० १।२५।३

२ इन्द्रियाभिग्रह कर्म मनस स्वस्य निग्रह।
ऊहो विचारश्च पर तत बुद्धि प्रवर्तते॥ —च० शा० १।२१

विमर्श—इन्द्रियाँ मन के साथ होने पर अपने विषयों को ग्रहण करती हैं और मन ही उनका नियन्यण करता है। इस प्रकार इन्द्रियों को वश मे रखना और अपने को भी नियमित रखना मन का कार्य है। मन के नियन्त्रण के लिए धैर्य की आवश्यकता पड़ती है, विना धैर्य के वह न तो अपना नियन्त्रण कर सकता है और न इन्द्रियों का ही नियन्त्रण कर सकता है —'विषयप्रवण चित्त धृतिभ्रशान्न शक्यते। नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका' ॥ (चरक० शा० १।१००)। मन के विचार करने का स्वरूप यह है कि वह सोचता है कि यह वस्तु हानिकारक है या लाभकर, इसे ग्रहण करे या नही ? आदि। इस प्रकार के विचार के कारण चार प्रकार के माने जाते हैं—१ वाह्य इन्द्रिय, २ मन, ३ अहकार और ४ बुद्धि। इन चारो मे इन्द्रियाँ निर्विकल्प रूप से विषय को ग्रहण करती हैं। मन यह विचार करता है कि यह वस्तु दोषयुक्त होने से त्याज्य है या उपादेय ? अहकार अपने अधिकार मे त्याग करने या ग्रहण करने को सोचता है, तब बुद्धि यह निश्चय करती है कि यह दोषयुक्त है, अत इसे त्याग दूँ या गुणयुक्त है, अत इसे ग्रहण करूँ। ऊह करना वाह्य इन्द्रियों का विषय है, फिर भी विना मन की सहायता के ऊहापोह नहीं होता। एव अन्त करण (मन और अहकार) के साथ बुद्धि सभी विषयों को ग्रहण करती है, अत प्रधान रूप से तीन ही करण होते हैं। वाह्य इन्द्रियाँ अप्रधान (सहायक) रूप से होती है, इसी विषय को 'साख्यकारिका' मे कहा गया है कि ये वाह्य इन्द्रियाँ और अन्त इन्द्रियाँ आपस मे विलक्षण होती हुई गुणविशेषता से दीपक की तरह कार्य करती हैं। जैसे—दीपक से वर्ति स्नेह लेकर अग्नि को देती है, जिससे प्रकाश होता है, उसी प्रकार वाह्य इन्द्रियाँ[1] विषय को लेकर मन को देती है, मन सकल्प कर अहकार को देता है, अहकार अपना अधिकार स्थापित कर उसे बुद्धि को देता है—

'एते प्रदीपकल्पा परस्परविलक्षणा गुणविशेषा ।
कृत्स्न पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति' ॥ (सा० का० ३६)

और तब बुद्धि अध्यवसाय (निश्चय) करके उन गृहीन ज्ञान का बोध कराती है तो फिर पुरुष की प्रवृत्ति होती है। 'मन'-के सम्वन्ध मे आचार्य चरक[2] ने कहा है कि—'मन अतीन्द्रिय है। मन का व्यापार अपने सुख-दुख आदि विषय और आत्मा की सम्पत्ति के अधीन है। मन सभी इन्द्रियों की चेष्टाओं का प्रधान कारण है, क्योंकि मन की प्रेरणा से, मन के साथ रहने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने मे समर्थ होती हैं।'[3] यहाँ मन अतीन्द्रिय कहा गया है। अतीन्द्रिय

१ इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यति तया वक्तु कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ —चरक० शा० १।२२-२३

२ अतीन्द्रिय पुनर्मन सत्त्वसज्ञक चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्ट चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ —चरक० सूत्र० ८।४

३. अतीन्द्रिय तु मन सर्वार्थस्न्वयात् तद्योगेन पञ्चेन्द्रियाणामर्थप्रवृत्ते बुद्धिकर्मेन्द्रियोभयत्वाच्च। —अष्टाङ्गसग्रह

शब्द के दो अर्थ है—१ इन्द्रियो का अतिक्रमण करने वाला और २ इन्द्रियो से अतिरिक्त, देखे—'इन्द्रियातिक्रान्तमिन्द्रियातिरिक्त वा ।' आयुर्वेद मे इन्द्रियो को भौतिक कहा गया है—'भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते'। किन्तु मन को भौतिक नही कहा गया है। इस प्रकार मन मे इन्द्रियो को अतिक्रान्त करने का उसका विशिष्ट धर्म है और उसमे इन्द्रियातिक्रान्तत्व स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है, जैसे—कान का शब्द, त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, रसना का रस और घ्राण का गन्ध, परन्तु मन का विषय नियत नही है। एव मन अपने विषयो (चिन्त्य, विचार्य आदि) को तो ग्रहण करता ही है, साथ-साथ इन्द्रियो के विषयो को भी ग्रहण कर लेता है और इन्द्रियाँ[१] विना मन के अपने विषय को ग्रहण करने मे समर्थ नही होती। इस दूसरे पक्ष के निरूपण से मन का इन्द्रियातिक्रान्तत्व स्पष्ट है। अथ च मन बुद्धीन्द्रिय ही नही कर्मेन्द्रिय भी है, क्योकि वह दोनो का प्रयोजक है। अत तीसरे पक्ष से भी वह इन्द्रियातिक्रान्तत्व सिद्ध हो जाता है।

चरकाचार्य ने मन को एक माना है, अनेक नही।[२] यद्यपि एक पुरुष मे मन अनेक-सा दिखलायी देता है, क्योकि मन अपने अनेक विषयो मे, नेत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियो के नाना विषयो मे, विविध सकल्पो तथा सत्त्व, रज और तम इन गुणो मे दिखलायी पडता है, तथापि वास्तविकता यह है कि मन एक और अणु है। एवं अणु और एक होने से वह एक समय मे अनेक विषयो को एक साथ नही ग्रहण करता है। अतएव नेत्र आदि सभी इन्द्रियाँ एक समय मे एक ही साथ अपने-अपने विषयो को नही ग्रहण कर पाती है। मन एक और अणु परिमाणवाला है। यदि मन को महत् और अनेक माना जाय तो महत् (व्यापक) होने तथा अनेक होने से अनेक इन्द्रियो से एक साथ सम्पर्क होने पर एक समय मे ही अनेक ज्ञान होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नही है। अत मन को अणु परिमाण वाला तथा एक माना जाता है। महर्षि गौतम ने भी इसी कारण से मन को एक माना है—'ज्ञानायौगपद्यादेक मन' (न्यायद० ३।१।६)। कणाद ने भी यही माना है—'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकमिति' (वै० द० ३।२।३)। अर्थात् एक समय मे एक ही प्रयत्न और एक ही ज्ञान होने के कारण मन एक है। इसी आधार पर आचार्यों ने मन का लक्षण भी किया है कि—'एक साथ सभी ज्ञानो' अर्थात् इन्द्रियो की प्रवृत्ति का न होना ही मन का लक्षण है। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'। यही बात योगवाशिष्ठ मे भी कही गयी है—

'यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्येकस्तथैव हि।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तर व्रजेत्'॥ (यो० वा०)

---

१ चक्षु. पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा। मनसि व्याकुले चक्षु पश्यन्नपि न पश्यति॥

२ स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्व रजस्तम सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्व, न ह्येक ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्ति॥

—चरक० सू० ८।५

मन के दोष

मानस दोष रज और तम होते हैं।[1] इन दोषो मे रज प्रधान होता है, क्योंकि रज ही प्रवृत्तिजनक है और विना रज के तम की प्रवृत्ति नही होती। शारीरिक दोषो मे जो स्थान वायु का है, मानस दोषो मे वही स्थान रज का है। अत रज का उल्लेख पहले करके तब तम की गणना की जाती है।

विमर्श—सत्त्व को मन का गुण कहा गया है, क्योंकि वह निर्दोष और हितकर होता है। वह प्रकाशरूप ज्ञान का विकास करने वाला एव सुख देने वाला होता है—'सत्त्व सुखे सञ्जयति' (गीता १४।९)। सत्त्व निर्मल होने से प्रकाशक और आरोग्य देने वाला होता है।[2]

मन का इन्द्रियत्व और भौतिकत्व

आचार्य सुश्रुत ने मन को ज्ञान-कर्मेन्द्रिय[3] कहा है, क्योकि वह इन दोनो (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) के साथ रहता है। इन्द्रियाँ अपने विषयो को तभी ग्रहण कर सकती है, या वे अपना कार्य तभी कर सकती हैं, जब मन उनके साथ हो। इस प्रकार मन ज्ञानेन्द्रिय के साथ ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय का कार्य करता है।

आचार्य चरक ने मन को अतीन्द्रिय[4] कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रियो का अतिक्रमण करने वाला या इन्द्रियो के अतिरिक्त है। वह इन्द्रियो की अपेक्षा विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न है। जैसे—इन्द्रियाँ प्रतिनियतविषयक होती है, जब कि मन के विषय सीमातीत और त्रैकालिक है। मन अपने विशाल कर्तृत्व के कारण, ज्ञान-कर्मेन्द्रिय दोनो का प्रयोजन होने के कारण तथा इन्द्रियो की अपेक्षा विशेषता रखने के कारण अतीन्द्रिय कहा जाता है। वस्तुत मन एक 'उभयात्मक' (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) इन्द्रिय है।

मन का कर्तृत्व

शरीर मे मन ही इन्द्रियो के साथ मिलकर सभी क्रियाएँ करता है। मन और इन्द्रियो की क्रियाओ मे आत्मा की विद्यमानता मात्र है। चेतन होते हुए भी आत्मा निष्क्रिय है। अचेतन द्रव्यो मे भी आत्मा के सान्निध्य होने पर क्रियाएँ होती है। इस शरीर मे ज्ञान और कर्मरूप विविध कर्मों का कर्ता मन ही है। मन की क्रियाओ को जानने के कारण 'सत्त्वसार' का लक्षण तथा मन के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो का वर्णन करना आवश्यक है।

---

१ मानस पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ —च० सू० १।५७

२ तत्र सत्त्व निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ —गीता १४।६

३. उभयात्मक मन। —सु० शा० १।६

४ अतीन्द्रिय पुनर्मन सत्त्वसज्ञक चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्ट चेष्टाप्रत्ययभूत मिन्द्रियाणाम्। —च० सू० ८।४

सत्त्वसार[1] का लक्षण

सत्त्व का अर्थ है—मन, और सत्त्वसार का अर्थ है—मनोबल-सम्पन्न व्यक्ति। जिस व्यक्ति का मन उत्तम कोटि का होता है, वह स्मृतिशक्ति-सम्पन्न होता है। वह भक्तियुक्त, कृतज्ञ, बातो को बारीकी के साथ समझने वाला, उत्साही, शूर, पराक्रमी, विवादरहित, कार्यों को दक्षता के साथ शीघ्र पूरा करने वाला और व्यवस्थित विचार का होता है। सत्त्वसार व्यक्ति अपने सभी कार्यों को यथासमय सम्पन्न कर लेता है। वह कल्याणकारी कार्यो मे रुचि रखता है और पवित्र आचार वाला होता है। वह दु ख के क्षणो मे भी गम्भीर और सयत रहता है।[2]

सात्त्विक मन

सात्त्विक मन का व्यक्ति दयालु होता है। उसमे अक्रूरता होती है और वह भोज्य पदार्थो या उपभोग-योग्य वस्तुओ को बाँट कर खाता है या उपभोग करता है। वह क्षमाशील, सत्यवादी, प्राणियो का हित चाहने वाला, शरीर, मन तथा वाणी से उत्तम व्यवहार करने वाला, प्रतिभा-सम्पन्न, आस्तिक, मेधावी, स्मृतिमान्, धैर्यधर और नि स्पृह होता है।[3]

राजस मन

राजस मन का पुरुष दु खी स्वभाव का और घुमक्कड होता है। उसमे अहकार, मिथ्या भाषण, अधैर्य, निर्दयता और पाखण्ड की प्रवृत्ति होती हे। वह कामुक, क्रोधी तथा मान-सम्मान के लिए उत्सुक रहता है।[4]

तामस मन

तमोगुणी व्यक्ति शोकग्रस्त, अधर्माचरण करनेवाला, नास्तिक, बुद्धिहीन, अज्ञानी, आलसी, अकर्मण्य और निद्रालु स्वभाव का होता है[5]। मन के कार्य उसके सत्त्व-रज और तम इन तीनो गुणो पर निर्भर करते है। मन ही ससार की सभी प्रवृत्तियो का जनक हे। सुख-दु ख का कारण मन ही है। मन मे सचित कर्मो

---

१. (क) स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेत कल्याणाभिनिवेशिन सत्त्वसार विद्यात्।

(ख) स्मृतिमन्तो भक्तिमन्त कृतज्ञा. प्राज्ञा शुचयो महोत्साहा दक्षा. धीरा समर-विक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादा सुव्यवस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टा कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसारा.।

—च० वि० ८।११०

२ सत्त्ववान् सहते सर्वं सस्तभ्यात्मानमात्मना। राजस स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामस ॥

—सु० सू० ३५।३८

३ सात्त्विकास्तु—आनृशस्य सविभागरुचिता तितिक्षा सत्य धर्म आस्तिक्य ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च।

—सु० शा० १

४. राजसास्तु—दु खबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार-आनृतिकत्वमकारुण्य दम्भो मानो दर्प. काम क्रोधश्च।

—सु० शा० १

५ तामसास्तु—विषादित्व नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञान दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति।

—सु० शा० १।१८

के अनुसार ही विविध योनियो मे जन्म ग्रहण करना पडता है।[1] शरीर मे मन गर्भावस्था मे पूर्वजन्म के सस्कारो के साथ प्रवेश करता है और मृत्यु के समय शरीर से अलग हो जाता है एव शरीर मे सब क्रियाएँ वस्तुत मन ही करता है।

मन का अधिष्ठान

आयुर्वेदीय मत के अनुमार मन का स्थान हृदय है और यह हृदय दोनो स्तनो के बीच मे उर कोष्ठ मे स्थित है।[2] इस हृदय से प्राणवह[3] धमनियाँ निकलती हैं। इसके दोनो ओर फुप्फुस और नीचे प्लीहा और यकृत् हैं। यह रक्त परिचालक यन्त्र है, जो सुषिर, मासपेशीमय और अधोमुख कमल[4] के आकार का होता है। इसे अग्रेजी मे हार्ट (Heart) कहते हैं। आयुर्वेद मे वक्ष स्थ हृदय को बुद्धि, मन और चेतना का स्थान कहा गया है।

आचार्य चरक ने सगुण आत्मा और चित्त (मन) का स्थान हृदय बतलाया है।[5] सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दो मे हृदय को चेतना का स्थान कहा है।[6] अष्टाङ्गहृदय, शार्ङ्गधरसहिता,[7] काश्यपसहिता[8] एव उपनिषदो[9] के वचनो से नि सन्देह वक्ष स्थ हृदय ही मन का अधिष्ठान है।

उर स्थ हृदय को मन का स्थान मानने मे अन्य भी अनेक मत है, जिन सबका उल्लेख विस्तारभय से नही किया जा रहा है, किन्तु हृदय से 'हार्ट' ही समझना चाहिए। इसमे कतिपय युक्तियो का उल्लेख आवश्यक होने से किया जा रहा है—
१ आयुर्वेद मे हृदय शब्द का एकवचन[10] मे प्रयोग है, इससे शरीर मे हृदय केवल एक है, यह अभिप्राय प्रकट होता है। २ शरीर के छ अग होते हैं, चार शाखाएँ, शिर और मध्य शरीर (धड) इनमे से मध्य मे (कोष्ठ मे) हृदय की स्थिति

---

१. अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुक, यज्जीव स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति। यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्धीन प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहक च मन इत्यभिधीयते। —च० शा० ३।१९

२ सत्त्वादिधाम हृदय स्तनोर.कोष्ठमध्यगम्। —अष्टाङ्गहृदय, शा० ४

३ शोणितकफप्रसादज हृदय यदाश्रया हि धमन्य प्राणवहा.। —सुश्रुत० शा० ४।३१

४. मासपेशीचयोरक्तपद्माकरमधोमुखम्। —अष्टाङ्गहृ० १२।१५, सर्वाङ्गसुन्दरी टीका

५ षटङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्य च हृदि सस्थितम्॥ —च० सू० ३०

६ हृदय चेतनास्थानमुक्त सुश्रुतदेहिनाम्। —सुश्रुत० शा० ४।३३

७ नाभिस्थ प्राणपवन स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातु विष्णुपदामृतम्॥ —शार्ङ्गधर

८. नाभि प्लीहा यकृत् क्लोम हृद्वृक्कौ गुदवस्तय।
क्षुद्रान्त्रमथ च स्थूलमामपक्वाशयौ तथा। कोष्ठाङ्गानि॥ —काश्यपसहिता

९. स एष योऽन्तर्हृदय आकाश। तस्मिन्नय पुरुषो मनोमयः। —तैत्तिरीयोपनिषद् १।६

१०. तस्य पुन सङ्ख्यान—त्वच कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया.। —सुश्रुत० शा० ४।४

कही गयी है ।[1] ३ अन्त सुपिर मामपेशीमयं, अधोमुख कमलकलिकाकार हृदय का वर्णन किया गया है ।[2] इन सभी उल्लेखो से 'हार्ट' ही हृदय प्रमाणित होता है । ४ कोष्ठस्थ उपाङ्गो के साथ हृदय का वर्णन[3] करने से भी हृदय 'हार्ट' का ही बोधक प्रतीत होता है । ५ मर्मो के वर्णन मे[4] हृदय के अलावे शिर के मर्मो का वर्णन किये जाने से यह सिद्ध होता है कि हृदय शिर मे नही है ।

उपर्युक्त विवेचन मे सर्वथा वक्ष स्थ रक्तवह-सस्थान (रक्त-परिचालक यन्त्र) को ही हृदय कहते है, यह बात पुष्ट होती है और यही बात समस्त भारतीय वाङ्मय मे प्रतिपादित है । आयुर्वेद मे कोष्ठस्थ हृदय को बुद्धि, अहकार और मन का स्थान होने से चैतन्य का स्थान माना गया है । हृदय[5] मे आत्मा का निवास होने मे आयुर्वेद हृदय को ही मन-बुद्धि का स्थान मानता है एव हृदय से निकले हुए सज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्रोतसो के द्वारा ममस्त शरीर को चेतनता प्राप्त होती है और दोपो (वात-पित्त-कफ) के द्वारा हृदय तथा मज्ञावह स्रोतसो की दुष्टि होने मे हृदय या मन के विकारो (मानम रोगो) की उत्पत्ति होती है ।

मनोवहस्रोतस्

आचार्य चरक ने कहा है, कि 'हृदय[6] मे ही इन्द्रियाँ, उनके विषय, आत्मा, मन और मन के विषय आश्रित हैं ।' मन की क्रिया 'वात' के अधीन है[7] और वात का (प्राणवायु का) केन्द्र मस्तिष्क मे है और उसका कार्य-क्षेत्र समस्त शरीर है । इन्द्रियाँ भी शिर स्थ बतलायी गयी है—'शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतामि' (चरक०) । वात की प्रेरणा से मन का इन्द्रियो से सम्बन्ध होता है[8] और इन्द्रियाँ अपने-अपने विपयो को ग्रहण करती है । यहाँ पर पूर्वोक्त कथन से मन का स्थान हृदय और कार्यालय मस्तिष्क तथा कार्यक्षेत्र समूचा शरीर समझना चाहिए ।

मन और इन्द्रियो के कर्म वायु की सहायता पर निर्भर हैं । सुश्रुत ने ज्ञानेन्द्रियो या कर्मेन्द्रियो द्वारा ज्ञानार्जन अथवा कार्य-सम्पादन मे रक्त-सचार की क्रिया को

---

१ पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयञ्च क्लोमञ्च यकृच्च प्लीहा च' । —भेल० शा० ७

२ मासपेशीमयो रक्तपद्माकारमधोमुखम् । —अष्टाङ्गहृदय १२।१५ पर सर्वाङ्गसुन्दरीटीका

३ 'हृदयस्याधो वामत प्लीहा दक्षिणतो यकृत्' । —सुश्रुत० शा० ५

४ सप्तोत्तर मर्मशत यदुक्त शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेषु ।
मर्माणि बस्तिर्हृदय शिरश्च प्रधानभूतानि भवन्ति देहे ॥ —चरक० चि० २६।३

५. अर्थे दश महामूला समासक्ता महाफलाः । महच्चार्थश्च हृदय पर्यायैरुच्यते बुधै ॥
षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्य च हृदि सश्रितम् ॥ —चरक० सूत्र० ३०।३-४

६ षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्य च हृदि सस्थितम ॥ —चरक० सूत्र० ३०।४

७ नियन्ता प्रणेता च मनस । —च० सू० १२।८

८. सर्वेन्द्रियाणामुद्योजक । —च० सू० १२।८

विशेष महत्त्वपूर्ण कारण बतलाया है।[१] इसी प्रकार मद, मूर्च्छा और सन्यास रोगो की सम्प्राप्ति मे कहा गया है—'वात आदि दोषो से सज्ञावाही नाडियो के आवृत हो जाने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है और वह छिन्नमूल वृक्ष की तरह निरवलम्ब होकर धराशायी हो जाता है'।[२]

चरक ने नाडी शब्द का अर्थ किसी विशेष वस्तु के लिए न करके धमनी, सिरा, स्रोत, रसायनी, मार्ग, छिद्र, आशय प्रभृति को नाडी शब्द से समानार्थक कहा है।[3] अन्यत्र भी नाडी से धमनी-सिरा का ग्रहण किया गया है—'नाडी तु धमनी सिरा'।

चरकसहिता मे मद-मूर्च्छा-सन्यास रोगो का वर्णन 'विधिशोणितीय' अध्याय मे किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि रक्तसवहन की क्रिया मे व्यतिक्रम या अन्य रक्तविकारो से ही ये रोग होते है। इन रोगो की गणना मानस रोगो मे की जाती है, क्योकि इनमे सज्ञानाश की स्थिति हो जाती है और मनुष्य किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव नही करता। चरक[४] ने कहा है, कि रस-रक्त तथा चेतनावाही स्रोतो मे अवरोध के कारण चित्त के दुर्बल स्थान को वायु आक्रान्त करके तत्रस्थ मन को क्षुब्ध कर सज्ञा का सम्मोहन कर देता है। इस तरह मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध रक्तसवहन और मस्तिष्क दोनो से ही सिद्ध होता है। हृदय के यथावत् स्वाभाविक रूप से रक्त-सवहन के व्यापार पर ही सम्पूर्ण शरीर और मस्तिष्क की क्रियाएँ ठीक से होती रहती हैं।[५]

स्पर्शज्ञान का आधार सुश्रुत ने रक्तसवहन को बतलाया है और स्पर्शनेन्द्रिय सभी इन्द्रियो मे प्रधान और व्यापक कही गयी है,[६] क्योकि नेत्र आदि इन्द्रियाँ स्पर्श

---

१ धातूनां पूरण वर्णं स्पर्शज्ञानमसशयम्। स्वा सिरा सञ्चरद्रक्त कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
—सु० शा० ७।१४

२ सज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभि। तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदु खव्यपोहकृत् ॥
सुखदु खव्यपोहाच्च नर पतति काष्ठवत्। मोहो मूर्च्छेति तामाहु ॥
—सुश्रुत० उ० ४६।६ ७

३ स्रोतासि सिरा धमन्य रसायन्य रसवाहिन्य. नाड्य पन्थान, मार्गा शरीरच्छिद्राणि सवृतासवृतानि स्थानानि आशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशाना लक्ष्यालक्ष्याणा नामानि भवन्ति।
—चरक० विमान० ५।९

४ यदा तु रक्तवाहीनि रससज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतासि कुपिता मला ॥
मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मन.। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥
मदमूर्च्छाय सन्यासास्तेषा विद्याद्विचक्षण। यथोत्तर बलाधिक्य हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥
दुर्बल चेतस स्थान यदा वायु प्रपद्यते। मनो विक्षोभयन् जन्तो सज्ञा सम्मोहयेत्तदा ॥
—च० सू० २४।२५-२८

५ देहस्य रुधिर मूल रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद्यत्नेन सरक्ष्य रक्त जीव इति स्थिति ॥
—सुश्रुत० सूत्र० १४।४४

* *

तद्विशुद्ध हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिन प्राण शोणित ह्यनुवर्तते ॥
—चरक० सूत्र० २४।४

६. तत्रैक स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापक चेन समवायि स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः।
—चरक० सूत्र० ११।३८

करके ही रूप आदि विषयो का ज्ञान करती है। जब इन्द्रियो का अपने विषयो से स्पर्श नही हो पाता तो उनके विषय का ज्ञान नही होता—'नास्पृष्टो वेत्ति वेदना'। स्पर्शनेन्द्रिय मे वायु की प्रधानता होती है और मन को भी प्रेरणा देने वाला वायु ही है। इससे स्पर्शनेन्द्रिय और मन दोनो का प्रेरक वायु है। यह स्पष्ट है एव मन और स्पर्शनेन्द्रिय का समवायसम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ-जहाँ स्पर्शनेन्द्रिय से रूप आदि किसी भी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ मन तथा वायु की उपस्थिति अवश्यमेव रहती है। मन भी अपने चिन्त्य आदि विषयो का ज्ञान तभी कर पाता है जब मन का अपने विषयो से मानस स्पर्श होता है।[1]

इन्द्रियाँ मन पुर सर होकर ही अपने विषयो का ज्ञान करती है।[2] वायु के प्रयत्न से ही मन और इन्द्रियाँ अपने व्यापार मे प्रवृत्त होती है। इस तरह मन और इन्द्रियो के व्यापार मे वायु की प्रधान भूमिका होती है।[3]

आयुर्वेद मे जो 'वात' के कर्म कहे गये है, आधुनिक क्रियाशारीर के विद्वान् उन कर्मो को नाडी-सस्थान या मस्तिष्क का कार्य मानते हैं। नाडी-सस्थान के दो कार्य है—शरीर मे होने वाली समस्त क्रियाओ का सचालन और परिस्थिति के अनुसार उन क्रियाओ मे विविध परिवर्तन करना। प्रथम प्रकार की नाडियाँ बाह्य सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान को तथा शरीरावयवो मे होने वाली शुभ-अशुभ वेदनाओ को अपने केन्द्रो तक पहुँचाती है। दूसरे प्रकार की नाडियाँ केन्द्रो की ओर से यथायोग्य चेष्टाओ का आदेश अवयवो की ओर ले जाती हैं। इनमे पहले प्रकार की नाडियाँ 'सज्ञावह' और दूसरे प्रकार की नाडियाँ 'मनोवह' कहलाती है। यद्यपि सज्ञा और चेष्टा दोनो क्रियाओ मे मन का वहन होता है, क्योकि बिना मन के क्रिया नही होती है, तथापि आत्मा-स्थित इच्छा को शरीरावयवो तक पहुँचाने के कार्य मे चेष्टाओ को उन-उन अगो तक सवहन कर उन-उन चेष्टाओ के सम्पादन मे मन का व्यापार विशेष परिलक्षित होता है। इसलिए चेष्टावह को मनोवह की सज्ञा दी जाती है।

आयुर्वेद मे इन्द्रियो के दो विभाग किये गये है—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। इन दोनो ही का कार्य वात से प्रेरित मन द्वारा होता है[4]।

आधुनिक क्रियाशारीरविद् नाडी-सस्थान के दो कार्य अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के वेगो का वहन करना बतलाते है। प्राचीन आचार्यों ने ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो का विभाग इसी बात को ध्यान मे रखककर किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

---

१ स्पर्शनेन्द्रियसस्पर्श स्पर्शो मानस एव च। द्विविध सुखदु खाना वेदनाना प्रवर्तक.॥
—चरक० शा० १।१३३

२ मन पुर सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। —चरक० सूत्र० ८।७

३ सर्वेन्द्रियाणामुद्योजक, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा। —चरक० सूत्र० १२।८

४. मनश्चेष्टापुर.सरमेव विषयप्रवृत्ते मनसोऽपि वाताप्रयत्नाद्विनाऽभाविनो प्रवृत्ति·। ·· वातप्रयत्नादात्ममन पुर सराणीन्द्रियाणि अर्थोपादानार्थमभिप्रवर्तन्ते।
—सुश्रुत० नि० १।२५ पर गयदास

निष्कर्ष यह है कि शरीर की सज्ञा-चेष्टा का कार्य मन करता है और वह सम्पूर्ण शरीर मे जहाँ तक सज्ञा या चेष्टा का व्यापार है वहाँ तक उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार 'वायु'। इसी बात को आचार्य चरक ने कहा है कि—'सम्पूर्ण शरीर मे चलने वाले वात-पित्त-कफ के लिए सभी स्रोत अयन (मार्ग) भूत है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से अग्राह्य) मन आदि सम्पूर्ण चेतना से युक्त शरीर मार्ग और आश्रय है'।[1]

सुश्रुताचार्य ने ऊर्ध्वग धमनियो के कार्य बतलाते हुए कहा है कि—'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, प्रश्वासोच्छ्वास, जम्भाई, छीक, हँसना, बोलना इत्यादि विशेषो का वहन करती हुई धमनियाँ शरीर को धारण करती है'।[2]

धमनियो की क्रिया वायु से सम्बद्ध है। जब प्रत्येक अग की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु सचरण करती हे तब उसका कार्य ठीक से होता रहता है। धमनियो के जो कार्य बतलाये गये है, उन सबका सम्बन्ध इन्द्रियो से है—इस कथन से सिद्ध होता है कि शरीर के जितने भाग मे रक्त-सवहन होता है, उतने भाग मे इन धमनियो की क्रिया होती रहती है और रक्तसवहन मे व्यतिक्रम होने पर रोग उत्पन्न होने लगते है और ऐसे रोग मानस या वात रोग की सीमा मे गिनाये गये है। इससे वात, मन और धमनियो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस मान्यता को सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है और इन्द्रियो तथा मन के कार्य को धमनी के आश्रित बतलाया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण वह श्लोक है जिसमे यह कहा गया है कि—'पच ज्ञानेन्द्रियो मे फैली हुई धमनियाँ मन के साहचर्य से पञ्चेन्द्रिय पुरुष को क्रमश पाँच इन्द्रियार्थों मे सयोजित करती है और वे धमनियाँ जीवन-पर्यन्त पञ्चेन्द्रिय पुरुष या जीवात्मा को इन्द्रियार्थों का ज्ञान कराती रहती है और विनाशकाल मे शरीर से आत्मा के निकल जाने पर स्वय पञ्चत्व को (विनाश को) प्राप्त हो जाती हैं।'[3]

इस श्लोक मे धमनियो के बारे मे दो महत्त्वपूर्ण बाते बतलायी गयी है। पहली बात यह है कि आत्मा के ज्ञान की साधन जो इन्द्रियाँ है—'आत्मा ज्ञ करणैर्योगात् ज्ञान त्वस्य प्रवर्तते' (चरक० शा० १)—उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध जोडने का काम धमनियाँ ही करती है। आत्मा हृदय मे रहता है। (यह पहले कहा जा चुका है) और मन का भी स्थान हृदय है। वह हृदय मे मे निकलने वाली धमनियो में

---

१. वातपित्तश्लेष्मणा पुन· सर्वशरीरचराणा सर्वाणि स्रोतास्ययनभूतानि तद्वदतीन्द्रियाणा पुन सत्त्वादीना केवल चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठातभूत च। —चरक० वि० ५।६

'मनोवहस्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि, तथापि मनस. केवलमेवेद शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते। —चरक० इन्द्रिय० ५।४१ पर चक्रपाणि

२. ऊर्ध्वगा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्य. शरीर धारयन्ति। —सुश्रुत० शा० ९।४

३ पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्व पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥ —सुश्रुत० शा० ९।१०

से होकर इन्द्रियो तक पहुँचता है और उसके साथ होने से इन्द्रियाँ अपने इन्द्रियार्थ को ग्रहण कर आत्मा को उसका ज्ञान कराती है।

इसलिए ये धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं। इस सन्दर्भ मे चक्रपाणि का निम्नाङ्कित उद्धरण मननीय है—

'मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि, तथापि 'मनस केवलमेवेद शरीर-मयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मन-सस्तदाश्रया दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते' (चरक० इन्द्रिय० ५।४१ पर चक्रपाणि) अर्थात् यद्यपि मनोवह स्रोतस् अलग नही कहे गये हैं, फिर भी 'मन का शरीर ही स्रोत या मार्ग है' इस कथन से शरीर के सभी स्रोतो का ग्रहण हो जाता है, विशेषकर मन के हृदय मे आश्रित होने से हृदय से निकलने वाली दस धमनियाँ मनोवह स्रोतस् कही जाती है।

दूसरी बात यह है, कि शरीर के विनाशकाल की सूचना धमनियो द्वारा ही मिलती है। जीवनभर धमनियो की स्पन्दन-क्रिया होती रहती है। जब धमनियो की स्पन्दन-क्रिया वन्द होने लगती है, तो विनाशकाल का ज्ञान हो जाता है। जैसा कि चरक ने इन्द्रियस्थान मे कहा है कि—लगातार स्पन्दनशील अगो मे स्पन्दन न होना एव ग्रीवा स्थित मन्या धमनियो का स्पर्श करने पर यदि स्पन्दन न मालूम पडे, तो उस व्यक्ति को मृत समझना चाहिए—'तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयाता, परासुरिति विद्यात्' (चरक० इन्द्रिय० ३।६)।

इस प्रकार हृदय को चेतना का स्थान, ओज और प्राण का एव चैतन्य का स्थान कहा गया है[1]। इस हृदय से धमनियो द्वारा समस्त शरीर के समस्त धातुओ के अग-प्रत्यग को प्राणयुक्त (चैतन्ययुक्त) जीवरक्त मिलता है, जिससे कि सम्पूर्ण शरीर चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय के एक-दो सेकेण्ड काम न करने से आँखो के सामने चिनगारियाँ आ जाती है, चक्कर आता है, शरीर मे कम्पन होने लगता है और प्राण के निकल जाने का भय होने लगता है। इन बातो को ध्यान मे रखकर ही हृदय को प्राणादि का स्थान माना गया और वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है। चेतना की दृष्टि से भी विचार करने पर पूर्वोक्त तथ्य स्पष्ट होते है।

एव उपर्युक्त सन्दर्भों से शरीर के समस्त स्रोतो मे मनोवह स्रोत मानने पर भी हृदयस्थ धमनियाँ विशेषरूप से मनोवह स्रोत कही जाने योग्य हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के अभिप्राय से चेतना का अधिष्ठान बतलाते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—केश, लोम, नखो का अग्रभाग, अन्न, मल, मूत्र और शब्दादि विषयो को छोडकर इन्द्रियो समेत समस्त शरीर चेतना का अधिष्ठान है—

'वेदनानामधिष्ठान मनो देहश्च सेन्द्रिय ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना' ॥ —चरक० शा० १।१३६

---

१. यद्धि तत्स्पर्शविज्ञान धारि तत्तत्र संस्थितम् ॥
तत्परस्यौजस. स्थानं तत्र चैतन्यसङ्ग्रह ।
हृदय महदर्थश्च तस्मादुक्त चिकित्सकै ॥ —चरक० सूत्र० ३०।६-७

सज्ञावह स्रोत और मनोवह स्रोत के भेद से वेदना का ज्ञान करानेवाली दो प्रकार की नाडियाँ मानी गई है। सज्ञावह स्रोत केशादि के अतिरिक्त शरीर मे सर्वत्र व्याप्त है। इनका रूपादि विषयो से स्पर्श होता है।[1] इन सज्ञावहाओ मे वात सदैव स्थित रहता है। उसकी प्रेरणा से मन सज्ञावहो द्वारा आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति कराता है।

मन का पोषण—मन एक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, क्योकि किसी भी इन्द्रिय का कार्य बिना मन के सहकार के नही होता है। दूसरी बात यह है, कि इन्द्रियो के जो दो विभाग किये गये हैं—१ ज्ञानेन्द्रिय और २ कर्मेन्द्रिय, इनमे दस इन्द्रियाँ आती है और सभी दसो इन्द्रियाँ किसी निश्चित विषय को ग्रहण करती हैं या किसी निर्धारित कर्म को करती है, किन्तु मन इन दोनो प्रकार की इन्द्रियो के समस्त व्यापार के साथ रहता है। इसके अतिरिक्त मन के व्यापार की अन्य सीमा निर्धारित नही की जा सकती। मन त्रैकालिक विचार, चिन्तन, ऊहापोह करने के लिए स्वतन्त्र है। मन के इस महत्त्व के ही कारण आयुर्वेद मे किसी व्यक्ति को तब तक स्वस्थ नही माना जाता, जब तक वह शारीरिक और मानसिक दोनो ही दृष्टियो से स्वस्थ न हो—

'समदोष समाग्निश्च समधातुमलक्रिय ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ —सु० सू० १५।४४

दशविध परीक्ष्य (चरक० विमान० अ० ८) के वर्णन के प्रसङ्ग मे 'चरक' ने जो धातुसाम्य के लक्षण गिनाये है, उनमे भी मानसिक स्वस्थता की बात कही गयी है। 'मन, बुद्धि और इन्द्रियो का सभी तरह से कष्ट रहित होना' धातुसाम्य का लक्षण कहा गया है—

'कार्य धातुसाम्य, तस्य लक्षण विकारोपशम । परीक्षा चास्य रुगुपशमन' सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणा चाव्यापत्तिरिति ।' (च० वि० ८।८९)

शरीर और मन का बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब दोनो मे से कोई एक रोगी होता है तो दूसरे पर भी उसका प्रभाव पडता है और वह भी रुग्ण हो जाता है—'शरीरमनुविधीयते सत्त्व, सत्वश्च शरीरम्'। (चरक)

शरीर के पोषण के लिए जिन आहारद्रव्यो को श्रेष्ठ बतलाया गया है, वे

---

१. ज्ञानोत्पत्ति का यह प्रकार आधुनिक क्रियाशारीर से सामञ्जस्य रखनेवाला है, देखे—

The sense of touch may be regarded as a modification of common sensation, and all parts of the body which are supplied with sensory nerves are to a certain extent organs of touch.

—Human Physiology, p 251

सभी ज्ञानेन्द्रियों के स्पर्शात्मक होने से सस्कृत मे विषयों का एक नाम स्पर्श भी है। जैसे—

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा ।'
'ये हि सस्पर्शजा योगा ।'
'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु खदा ।' —गीता

ही आहारद्रव्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रियो के भी पोषक कहे गये है। आहार से जैसे शरीर की धातुओ का पोषण होता है, उसी तरह मन का भी पोषण होता है।

मनोनुकूलता आहार का एक विशेष गुण है, क्योकि आहार की उपयोगिता तभी है जब वह सम्यग् विपक्व होकर शरीर की उन-उन धातुओ का पोषण कर सके और मानसिक प्रभाव भी अनुकूल हो। मन से ईर्ष्या-भय-क्रोध-लोभ और द्वेष की भावना होने की स्थिति मे किया हुआ भोजन नही पचता है[१]।

आहार का मन पर प्रभाव पडता है और मन के तीनो गुण—सत्त्व, रज और तम भी आहार से प्रभावित होते हैं। जब मनोऽनुकूल वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श से युक्त आहार को ग्रहण किया जाता है तो वह आहार मन को पोषित कर उसे बल प्रदान करता है और इन्द्रियो को भी सबल, स्वस्थ और प्रसन्न बनाता है।[2] जब मन को प्रिय लगनेवाला आहार ग्रहण किया जाता है, तो उस अन्नपान से मन मे सन्तोष, बल और रुचि की वृद्धि होती है साथ ही शरीर का बल, आरोग्य और आयु बढती हैं—

'मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षय'॥

(चरक चि० ३०।३३३)

सत्त्व-रज-तम को प्राण कहा गया है—'अग्नि सोमो वायु सत्त्व रजस्तम पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणा' (सु० शा० ४।३)। डल्हण ने कहा है कि सत्त्व-रज-तम ये मन के रूप हैं—'सत्त्व रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतम्' (सु० शा० ४।३)। इस प्रकार मन की प्राण सज्ञा भी है और प्राण अन्न पर निर्भर होने से मन की स्थिति भी अन्न के ऊपर है एव मन का भी पोषण उसी आहार से होता है, जिससे शरीर की सभी धातु आदि का पोषण होता है। अतएव चरक ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रसन्नता, प्रतिभा, सुख, बुद्धि इन सबकी उपलब्धि अन्न से ही होती है।[3] शरीर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भी अन्न द्वारा ही पोषित होते हैं और इन्द्रियो का भी पोषण अन्न से ही होता है।[४]

---

१. ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥ —माधवनिदान

२ इष्टवर्णगन्धरसस्पर्श विधिविहितमन्नपानं प्राणिना प्राणिसञ्ज्ञकाना प्राणमाचक्षते कुशला, प्रत्यक्षफलदर्शनात्, तदिन्धना ह्यन्तरग्ने स्थिति, तत सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकर यथोक्तमुपसेव्यमान, विपरीतमहिताय सम्पद्यते। —चरक० सू० २७।३

३ प्राणा प्राणभृतामन्नमन्न लोकोऽभिधावति। वर्ण प्रसाद सौस्वर्यं जीवित प्रतिभा सुखम्॥
तुष्टि पुष्टिर्बल मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्। लौकिक कर्म यद् वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्त तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्॥ —च० सू० २७।३४९-५१

४ अन्नमिष्ट ह्युपहृतमिष्टैर्गन्धादिभि पृथक्। देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनिन्द्रियाणि च॥
—च० चि० १५।१२

आहार की तरह औषध द्रव्य या कल्पित औषधि-योग भी मन का पोषण करते है और मन को कर्मठ बनाते है। आसवो के गुण-वर्णन के प्रसङ्ग मे कहा गया है कि आसव मन, शरीर और अग्नि के बल को बढाने वाले और अनिद्रा, शोक तथा अरुचि को नष्ट करने वाले एव मन को प्रसन्न करने वाले होते है।[1]

मन मे सचित तमोदोष से मन बुद्धि के आवृत हो जाने पर सज्ञानाश की स्थिति हो जाती है, जिसे दूर करने के लिए तमोदोष को हटाने के लिए उष्णवीर्य औषधियो का प्रयोग किया जाता है और आहार मे मेध्य[2] द्रव्य, जैसे—शखपुष्पी, जटामासी, ब्राह्मी, वच, हीग, पुराना घी आदि का प्रयोग करते है। इससे भी यह बात सिद्ध है, कि औषधि द्रव्यो के आहार से मन का पोषण होता है। चरक[3] और सुश्रुत[4] मे भी मेध्य रसायनयोगो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और यह सब इस बात के लिए साक्ष्य है, कि आहारद्रव्यो से मन का पोषण होता है।

मन के तीन गुणो का आहार से सम्वन्ध बतलाते हुए गीता मे कहा गया है कि—'सात्त्विक पुरुष को वही आहार प्रिय होता है, जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और प्रीति को बढाने वाला तथा स्निग्ध, स्थिर एव मन की रुचि के अनुकूल होता है।' राजस पुरुष कडवे, खट्टे, लवणयुक्त, अत्युष्ण, अतितीक्ष्ण, रूक्ष, विदाही तथा दु ख, चिन्ता और रोगोत्पादक आहार मे रुचि रखनेवाले होते है। एव नीरस, अर्धपक्व, बासी, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन मे तामस पुरुष की रुचि होती है।[5]

इस प्रकार भोजन के साथ मानसिक गुणो का भी परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे कहा गया है, कि जो अन्न खाया जाता है, उसका

---

१ मन शरीराग्निवलप्रदानामस्वप्नशोकारुचिनाशनानाम्।
सहर्षणाना प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुरुत्तरैषा॥ —च० सू० २५।५०

२. हिङ्गुकैडर्यारिमेदावचाचोरकवयस्था गोलोमी जटिलापलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि सज्ञास्थापनानि भवन्ति॥ —च० सू० ४।४८

३. (i) जराव्याधिप्रशमन बुद्धीन्द्रियबलप्रदम्। (ब्राह्मरसायन)
(ii) स्वय चाम्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदावाक् च रूपिणी। (आमलकरसायन)
(iii) धीमान् यशस्वी वाक्सिद्ध· श्रुतधारी। (लौहादिरसायन)
(iv) मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगा शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाता। (ऐन्द्ररसायन)
(v) मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी। —च० चि० १।३

४. श्रुतनिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति।
मेधावी वर्षशतायुर्भवति।
श्रुतधर पञ्चवर्षशतायुर्भवति।
मेध्यमारोग्यमायुष्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम्। —सु० चि० २८।३-५, १७

५ आयु· सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना·।
रस्या स्निग्धा· स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रिया·॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन·। आहारा राजसस्येष्टा दु ख शोकामयप्रदा॥
यातयाम गतरस पूति पर्युषित च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रियम्॥

तीन भाग बनता है—जो स्थूल अश होता है, उससे मल बनता है, जो मध्य अश होता है, उससे मास आदि बनते हैं तथा जो अणु (सूक्ष्म) अश होता है, उससे मन का पोषण होता है।[1] इस कथन से भी आहार से मन के पोषित होने की बात स्पष्ट होती है।

मन की गणना पाँच ज्ञानेन्द्रियो के साथ की गयी है और मधुर रस को पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय तथा मन को सन्तुष्ट करने वाला कहा गया है[2]। इस उक्ति से आहार से मन का पोषण होना सिद्ध होता है। एव ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति-समाधि भी मन के पोषक होते हैं।[3]

---

१. अन्नमशित त्रेधा विधीयते, तस्य य स्थविष्ठो धातुस्तस्य पुरीष भवति, यो मध्यमस्तन्मास, योऽणिष्ठस्तन्मन इति। —छान्दोग्य० ६।५।१

२. मधुरो रस षडिन्द्रियप्रसादन।
'षडिन्द्रियाणि मनसा समम्'। —चरक० सू० २६।४३ पर चक्रपाणि।

३ मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि। —च० सू० १।५८

दशम अध्याय

मनोविज्ञान की उपादेयता

आचार्य चरक ने आयु की परिभाषा के सन्दर्भ मे कहा है कि—'शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के मयोग को आयु कहते हैं'।[1] आगे चलकर मन, आत्मा और शरीर के प्रगाढ सम्बन्ध को 'त्रिदण्ड'[2] वतलाया गया है और यह त्रिदण्ड ही जीवन का आधार है तथा चिकित्साशास्त्र मे केवल शरीर की चिकित्सा को ही लक्ष्य न मानकर मन एव आत्मा की ओर भी विशेष ध्यान देने की वात कही गयी है।

'आयुर्वेद' किसी व्यक्ति को तव तक स्वस्थ नही मानता जव तक दोप, अग्नि, धातु एव मल की क्रिया की समानता (प्राकृतावस्था) के साथ-साथ, उस व्यक्ति की इन्द्रियो, उसके मन और आत्मा मे प्रसन्नता न हो[3]। इस प्रकार स्वास्थ्य की सम्पूर्णता के लिए मानसिक स्वास्थ्य का समृद्ध होना आवश्यक तथा उपयोगी है।

रोगो के दो अधिष्ठान[4] हैं—१ शरीर और २ मन। इन दोनो अधिष्ठानो मे होनेवाले शारीरिक और मानसिक रोग एक दूसरे को प्रभावित करते है।[5] कभी-कभी जब शरीर रोगी होता है, तो मन भी रोगी हो जाता है तथा मन के रोगी होने पर शरीर को भी रोगाक्रान्त होते देखा जाता है। इसी अभिप्राय से चरक ने कहा है कि—'शरीर मन के अनुरूप होता है और मन शरीर के अनुरूप'[6]।

मनोविज्ञान की दृष्टि से किसी व्यक्ति को मानसिक रोग, मनोदैहिक रोग, स्नायुदौर्वल्य एव व्यावहारिक क्रिया-कलाप के सम्पादन मे व्यतिक्रम से मुक्त होने

---

१. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥
—च० सू० १।४२

२ सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति सयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
—च० सू० १।४५

३ समदोष समाग्निश्च समधातुमलक्रिय। प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥
—सुश्रुत० सू० १५।४८

४ तेषा कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा। —अ० हृ० सू० १

५ ते च विकारा परस्परमनुवर्तमाना कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च।
—च० वि० ६।८

६ शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्व च शरीरम्। —च० शा० ४।३७

* *

It is now-a-days well recognized that it is 'man' and not the diseased 'organ' that is in need of treatment The 'man' is made up of the body and the 'mind', the two components being inseparable and having continuous interaction on each other

—Clinical Diagnosis, 1977 page 406

मात्र से स्वस्थ नही माना जा सकता। जब तक कि वह् अपने स्वाभाविक दैनन्दिन कार्यो के सम्पादन मे आनन्द, प्रसन्नता, सन्तुष्टि और सुख का अनुभव न करता हो, तनावमुक्त न हो, किसी सकट के उपस्थित होने पर उसके निराकरण मे सक्षम न हो, वास्तविक दिनचर्या के समाधान का हल निकालने मे सक्षम न हो और जीवन-शैली के निर्वाह मे अपने को अयोग्य न समझे तथा उद्वेग एव पलायन-वृत्ति से रहित न हो।[1]

'असामान्य मन (मानसरोग-विकार) के निदान और उसकी चिकित्सा का अध्ययन जिस चिकित्सा-शाखा मे किया जाता है, उसे **मानस-चिकित्सा-विज्ञान**[2] (Psychiatry) कहते है।'

चिकित्सा-विज्ञान की वह शाखा, जिसमे नाडी-सस्थान की विकृतियो का अध्ययन किया जाता है, उसे **नाड़ी-विज्ञान** या न्यूरोलाजी (Neurology) कहते हैं। नाडी-सस्थान की विकृत क्रिया से जो मानसिक विकार होते है, उन्हे **नाडी-मनोविकृति** (Neuro-psychiatric disorders) कहते है।

रोगो के शारीरिक और मानसिक—इन दो भेदो के अतिरिक्त एक तीसरा भेद भी होता है, जिसमे एक साथ ही कुछ लक्षण शारीरिक और कुछ लक्षण मानसिक रोग के होते है, उसे मनोदैहिक रोग (Psychosomatic disease) कहते है। ऐसे रोगों की चिकित्सा मे शारीरिक उपचार के साथ मानसिक उपचार भी आवश्यक रूप से किया जाता है, इसे मनोदैहिक चिकित्सा (Psychosomatic treátmet) कहते है।

रोग चाहे शारीरिक हो या मनोदैहिक हो अथवा मानसिक हो, जब तक रोगी के मानसिक धरातल का विधिवत् अध्ययन कर रोगी की प्रकृति आदि का सम्पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाये, तब तक रोग का वास्तविक निदान कर पाना सम्भव नही होता[3]। क्योकि उक्त तीनो प्रकार के रोग परस्पर ऐसे घुल-मिल

---

1. A normal person should not only be free of all psychotic, neurotic, psychosomatic and behaviaral disturbances, but must also be subjectively comfortable, happy and free of disabling conflicts He should be able to face the normal stresses and strains of eve ry day life in a realistic way, without getting distressed or disabled

—Clinical Diagnosis 1977, p 407

2 The branch of medical study devoted to the diognosis and treatment of mental illness

3 No physical symtoms can be regarded adequately studied or treated, unless a simultaneous study of the psychological aspect of the case is also conducted, not only for psychiatric and psychosomatic illnesses, but also for physical illnesses, an evaluation of the psychological side of the 'personality' of the individual is necessory. This can be systematically and easily accomplised by medical men, provided

जाते है कि उनके लक्षणो को देखकर यह निर्णय करना कठिन हो जाता है, कि रोगी का प्रधान रोग शारीरिक है या मानसिक ? कौन रोग प्रधान है, कौन गौण है और कौन उपद्रव है अथवा कौन रोग काल्पनिक है ? इसलिए सभी प्रकार के रोगो के सही निदान के लिए रोगी की मन स्थिति का बारीकी से अध्ययन करका अत्यन्त अपेक्षित हे ।

मन के विकार से शरीर मे विकार आता है । हृदय की गति, श्वास-प्रश्वास, आहार का पाचन आदि कार्य मन के प्रसन्न रहने पर ठीक से हो पाते हैं । यदि अन्त करण (मन) मे वृद्धावस्था का भाव समा जाये, तो जवानी मे भी बुढापा आ जाता है और यदि अस्सी वर्ष के वृद्ध का मन जवान होता है तो उसका शरीर युवावस्था की स्फूर्ति को धारण करता है—

जईफी जिन्दगी मे वक्त की बेजा खानी है ।
अगर जिन्दादिली है, तो बुढापा भी जवानी है ।

यह बात अनुभव-गम्य है, कि मनुष्य जब अपने अन्त करण को उत्कृष्ट पराक्रम-शील समझता है, तब उसके शरीर मे भी पौरुष और शक्ति का निवास होता है, इसीलिए कहा जाता है कि—'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' ।

अधिक चिन्ता करने से शरीर और शिर मे चक्कर आता है और विचार करने की शक्ति कुण्ठित होती है । अत्यन्त क्रोध से पित्त का प्रकोप होकर ज्वर होता है । भय से पुरीषोत्सर्ग होता है, पेशाब आ जाता है और बदन मे पसीना छूटने लगता है । इन स्थितियो से स्रोतो के मुख खुल जाते हैं और वे शीघ्रता तथा तीव्रता से कार्य करने लगते हैं । ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, दैन्य, क्रोध तथा शोक आदि से मन के व्याकुल होने पर जो भोजन किया जाता है, वह नही पचता है, क्योकि मन के विकृत होने से पाचक रसो का उचित मात्रा मे स्राव नही होता है और परिणामस्वरूप क्षुधा का ह्रास हो जाता है, जी मिचलाता है तथा वमन की प्रवृत्ति होती है । मन की विकृति का श्वास पर भी असर पडता है । किसी गम्भीर रोग की बिभीषिका से या दु खजनक हादसा देखने-सुनने से सहसा हृदय की धडकन बन्द हो जाती है । माता के क्रोध के आवेश से उसके स्तन का दूध सूख जाता है । क्रोधी स्त्रियो का दूध पीने से बच्चो को आक्षेपक रोग हो जाता है ।

मन बन्दर के समान चञ्चल होता है । वह दिल को दहला देता है, जब उसमे मनोभावो का ज्वार उठता है । मन अतीन्द्रिय है, उसे इन्द्रियो की सीमा से अगम्य विषय-वस्तुओ का ज्ञान होता है । वह हृदय को मथ देता है । वह बलवान् और दृढ है । फिर भी एक बात यह भी सत्य है, कि यदि मन को आश्वस्त कर उसे पूर्णरूप से यह विश्वास दिला दिया जाय, कि यदि हमारी बात मान ले तो

---

they are well trained in the clinical methods of psychological medicine
—Clinical Diagnosis, 1977 page 406

उसको आनन्द तथा सुख के नन्दनवन मे इन्द्र के सिंहासन का ऐश्वर्य भी मिल सकता है। जैसा कि उस जाट ने हकीम की बात मान ली थी—

लाहौर मे एक बार एक जाट अपनी बीमारी की सौगात लेकर एक बडे हकीम के पास अपना ईलाज कराने के लिए गया। हकीम साहब ने उसकी नब्ज देखी और अपनी अनुभवी निगाह उसकी ओर गौर से डाली और एक नुस्खा लिखकर उसे दे दिया कि इसे घोटकर पी लेना। वह जाट जो वर्षो से बीमारी झेल रहा था, इतमीनान से नुस्खे के कागज को घोट कर पी गया और फिर आकर हकीम को बताया कि पहले से बहुत आराम है। हकीम ने उसे कुछ और नुस्खे दिये और उन्हे भी वह फिर घोटकर पी गया और एकदम चगा हो गया।

वस्तुत रोग शरीर का हो या मन का, चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी की अन्तरात्मा मे घुसकर झांके और उसके मन की प्रकृति की जासूसी करे। तब फिर वह उसकी चिकित्सा सफलतापूर्वक कर सकता है, यह निर्विवाद सत्य है[1]।

मानसरोगों के सामान्य कारण

(१) जिस प्रकार शारीरिक रोगो के आदि कारण वात-पित्त-कफ होते है, उसी प्रकार **मानसरोगो के आदि कारण रज और तम** ये दोनो मानस दोष होते हैं।[2]

(२) रोष (क्रोध) का अश अधिक होने से **राजस मन की छह प्रकृतियाँ** और मोह (अज्ञान-बुद्धिमन्दता) का अश अधिक होने से **तीन तामस प्रकृतियाँ** मानस रोगो का कारण होती है।[3]

(३) इष्ट (मनोऽनुकूल) वस्तु का न मिलना और अनिष्ट (अवाञ्छित) वस्तु का मिल जाना मानस रोग का कारण है।[4]

(४) धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों का असतुलित रूप से सेवन कराना अर्थात् इनमे से किसी एक या दो का अधिक सेवन या एक या दो की सर्वथा अपेक्षा करना मानस रोग का कारण है।[5]

(५) शरीर-दोषो के प्रकोप की तरह मानस दोषो (रज और तम) के प्रकोप के तीन कारण माने गये है[6]—

---

१ ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित। आतुरस्यान्तरात्मान न स रोगाश्चिकित्सति ॥
—चरक० वि० ४।१२

२ रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकारा काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-मान-मद-शोक-चिन्ता-उद्वेग-भय हर्षादय। —च० वि० ६।५

३ इत्येव खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विध (आसुर, राक्षस, पैशाच, सार्प, प्रैत, शाकुन) भेदाश विद्यात, रोषाशत्वात तथा तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविध (पाशव मात्स्य-वानस्पत्य) भेदाश विद्यात् मोहाशत्वात। —च० शा० ४।३९

४ मानस पुन- इष्टस्य अलाभात, लाभात् च अनिष्टस्य उपजायते। —च० सू० ११।४५

५ न हि अन्तरेण त्रयमेतद मानस किञ्चिन्निष्पद्यते सुख वा दु ख वा। —च० सू० ११।४६

६. (क) द्वयानामपि दोषाणा त्रिविध प्रकोपणं; तद्यथा—असात्म्येन्द्रियार्थसयोगः प्रज्ञापराध-परिणामश्चेति। —च० वि० ६।६

(क) असात्म्येन्द्रियार्थसयोग ।

(ख) प्रज्ञापराध ।

(ग) परिणाम ।

जिस प्रकार शारीर-दोषो मे वायु की प्रधानता है, उसी प्रकार मानस दोषो मे 'रज' की प्रधानता है । रज और तम का सदैव साहचर्य रहता है और विना 'रज' के 'तम' की प्रवृत्ति नही होती ।

(क) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—श्रोत्र-त्वचा-नेत्र-जिह्वा और घ्राण—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियो का अपने-अपने विषयो (क्रमश शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के साथ अधिक मात्रा मे सयोग होगा (अतियोग), विलकुल सयोग न होना या नही के वरावर या अत्यल्प सयोग होना (अयोग), तथा अप्रिय, उद्वेजक या प्रतिकूल अहितकर सयोग होना (मिथ्यायोग) 'असात्म्येन्द्रियार्थसयोग' कहलाता है ।

इन्द्रियों के अर्थो (विषयो) के अहितकर (असात्म्य) सयोग को 'असात्म्येन्द्रियार्थसयोग' कहते है । जैसे—इन्द्रियाँ पाँच हैं और इनका—१ अतियोग, २ अयोग और ३ मिथ्यायोग होना असात्म्य-इन्द्रियार्थसयोग है । इस प्रकार वह (५ × ३ = १५) पन्द्रह प्रकार का होता है—

कर्ण—

१ अति ऊँचे शब्द, मेघो का गर्जन, विजली की तडपन, नगाडे की आवाज, सिंह-व्याघ्र की गर्जना आदि सुनना, कर्णेन्द्रिय का अपने विषय के साथ अतियोग है ।

२ किसी भी प्रकार के शब्द का न सुनना कर्णेन्द्रिय का अयोग है ।

३ कठोर, तिरस्कारसूचक, भयानक, अप्रिय और दु खजनक अप्रिय शब्दो का सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्यायोग हे ।

त्वचा—

४ अतिशीत या अतिउष्ण जल से स्नान, अतिदवाव के साथ मालिश उवटन लगाना या अभ्यग करना त्वचा का अतियोग है ।

५ शीत या उष्ण जल स्पर्श या अभ्यग आदि का सर्वथा स्पर्श न करना त्वचा का अयोग है ।

६ विषम स्थान का त्वचा से स्पर्श, अपवित्र वस्तु का स्पर्श, आघात लगना, जहरीली वायु का स्पर्श आदि त्वचा-इन्द्रिय का मिथ्यायोग है ।

नेत्र—

७ अति तेजस्वी सूर्य, विजली का वल्व, आकाशीय विद्युत् आदि का देखते रहना नेत्रेन्द्रिय का अतियोग है ।

(ख) कालबुद्धीन्द्रियार्थाना योगो मिथ्या न चाति च ।
द्वयाश्रयाणा व्याधीना त्रिविधो हेतुसङ्ग्रह ॥ —च० सू० ११५४

(ग) कालार्थकर्मणा योगो हीनमिथ्यातिमात्रक ।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥ —अ० हृ० सू० १

८. किसी वस्तु का एकदम न देखना नेत्रेन्द्रिय का अयोग है।

९. अतिदूरस्थ, भयङ्कर, उग्र, अद्भुत वीभत्स, विकृत शव आदि का देखना नेत्रेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

जिह्वा—

१०. मधुर, अम्ल आदि रसो का अतिसेवन रसनेन्द्रिय का अतियोग है।

११ मधुर आदि रसयुक्त द्रव्यो का सर्वथा भक्षण न करना तथा रसहीन पदार्थों का खाना रसनेन्द्रिय का अयोग है।

१२ अहितकर द्रव्यो का भक्षण करना और आहार-विधि[1] की उपेक्षा कर आहार-रसो का सेवन करना रसनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

घ्राण—

१३ अतितीक्ष्ण, अति उग्र गन्ध, तीव्र गैस आदि का सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है।

१४ किसी प्रकार के गन्ध का सर्वथा न सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अयोग है।

१५ दुर्गन्धित सडी-गली वस्तुओ की गन्ध लेना, अपवित्र गन्ध, जहरीली वायु आदि की गन्ध लेना घ्राणेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

(ख) प्रज्ञापराध[2]—'प्रज्ञा' (बुद्धि) के तीन स्तर माने गये है—१. **बुद्धि** अर्थात् ज्ञानोपार्जन करना, २. **धृति** अर्थात् ज्ञान को धारण करना और ३. **स्मृति** अर्थात् उचित अवसर पर सञ्चित ज्ञान का स्मरण होना।

'बुद्धि, धृति और स्मृति के भ्रष्ट हो जाने से मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक दोषो को प्रकुपित करने वाले जिन-जिन अशुभ (अकल्याणकारी) कर्मों को करता है उन्हे (कर्मों को) प्रज्ञापराध कहते है।'

कर्म—वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्ति को कर्म कहा जाता है। इन तीनो की प्रवृत्ति (कर्म) के अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग को प्रज्ञापराध जानना चाहिए।[3]

कर्म का अतियोग—वाणी, मन तथा शरीर के कर्मो को अपनी शक्ति से अधिक करना, इनका 'अतियोग' कहलाता है।

कर्म का अयोग—वाणी, मन और शरीर के स्वाभाविक कर्मो मे प्रवृत्त न होना, इनका 'अयोग' कहलाता है।

---

१ उष्ण, स्निग्धं, मात्रावत्, जीर्णे, वीर्याविरुद्धम् , इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुत नातिविलम्बितम्, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुञ्जीत आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्। च० वि० १।२४

२ धीधृतिस्मृतिविभ्रष्ट कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराध त विद्यात सर्वदोषप्रकोपणम्॥

—च० शा० १।१०२

३ चरक० सूत्र० ११।४०।

कर्म का मिथ्यायोग—उपस्थित मल-मूत्रादि वेगो को रोकना, न आये हुए मल-मूत्रावि वेगो को हठात् प्रवृत्त करना, ऊँची-नीची भूमि पर टेढे-मेढे गिर जाना या चलना अथवा अङ्गो को रखना, दूषित पदार्थों का स्पर्श करना, शरीर पर आघात लगना, अङ्गो का अधिक मर्दन करना (दबाना), क्षमता से अधिक समय तक श्वास को रोकना, शरीर के लिए कष्टकर कार्य, यथा—व्रत-उपवास, अति मद्यपान, अति उष्ण धूपसेवन, अतिशीतल जलस्नान आदि **शारीरिक मिथ्यायोग** है।

चुगली करना, झूठ बोलना, अप्रिय अप्रासङ्गिक प्रतिकूल वचन, कठोर वचन तथा कलहपूर्ण वार्तालाप आदि **वाणी का मिथ्यायोग** है।

भय, शोक, क्रोध, मोह, लोभ, मान, ईर्ष्या और मिथ्या दर्शन (पूज्य को अपूज्य और अपूज्य को पूज्य दृष्टि से देखना) **मानसिक मिथ्यायोग** है।

(ग) **परिणाम**—काल को ही परिणाम कहा जाता है, क्योकि काल ही सभी प्रकार के अच्छे या बुरे कर्मों को धर्म-अधर्म रूप मे परिणत कर यथासमय उनका फल देनेवाला होता है।

काल के लक्षणो का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग सभी प्रकार के शारीर या मानस रोगो का निमित्तकारण होता है।

काल का अतियोग—शीतकाल मे शीत का, ग्रीष्मकाल मे गरमी का और वर्षाकाल मे वर्षा का अनुपात से अधिक होना (हद से गुजर जाना) काल का अतियोग है।

काल का अयोग—शीतकाल मे जाडा न पडना या अल्प पडना, ग्रीष्मकाल मे गरमी न होना और वर्षा मे वर्षा का न होना काल का अयोग कहलाता है।

काल का मिथ्यायोग—शीतकाल मे गरमी पडना या वर्षा होना, ग्रीष्मकाल मे शीत होना या वर्षा होना और वर्षाऋतु मे गरमी या शीत पडना आदि काल का मिथ्यायोग है।

इस प्रकार—१ असात्म्येन्द्रियार्थसयोग, २ प्रज्ञापराध और ३ परिणाम—ये त्रिविध विकल्प (अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग) मानस रोगो की उत्पत्ति मे कारण होते हैं।

(६) **हीनसत्त्वता** (निकृष्ट मनोबल)—तीन प्रकार का मनोबल होता है—१ प्रवर मनोबल, २ मध्य मनोबल और ३ हीन मनोबल।

जो व्यक्ति हीन मनोबल के होते है, वे अपने मन मे उठे हुए वेगो को नही रोक पाते है और हलकी-सी विपत्ति या समस्या आने पर रोने-चिल्लाने लगते हैं। भले ही वे शरीर से लम्बे-चौडे और बलवान् हो, किन्तु छोटी-छोटी बातो को सहन नही कर पाते। उनके मन मे भय, शोक, लोभ, मोह और मान आदि भरे होते है। वे भयानक, रौद्र, अप्रिय, विकृत, घृणित आदि विषय या कथानक सुनकर अथवा पशु या मनुष्य के रक्त या मास को देखकर विषाद, मूर्च्छा, उन्माद,

शिरोभ्रम या सहसा गिर पडना, शरीर का पीला पड जाना—इनमे से किसी भी विकार के शिकार हो जाते है।[1]

(७) **चित्तवृत्ति का अनियन्त्रण**—मन की—१ मूढ, २ क्षिप्त और ३ विक्षिप्त वृत्तियाँ मानस रोगो को उत्पन्न करती है।

१ मूढ—तमोगुण की अधिकता से किसी कार्य मे मन न लगना तथा आलस्य और निद्रा से अभिभूत रहना।

२ क्षिप्त—रजोगुण की अधिकता से चञ्चल मन का अस्थिर रहना।

३ विक्षिप्त—सत्त्वगुण के अधिक होने पर भी रजोगुण से आविद्ध होने के कारण किसी भी कार्य मे स्थिर न होना।

इस वृत्ति मे व्याधि, स्त्यान (अकर्मण्यता), सशय, प्रमाद (किसी भी कार्य की अवहेलना-लापरवाही), आलस्य, भ्रान्ति (Delusion) और चञ्चलता आदि चित्तविक्षेप होते हैं।

इन तीनो वृत्तियो का नियन्त्रण न करने से मानस रोग उत्पन्न होते हैं।

(८) **आहार**—कटु-अम्ल और लवणरस युक्त पदार्थों का अधिक सेवन, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही गुण युक्त द्रव्य का सेवन, नीरस भोजन, मलिन, विकृत, दूषित, दुर्गन्धयुक्त सडा-गला तथा बासी भोजन, आहार विधि के विपरीत प्रकार से भोजन करना, जूठा भोजन, अपवित्र भोजन, विरुद्ध भोजन, गुरु भोजन, पत्ते-वाले शाको का अधिक सेवन और कुन्दरू का सेवन मानस रोगजनक है।

(९) **विहार**—रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, दुराचारिणी, अप्रिय रूप तथा आचरणवाली, प्रतिकूला, अदक्षा, कामवासनाहीना, अन्यकामा और परकीया से मैथुन करना, पशुयोनि अथवा गुदामैथुन करना—देवस्थान, वधस्थान, श्मशान, चतुष्पथ या उपवन मे मैथुन करना ये मानस रोग का कारण होते है। रात मे अनुचित स्थान मे घूमना, सन्ध्या के समय भोजन, अध्ययन, मैथुन और शयन करना, मद्यपान, जुआ और वेश्या-प्रसग मे रुचि होना, पाप करने वाले मित्र, भृत्य या स्त्री के साहचर्य मे रहना, सज्जनो से शत्रुता और दुर्जनो से मित्रता रखना, दूसरो के रहस्यो को प्रकट कर शत्रुता करना, अधार्मिक, राष्ट्रद्रोही, उन्मत्त, पतित तथा क्षुद्रजनो के सम्पर्क मे रहना, दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या के नियमो का समुचित रूप से पालन न करना, ये मानसरोग के जनक है।

(१०) **आचार**—हिंसा, चोरी, चुगलखोरी करना, झूठ बोलना, शरीर-वाणी और मन से अधिक श्रम करना, शिर से भारी बोझ ढोना, अविनीत, अबुद्धि जन-ससर्ग, प्राणियो के प्रति द्वेष, परधन-लालसा, परदाराऽभिलाषा, अति हर्ष एव अति विषाद करना, क्रोध करना, धैर्य को खो देना, क्रूर आचरण करना, पर निन्दा

१ हीनसत्त्वास्तु 'महाशरीरा अपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहित-भयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतकथास्वपि मूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतम-माप्नुवन्ति।

—च० वि० ८।११९

करना, 'आचाररसायन' (चरक० चि० १।४।३०-३५) मे बतलाये गये नियमो का पालन न करना, अजितेन्द्रिय होना, धारणीय वेगो को धारण न करना और अधारणीय वेगो को रोकना, सद्वृत्त मे कहे गये सदाचार का पालन न करना, आहार-विहार और आचार के नियमो का उल्लघन करना, यमो (अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह) और नियमो (शौच-सतोष-तप-स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) की उपेक्षा करना और अपनी आय तथा व्यय का हिसाब न रखना तथा मेरा दिन और मेरी रात कैसी बीत रही है ? मैं अपने कर्तव्य-पालन मे जीवन की गाडी को आगे बढाने मे कहाँ तक सफल हो सका हूँ ? इत्यादि बातो पर सोने के पूर्व विचार न करना एव प्रमाद करना मानस रोगो को निमन्त्रण देना है—

आमद कम खर्च ज्यादा ये लक्षण मिट जाने के है।
ताकत कम गुस्सा ज्यादा ये लक्षण पिट जाने के है॥

(११) **मानस भाव**—रज और तम, इन दोनो मानसदोषो के प्रकोप से उत्पन्न मन प्रदूषण तथा इच्छा और द्वेष के अनेक भेदो से उत्पन्न मानसभाव मानसरोगो को उत्पन्न करने मे अपनी अह भूमिका का निर्माण करते है। वे इस प्रकार है—

१ **परिग्रह**—ममता या प्रभुत्व या अधिकार (Ownership)—जब किसी वस्तु को अपनी निजी सम्पत्ति माना जाता है, तो उस वस्तु के प्रति विशेष लगाव, आसक्ति या **लोभ** होता है। दूसरे लोग **ईर्ष्या**वश उस वस्तु को छीनना चाहते हैं और झूठे ही अपनी सम्पत्ति कहते हैं, जिससे **द्रोह** होता है, **झूठ** बोलना पडता है और उन वस्तु को पाने की विशेष अभिलाषा का अर्थात् **काम** का उदय होता है, फिर **क्रोध, अहकार, द्वेष, कठोरता, अभिघात** (मारपीट), **भय, ताप** (मानसिक कष्ट) **शोक, चिन्ता** और **उद्वेग** आदि मनोविकारो का जन्म होता है।[१]

२ **लोभ या काम**—जब सञ्चित वस्तुओ के प्रति विशेष लोभ या अनुराग होता है, तब उसके सरक्षण और वृद्धि की प्रबल इच्छा अथवा **काम** का जन्म होता है। फिर काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से किंकर्तव्यविमूढता या स्मृतिभ्रश होता है और फिर स्मृतिभ्रश से बुद्धि का नाश होता है। वह व्यक्ति विवेकशून्य होकर सत्पथ से भटक जाता है और नाना प्रकार के मनोविकारो से घिर जाता है।

इसी प्रकार—३ क्रोध (Anger), ४ शोक (Grief), ५ भय (Fear), ६. हर्ष (Joy), ७ विषाद (Depression), ८ ईर्ष्या, (Jealousy), ९ असूया (Envy), १० दैन्य (Misery), ११ अमर्ष (Intolerence), १२ मद (Neurosis), १३ मोह (Delusion), १४ काम (Lust), १५ उद्वेग

---

१. भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां सत्त्वाना शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवाच्छ्रम, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चय, सञ्चयात् परिग्रह, परिग्रहाल्लोभ प्रादुरासीत् कृते।

तनस्त्रेतायां लोभादभिद्रोह., अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारु
—च० वि० ३।२४

(Anxiety), १६ मान (Pride), १७ लोभ (Greed), १८ आवेग (Excitement), १९ निर्वेद (Self disparagement), २० ग्लानि (Languor), २१ शका (Uncertainty), २२ व्रीडा (Shame), २३ जडता (Dullness), २४ उग्रता (Fierceness), २५. त्रास (Fright), २६ हठ (Obstinacy), २७ विलाप (Groaning), २८ श्रम (Fatigue), २९ उत्सुकता (Eagerness) और ३० स्मृति (Recollection), आदि मानसभाव मानसक्षेत्र मे भावनाओ और आवेगो (Emotions) की तरगो को उत्पन्न कर मन को क्षुब्ध कर देते हैं और रज तथा तम दोष के सवर्धन एव प्रकोप से नाना प्रकार के मानस रोगो को उत्पन्न करने मे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।[1]

(१२) **भावना**—किसी मनोव्यापार से जो विशेष प्रकार का प्रभाव हमारे मन पर पडता है, किंवा जो सवेदना (सुखात्मक या दु खात्मक अनुभव) होती है, उसे **भावना** कहते है।

जिस प्रकार समुद्र मे लहरे उठती हैं और हिलोरें लेती है, उसी प्रकार मन के सागर मे भी सवेदना की तरगे और हिलोरें उठती है, उन्हे **भावना** कहते है। जो भावना हमारे अनुकूल होती है, उनके प्रति इच्छा जागृत होती है क्योकि उनसे सुखद अनुभूति होती है और जो प्रतिकूल होती है उनके प्रति द्वेष उपजता है, क्योकि उससे दु ख का अनुभव होता है।

प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा भिन्न होती है और उस इच्छा के अनुसार ही कोई वस्तु प्रिय या अप्रिय होती है। वैसे ससार मे प्रिय क्या है और अप्रिय क्या है ? इसका निश्चय नही किया जा सकता। जिसका मन जिस वस्तु को पसन्द कर ले, उसके लिए वही प्रिय और स्मरणीय है।

'दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुर यस्य मन यत्र सलग्नम्'॥

मन की विशिष्ट रुचि के अनुकूल प्रत्येक मनुष्य के मन मे कुछ खास किस्म की भावनाएँ रहती है, जिन्हे काव्य की भाषा मे **स्थायी भाव**[2] कहते है। जब इन

---

१ आधुनिक मानसशास्त्रियों ने भी प्राय इसी प्रकार के मानस भावों को मानसरोग की पृष्ठभूमि माना है—

Pleasure, happiness, joy, delight, elation, rapture, displeasure, discontent. grief, sadness, sorrow, dejection, mirth, amusement, hilarity, excitement, agilalion, calm, contentment, apathy, weariness, ennui, expectency, eagerness, hope, assurance, courage, terror, harror, doubt, shyness, embarassment, anxiety, worry, dread, fear, fright, surprise, amazement, wonder, rilief, disappointment, desire, appetite, longing, yearning, love, aversion, disgust, loathing, hate, anger, resentment, indignation, sullenness, rage, fury —Wood Worth Psychology

२. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भय तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ता शमोऽपि च॥
—साहित्यदर्पण ३।१८४।

भावो के उद्दीपक कारण उपस्थित होते है, तब वे जागृत हो जाते हैं। जैसे--उन-उन स्थायी भावो मे उन-उन रसो[1] की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार मन की उन-उन भावनाओ के उद्दीपक कारणो की उपस्थिति मे भावना के अनुकूल मानस रोगो की उत्पत्ति होती है। जिस तरह 'रति' (मनोऽनुकूल विषय मे मन मे आसक्ति या अनुराग) की भावना जब मन के सागर मे तरगायित होती है, उसकी हिलोरे जब मन का मन्थन करती है, तब 'शृङ्गार' रस का उद्भव होता है। उसी प्रकार मन मे जिस कोटि की भावनाएँ उठेगी, उस तरह की मनोविकृतियो को उत्पन्न कर मानस रोगो को उत्पन्न करेंगी। एवञ्च मानस रोगो को उत्पन्न करने मे भावनाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१३) **व्यक्तित्व की विकृतियाँ या स्वभावगत मन की अवस्थाएँ** (Personality disorders)—मानमिक रोगी के लक्षण जब प्रकट होने लगते है, तब चिकित्सक के लिए यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है, कि रुग्ण के प्रकट लक्षण तात्कालिक मानसिक तनाव (Stress) के कारण है या रोगी के पूर्व के विकृत व्यक्तित्व के कारण। इसलिए मानस रोगो के कारणो के सम्यक् ज्ञानार्थ रोगी के पूर्वकालिक व्यक्तित्व की जानकारी तथा उससे पडने वाले प्रभाव का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। जैसे--

१ साइकोमीथिक पर्सनालिटी (Cychomythic personality)—इस प्रकार का पुरुष अस्थिरचित्त, शिरोभ्रम युक्त एव प्रसन्नता से लेकर गम्भीर विषाद तक की मनोदशा में चक्कर काटता रहता है। यह आनुवशिक होता है।

२ हाइपोमेनिक (Hypomenic)—यह व्यक्ति प्रथम मद के लक्षणो वाला, अल्प उन्मादी, प्रसन्न, आशावादी, विश्वासी एव सरल स्वभाव का होता है।

३ मेलाकोलिक पर्सनालिटी (Melancholic personality)—यह विषाद-युक्त, निराशावादी, उद्विग्न, एकान्त-प्रेमी, आलसी और मित्रो के लिए भारभूत होता है। इससे अल्पशक्ति का उन्माद होता है।

४ सिजायड पर्सनालिटी (Schizoid personality)—यह खण्डित व्यक्तित्व वाला, समाज से पृथक् एकान्तप्रिय, भावुक और शान्तचित्त होता है। उसे ऐसा कार्य पसन्द होता है, जहाँ दूसरो से सम्बन्ध न हो। यह व्यक्तित्व पैतृक और वशानुगत होता है।

५ प्रेतबाधा युक्त या भ्रमिन व्यक्तित्व (Obsessional personality)—यह व्यक्ति देवोन्मादी जैसा अत्यन्त स्वच्छतापसन्द, व्यवस्थाप्रिय, रीति-रहन-महन-माननेवाला, समय का पाबन्द, अनुशासनप्रिय, न्यायप्रिय, शुद्धचित्त, हठी और किन्ही विषयो मे प्रवीण (Perfectionist) होता है। यह दबाव डालनेवाला और भ्रमपूर्ण उन्माद से ग्रस्त होनेवाला सभावित होता है।

---

१ शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर भयानका। बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसा· शान्तस्तथा मतः॥
—साहित्यदर्पण ३ १८८ '

६ पैरानॉयड पर्सनालिटी (Paranoid personality)—यह सन्देहग्रस्त, अन्यायी और उपद्रवी होता है। किसी पर विश्वास नहीं करता और अपने दुर्भाग्य के लिए दूसरों को दोषी ठहराता है। यह अपनी बर्बादी और असफलता से पीडित होता है। यह दबी हुई घमूता को उभाडता है।

७ हिस्टेरिकल पर्सनालिटी (Hysterical personality)—यह व्यक्ति अपरिपक्व मन-मस्तिष्कवाला, चचल, आत्मकेन्द्रित, असहिष्णु, उत्तेजना या मूर्च्छा से ग्रस्त होनेवाला और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर आकर्षण का केन्द्र बनना चाहनेवाला होता है। ऐसे व्यक्ति अच्छे नाटककार या अभिनेता बन सकते है।

८ साइकोपैथिक पर्सनालिटी (Psychopathic personality)—यह व्यक्ति अपरिपक्व बुद्धि और अस्थिरचित्त होता है। अपनी मर्जी के आलम मे रहता है। समाज से अलग रहता है। चोरी करना, झूठ बोलना और अपराधकर्म करना उसकी आदत होती है। वह समाज से बहिष्कृत होता है और सभी तरह के मान्य आचरण का तिरस्कार करता है। इसका कारण उसके घर-परिवार का घुटनभरा दूषित वातावरण होता है।

९ पैसिव एग्रेसिव पर्सनालिटी (Passive aggressive personality)—यह या तो सहनशील होता है, या अकर्मण्य होता है अथवा उत्तेजित होने पर प्रथम आक्रमण करनेवाला होता है। यह पराश्रयी होता है।

१० एग्रेसिव पर्सनालिटी (Aggressive personatity)—यह आक्रामक व्यक्तित्व का होता है। क्रोधी, काम को बिगाडनेवाला, बर्बादी लानेवाला और अपने को नेता के पद पर स्थापित करनेवाला, विरोधी स्वभाव का तथा प्रत्यक्ष रूप मे आक्रान्त होता है। रोकने पर और अधिक उत्तेजित होनेवाला होता है।

११ इनएडीक्वेट पर्सनालिटी (Inadequate personality)—यह दूसरो पर निर्भर रहनेवाला, इधर-उधर घूमनेवाला और अपने भरोसे न रहनेवाला, भीरु, अकर्मण्य, दुखी और चिन्ता बढानेवाला होता है।

(१४) **आनुवंशिकता** (Heredity)—मानव की उत्पत्ति के आदिकारण शुक्रकीट (Spermatozoa) तथा स्त्रीबीज (Ova) की दृष्टि से उत्पन्न रोगो को 'आनुवंशिक' (Hereditary) रोग कहते हैं। स्त्रीबीज और पुरुषबीज मे जो 'पित्र्य-सूत्र' (Chromosomes) होते है, उन पर सूक्ष्मतम कण चिपके होते है, जिन्हे 'जेन' (Gene) कहते हैं। इन जेनो द्वारा माता-पिता के गुण-कर्म, आकृति, प्रकृति, शील, सत्त्व आदि का सन्तान मे स्थानान्तरण होता है। इस प्रक्रिया को ही आनुवंशिकता (Heridity) या वंशानुक्रम (Genealogy) कहते है। **गर्भाधान के समय माता-पिता के गुण-अवगुण सन्तति मे सक्रमित हो जाते हैं।**

अनेक शारीरिक और मानसिक रोग वश-परम्परा से उत्पन्न होते ह। जैसे—राजयक्ष्मा, अपस्मार, पक्षाघात (लकवा), कुष्ठ, उन्माद, मधुमेह, श्वित्र, अर्श, मधुमेह आदि कुलज रोग है।

(१५) **वातावरण** (Atmosphere)—बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक रुग्ण व्यक्ति का भरण-पोषण किस प्रकार का हुआ है। उसका पारिवारिक परिवेश यदि विकृत मन-मस्तिष्क का, कुत्सित आचरण का, नशेबाज, जुआडी और दरिद्र स्वभाव का होगा, तो हीनसत्ववाला व्यक्ति मानस रोग से आसानी से ग्रस्त हो जायेगा। पास-पडोस और निकट के सम्बन्धियो से इसकी पूरी जानकारी करनी चाहिए।

(१६) **कार्य-व्यवसाय**—रुचि के अनुकूल कार्य न हो और जबर्दस्ती, जोर-जुल्म का माहौल हो अथवा व्यवसाय मे असफलता हो तो मानसिक तनाव पैदा होकर मानस रोग हो जाता है।

(१७) **प्रेम में असफलता** (Broken romance)—यह स्थिति भी मानस विकार की पृष्ठभूमि है।

(१८) **अत्यधिक सवेदनशीलता** (Excessive sensitiveness)—अतिचिन्ता, अति उत्साह और सामान्य बात को भी गम्भीरता से लेना तथा सदा गिरे मन से निराश मुद्रा मे रहना मानस रोग का कारण होता है।

(१९) **शरीर-क्रियात्मक तनाव**—अत्यधिक परिश्रम, अनिद्रा, शरीर-भार का ह्रास आदि कारण मन को रुग्ण करते है।

(२०) **शल्यकर्म और प्रसव** (Surgical operations and child-birth)—जब व्यक्ति दुर्बल मन का होता है, तो उसके मन पर ऑपरेशन का नाम सुनकर एव प्रसव का समय उपस्थित होने पर मूर्च्छा या उन्माद जैसी दशा उत्पन्न हो जाती है।

(२१) **अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ** (Endocrine glands)—नलिका विहीन ग्रन्थियो मे अन्त स्राव (Hormone) का निर्माण होकर सीधे रक्तसवहन से मिल जाता है। इन अन्त स्रावी ग्रन्थियो का शारीरिक और मानसिक विकास मे बहुत योगदान रहता है। अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ—

१ **पीयूष-ग्रन्थि** (Pituitary gland)—यह मस्तिष्क मे स्थित होती है। इसका स्राव 'पिट्युट्रिन' कहलाता है। इसके अधिक स्राव से राक्षस जैसा बडा कद हो जाता है और कम स्राव होने से 'बौनापन' हो जाता है तथा कदाचित् बुद्धि का समुचित विकास नही होता।

२ **चुल्लिका-ग्रन्थि**—(Thyroid gland)—इसका स्राव 'थायरोक्सिन' (Thyroxin) कहलाता है। इस स्राव की कमी से विकास रुक जाता है। शरीर नाटा, निर्बल और बुद्धि मन्द हो जाती है।

३. **उपचुल्लिका** (Parathyroid)—ये ग्रन्थियाँ चार होती है और चुल्लिका-ग्रन्थि के पीछे रहती है। इनके द्वारा शरीर मे कैल्शियम का धातुपाक नियन्त्रित रहता है। इनके नष्ट होने या निकाल देने पर टिटैनी (Titany) रोग हो जाता है, जिसमे मुँह से झाग आना, शरीर मे वेदना और पैर मे ऐंठन, नाडी-सम्थान मे उत्तेजना आदि गम्भीर लक्षण होते है।

४ **अधिवृक्क** (Adrenal)—प्रत्येक वृक्क के ऊपर एक अधिवृक्क होता है। अधिवृक्क के दो भाग होते है—वल्क (Cortex) और मध्य (Medula)। अधिवृक्क-वल्क से जो अन्त स्राव स्रवित होता है, उसे 'कोर्टिन' (Cortin) कहते है। इस स्राव की कमी से व्यक्ति मे थकान, अनिद्रा और चिडचिडापन होता है।

अधिवृक्क-मध्य के अन्त स्राव को एड्रीनलीन कहते है। इसका अधिक स्राव होने पर व्यक्ति मे तनाव, चिडचिडापन, थकान और सवेगात्मक अस्थिरता के लक्षण होते है।

इसी प्रकार—५ पिनियल बॉडी, ६ थायमस, ७ जनन-ग्रन्थियाँ और ८ अग्न्याशय के रस भी शरीर और मन को प्रभावित करते है।

अग्न्याशय (Pancreas)—यह ग्रन्थि आमाशय के नीचे रहती है। इस ग्रन्थि मे स्थित 'लैंगर हैन्स के द्वीप' नामक कोष-समूह द्वारा 'इन्सुलीन' नामक अन्त स्राव उत्पन्न होता है। यह स्राव कार्बोहाइड्रेट के पाचन से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की शर्कराओ के दहन अथवा सचय के लिए आवश्यक है। इसकी कमी से शर्करा का यथोचित उपयोग न होने से रक्त मे उसकी मात्रा बढ जाती है, तब मधुमेह रोग हो जाता है। परासावेदनिक (Parasympathetic) नाडी-सस्थान के सक्रिय रहने पर इन्सुलीन की क्रिया होती है। मानसिक सघर्षो के कारण परासावेदनिक नाडी-सस्थान उत्तेजित होता है, जिससे इन्सुलीन की क्रिया ठीक से नही हो पाती, परिणामस्वरूप मधुमेह की उत्पत्ति इस युग मे अधिक पायी जाती हे।

(२२) **नाड़ी-सस्थान** (Nervous system)—इसके तीन भाग होते है—१ परिसरीय, २ केन्द्रीय और ३ स्वतन्त्र।

१ **परिसरीय** के सज्ञावह (Sensory) नाडियो से सज्ञासवेदनाएँ केन्द्रीय नाडी-सस्थान तक पहुँच जाती हैं और वहाँ से निर्दिष्ट चेष्टासवेदनाएँ सम्बद्ध अगो तक पहुँचती है।

२ केन्द्रीय नाडी-सस्थान के मस्तिष्क और सुषुम्ना दो भाग होते है, जो मिलकर कार्य करते है।

३ स्वतन्त्र नाडी-सस्थान के सावेदनिक और परासावेदनिक, ये दो भाग होते है। मनोभावो का सम्बन्ध ललाट-पिण्ड से होता हे, जो बुद्धि, धृति, मनन, चिन्तन और निर्णय आदि भावो का केन्द्र है और जिसके आघात या विकृत होने से बुद्धि और विवेक की क्षमता का नाश हो जाता हे। मस्तिष्क के मध्य मे स्थित उपाज्ञा-कन्द नाडी कोषो का समूह है। इससे सवेगो का सचालन और नियन्त्रण होता हे। इस पर आघात होने से सवेग सम्बन्धी विकार होते है।

(२३) **सामाजिक और सास्कृतिक आचार और शील आदि**—समाज मे अपनी जाति-बिरादरी के रस्म-रिवाज के अनुसार लडका पैदा होने से लेकर आदमी के मरने तक श्राद्ध आदि कर्मकाण्ड करने, खिलाने-पिलाने, लेने-देने मे होने वाली आर्थिक तगी मनुष्य के मन-मस्तिष्क को दु ख के आवेग मे उद्विग्न कर देती है,

जसके परिणामस्वरूप पागलपन, शोक, चिन्ता, अनिद्रा और प्राणत्याग की भावना त्पन्न होती है।

इसी प्रकार कन्या के विवाह की समस्या, इस युग की एक बहुत बडी बोझिल ानसिक बीमारी का सूत्रपात कर रही है। समाज मे स्त्री जाति को अब भी द्वतीय श्रेणी की नागरिकता प्राप्त है। आये दिन उन्हे विवश होकर मृत्यु का वरण रना पड रहा है।

लोग पारिवारिक जिम्मेदारियो, मँहगी की प्रतारणा से त्रस्त और भारभूत है। जबूरन बँटवारे करने पडते है, फिर शुरु हो जाता है अपनापन और परायापन का न्द्व, जिससे जूझने मे नाना प्रकार की मनोविकृतियाँ मन को मथ देती है। एवञ्च सफल प्रेम और अर्थाभाव आदि के आघात मन को विकृत कर देते है।

सस्कृति की मान्यताओ के निर्वाह मे बहुत प्रकार के धार्मिक और आर्थिक न्धन, जातीय बन्धन, समाज के परिवेश के अनुसार आचरण करने का बन्धन, ान-पान, रहन-सहन, बात-व्यवहार, दान-पुण्य, आत्म-सम्मान की रक्षा की भावना ादि के साथ निपटने मे व्यक्ति को जो कष्ट उठाना पडता है, उससे उसका मन ीतर से खण्डित हो जाता है, फिर भी वह अपने को सम्पन्न और प्रतिष्ठित दखलाने की धारणा से दबा रहता है। जब पानी शिर के ऊपर से बहने लगता है ौर जमीन-जायदाद सब बिक चुका होता है, तो कर्ज और उधार भी बन्द हो ाने से चिन्ता और उद्वेग के बढ जाने के कारण मानस रोगो के होने की सभावना ढ जाती है।

(२४) व्यक्तिगत कारण; जैसे—

१ **आयु**—स्त्रियो मे युवावस्था मे विवाह न होना, पति का अस्नेह या नपुसक ोना, परिवार की कलह, गर्भावस्था, प्रसवकाल और मासिकधर्म बन्द होने की ायु मे मानसिक रोगो (हिस्टीरिया आदि) के होने की सभावना होती हे। ुरुषो मे प्राय ३० से ४० वर्ष की आयु मनोविकार का क्षेत्र हे।

२ **शिक्षा**—ऊँची शिक्षा ग्रहण करने के बावजूद जब व्यक्ति का मूल्य नही ागता, उसे सम्मान और योग्यतानुसार पारिश्रमिक नही मिलता, पद नही मिलता, ो उसका मन ग्लानि से भर जाता है और व्यक्ति उन्माद आदि रोगो से आक्रान्त ो जाता है।

३ **श्रम की अधिकता**—शक्ति से अधिक कार्य करने से जो श्रमजन्य ह्रास तथा कान का अनुभव होता है, उससे मानसिक बेचैनी, अस्थिरता, विषाद, क्लेश और नाव होने से मनोविकार होते है।

४ **आघात**—जब शिर मे किसी प्रकार की चोट लगती है, तो मस्तिष्क की ारचना के विकृत हो जाने से मानस रोग हो सकते है अथवा जब किन्ही इच्छाओ ी पूर्ति न होने या अनिच्छित परिस्थिति के आ पडने से हृदय पर आघात होता है, दल पर चोट लगती है—कारण चाहे प्रेम की असफलता हो अथवा आर्थिक या

सामाजिक गिरावट हो -तव मन मवेगो से भर जाता है और मानस रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(२५) **शारीरिक रोग**—मानसिक रोगो को उत्पन्न करने मे शारीरिक रोग या विकृतियाँ भी कारण होती है। जैसे—मस्तिष्क एव मेरुदण्ड (Brain and spinal cord) के ऊपर के आवरण के शोथ (Meningitis) होने से अनेक प्रकार के मानस रोग यथा—सज्ञाहीनता-प्रलाप आदि उत्पन्न होते है। सन्निपात ज्वर मे—भ्रम, प्रलाप, मूर्च्छा, तन्द्रा, मोह आदि, हृद्रोग मे—दैन्य, भय, क्लम आदि, पैत्तिक शोथ मे मद, कृमिरोग मे—मूर्च्छा-अनिद्रा, अम्लपित्त मे—मूर्च्छा। मूत्रकृच्छ्र मे—मूर्च्छा, प्रमेह मे—अनिद्रा तथा वातव्याधि मे—नि सज्ञता आदि।

मानसिक रोगी का इतिवृत्त-लेखन

१ रोगी-परीक्षण के क्रम मे रुग्ण के वर्तमान और दीर्घ अतीत का इतिहास लेना अत्यन्त उपयोगी है, क्योकि इतिहास से उसके रोग के मूल कारण और तनाव का तथ्य अवगत होता है।

२ चिकित्सक को चाहिए कि वह अत्यन्त तत्परता और सावधानी से रोगी को अपने विश्वास मे लेकर उमसे आत्मीयता स्थापित कर उसके अन्त करण की बात जाने।

३. क्रमिक रूप से प्रश्न करने का अभ्यास करना चाहिए। यह कला रुग्ण के साथ मधुर और विश्वस्त भूमिका बनाती है।

४ रोगी के पूर्णत निदान के लिए उसके साथ मनोवैज्ञानिक एव तर्कसगत मानवीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

५ रोगी के साथ मैत्री, घनिष्ठता, विश्वसनीयता और अपनापन दिखलाकर उसे अभिप्रेरित करना चाहिए, जिमसे वह अपना सारा रहस्य खोल दे, कि उसकी बीमारी का राज क्या है?

६ चिकित्सक को अपने अति मृदुल, सुरुचिपूर्ण, पवित्र, कल्याणकारी और मनोहर व्यवहार से रोगी के मन को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए, जिससे रुग्ण का क्रोध, तनाव, उत्तेजना और आक्रामक स्वरूप बदलकर सौम्य एव सरल बन जाय।[1]

७ चिकित्सक अपने व्यवहार से रुग्ण के मन मे ऐसी धारणा उत्पन्न करे जिमसे कि रोगी उसे अपना हितैषी, शुभचिन्तक और प्राणरक्षक एव देवतुल्य ममझे।

८ निदान करते समय रोगी और चिकित्सक दो ही रहे, माथ मे अन्य कोई व्यक्ति न हो। इममे एकान्त होना अत्यन्त अपेक्षित है।[2]

---

1 Examiner must inspire confidence in the patient, put him at his ease and make him feel that there is a friendly expert who genuinely interested in his welfare

—Clinical Diagnosis, page 421–422 edition 1977

2. Absolute privacy is very essential —Ibid

९ परीक्षण काल मे चिकित्सक के लिए फुरसत, धैर्य, रुचि और तत्परता एव एकाग्र मन होना नितान्त आवश्यक है।[1]

१०. परीक्षण के तत्काल बाद या साथ-साथ रुग्ण का इतिवृत्त अभिलिखित कर लेना चाहिए। इतिवृत्त-लेखन की कला मे दक्षता अर्जित कर रोगी का पूरा-पूरा ब्योरेवार विवरण लिखना चाहिए।

जैसे—

११ **मुख्य व्यथा** (Chief complaints or problems)—रोगी या उसके सहयोगी को स्वच्छन्दतापूर्वक अपने रोग की शुरुआत, उसकी अवधि और उसके बढने के क्रम को बतलाने के लिए प्रेरित करना चाहिए और उसे लेखबद्ध करना चाहिए। रोग से सम्बद्ध अन्य आवश्यक बाते रोगी से पूछ लेनी चाहिए।

१२ **रोगी का अतीतकाल मे स्वास्थ्य और रोग**—शिर मे चोट लगना, मेनिन्जाइटिस (Meningitis), इन्सेफेलाइटिस (Encephalitis), सिफिलिस (Syphilis) या अन्य मनोदैहिक रोगो के होने या न होने के बारे मे जानकारी कर ले।

१३ **पारिवारिक इतिवृत्त**—आर्थिक, शैक्षिक, सास्कृतिक और सामाजिक स्तर, परिवार को सदस्य-सख्या और उनका व्यक्तित्व तथा रोगी के साथ सम्बन्ध, उन्माद, अपस्मार, हिस्टीरिया या अन्य मानसिक रोग के रोगी परिवार मे है या रहे है। यह सब अकित करे।

१४ **व्यक्तिगत इतिवृत्त**—शिक्षा, व्यवसाय, रुचि, मानसिक सन्ताप, विषाद, चिन्ता, शोक, आर्थिक स्थिति, भाग-गाजा-अफीम-हिरोइन आदि की लत, पसन्द की सोहबत, सामाजिक भावना या एकान्त प्रेम, स्त्री के साथ सम्बन्ध, सभोग या अतिसम्भोग आदि तथा वर्तमान एव पूर्ववर्ती रोग के बारे मे विस्तृत जानकारी करे।

१५ **शैशव और बचपन**—जन्मकाल पूर्ण या अपूर्ण, प्रसव स्वाभाविक या अस्वाभाविक, बचपन मे शिर मे आघात लगना, आक्षेपक, कामला या इन्सेफेलाइटिस होना, सामान्य स्वास्थ्य, माता-पिता का सरक्षण, घर के लोगो के साथ और साथ खेलनेवालो से सम्बन्ध, दुग्धपान, माँ का दूध छोडना, अनुशासन, माता या पिता से अलगाव होना, आदि विषयो का अन्वेषण करके लिख ले।

१६ **पारिवारिक वातावरण**—क्या माँ-बाप, भाई-बहन, दादा-दादी तथा परिवार के सदस्यो का स्नेह मिला ? उसकी आर्थिक स्थिति और घर का व्यवसाय क्या है ? यह सब जाने।

१७ **स्कूल-कालेज**—विद्यालय भेजने के प्रति माँ-बाप का लगाव, विद्यालयीय

---

1 Patience, interest and attention on the part of the doctor, are necessary —Clinical Diagnosis, p 421-22, edition 1977

जीवन मे साथियो (लडके-लडकियो) तथा अध्यापको से सम्बन्ध, शिक्षणेतर सास्कृतिक कार्यों मे भाग लेने की प्रवृत्ति आदि का पता लगाये ।

१८ **व्यावसायिक और आर्थिक**—स्वकीय रुचि का अथवा थोपा हुआ व्यवसाय, कार्य मे रुचि और क्षमता तथा सन्तुष्टि, अपने से वरिष्ठ, कनिष्ठ और सहकर्मियो के साथ सम्बन्ध, पदोन्नति होती रही है या नही, कितनी वार नौकरी या व्यवसाय वदला, आय-व्यय, कर्ज और पिता का रुख या व्यवहार, इन सव वातो की सुनिश्चित जानकारी प्राप्त करें ।

१९ **सामाजिकता और मनोरञ्जन**—क्या रुग्ण रोगी होने के पूर्व समाज से घुल-मिलकर रहने वाला, दोस्तो वाला, किसी विशेप कार्य मे रुचि रखने वाला, खेल-कूद, व्यायाम, मनोरञ्जन, सगीत, नाटक, नृत्य या राजनीति, धर्म-कार्य आदि मे सलग्न रहने वाला और शौकीन व्यक्ति रहा है ।

२० **वैवाहिक जीवन**—विवाह कव हुआ, वच्चे है अथवा नही, परस्पर प्रेम, विवाह के पूर्व की प्रेमिका या अन्य कोई प्रेम-प्रसङ्ग, सम्भोग की क्षमता, पूर्ण सन्तुष्टि या क्लीवता का अनुभव या मैथुन-सामर्थ्य का अभाव या उपेक्षा का भाव, परस्पर विश्वास, पति-पत्नी का दाम्पत्य-जीवन आदि जानना चाहिए ।

यदि स्त्री रोगिणी हो, तो विवाह युवावस्था मे हुआ या नही, कोई असफल प्रेम-विवाह के पूर्व या वाद, मासिकधर्म की स्थिति आदि जानें ।

२१ **पर्यावरण**—रोगी के परिवार के सदस्यो का, उसके सम्वन्धियो का और अडोस-पडोस का रोगी के साथ कैसा सम्वन्ध है ? उनकी आर्थिक स्थिति और रहन-सहन क्या है ? क्या रुग्ण अपने परिवेश से प्रभावित है, इत्यादि जानकारी करे ।

२२ **शारीरिक दशा**—आकृति, वातचीत, उठना-वैठना, चलना-फिरना, पाचन-प्रक्रिया, निवन्ध, निद्रानाश, मन सन्ताप, विपाद आदि की स्थिति को जानना चाहिए ।

२३ **क्षोभ**—यह जानना चाहिए, कि क्या रोगी का जीवन कठिन परिस्थितियो मे गुजर रहा है । सामान्य जीवनोपयोगी साधनो की उपलब्धता है कि नही ? मन को क्षुब्ध करने वाली कौन-सी समस्याएँ है ? यह सव जाने ।

२४ **विशिष्ट कारण**—रोगजनक कारणो मे कौन प्रमुख है, और वह किस कोटि का है—शारीरिक है या अन्त स्रावी ग्रन्थियो के विकार से सम्वद्ध है अथवा मानसिक है ?

उपर्युक्त विवरणो की जॉच-परख कर यह निष्कर्ष निकाले कि रोग का वास्तविक कारण क्या है और रोगी का व्यक्तित्व क्या है ?

मानसरोग-परीक्षा

यह परीक्षा रोगी के परीक्षण-कक्ष मे प्रवेश करने के साथ से ही शुरू हो जाती है और तव तक चलती है, जव तक मानसरोग-विशेपज्ञ रोगी का साक्षात्कार करके उसके रोग का पूरा इतिवृत्त लिपिवद्ध करता है । जैसे -

१ **आकार-प्रकार और व्यवहार**—रोगी किस ढग से चिकित्सक के कक्ष मे प्रवेश करता है। उसकी चाल, खडा होना, वातचीत और व्यवहार, चिकित्सक के प्रति व्यवहार और अपने रोग के विषय मे क्या सोचता है, सहयोग करता है अथवा प्रतिरोध करता है, उसकी वेशभूषा, उसके वाल, उसकी चाल-ढाल, उसकी स्वच्छता और उसके रहन-सहन का स्तर कैसा है? यह सब परीक्षणीय है। विशेषकर उसकी आन्तरिक स्थिति कैसी है? यह उसकी मुखाकृति देखकर समझना चाहिए, कि क्या वह उन्माद, विषाद या विखण्डित मनस्कता से ग्रस्त है?

२ **चेतनता**—रोगी की चेतना ठीक है या उसमे अपूर्णता है या वह किस हद तक कम है या नष्ट है? यह सब जाने।

३ **मुखाकृति और मन स्थिति**—रोग का प्रकार, उसका किस गहराई तक प्रवेश और उसका प्रभाव—यह सब रोगी की मुखाकृति से, मासपेशियो के तनाव से, शारीरिक गतिविधि से और रोगी की वातचीत से जाना जाता है। विखण्डित मनस्कता का रोगी इस बात के लिए पूर्ण सावधान रहता है कि उनकी वास्तविक मनोदशा परिलक्षित न हो।

४ **विचार-शक्ति**—रोगी के सोचने-विचारने के ढग का भी अध्ययन करना चाहिए। उसके निर्माण या उत्पादन, तरक्की एव योजना पर ध्यान दे। उसके बोलने मे शब्दो के उच्चारण पर जोर देने, विषय की अप्रासगिकता, असम्बद्धता, बोलने मे रुकावट, अचानक बात बदलना, नया विषय रखना, हठ करना और प्रतिध्वनि करने पर ध्यान देना चाहिए।

उसकी स्मरण-शक्ति, बुद्धि, चचलता, उन्मत्त-सदृश व्यवहार आदि का अध्ययन करना चाहिए। यह निश्चय करना चाहिए कि रोगी का भ्रम सदा बना रहने वाला है अथवा अस्थिर या परिस्थिति जन्य है।

५ **बोध** (Perceptions)—ज्ञान का व्यतिक्रम, भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान हो जाता है। यद्यपि रोगी स्वय अपनी परेशानियाँ व्यक्त करता है, फिर भी समझदारी से उसकी मनोदशा जानने का प्रयास करना चाहिए। रोगी के परिचारक या उसके सम्बन्धी जनो से वास्तविकता का पता करे।

६ **स्मृति**—क्या रोगी किसी घटना को ब्योरेवार बतला पाता है? क्या उसे याद है, कि अस्पताल मे वह कब दाखिल हुआ और इसके साथ कौन आया था? कोई विषय सुनाकर उसे दुहराने को कहा जाय। उससे देश का नाम, प्रदेश का नाम, पता आदि पूछा जाय। उसने कब और कहाँ अध्ययन किया या नौकरी की और कब से कब तक कहाँ रहा? —इत्यादि प्रश्नो के उत्तर या अनुत्तर से उसकी स्मृति का ज्ञान करे।

७ **पूर्वस्थिति** (Orientation)—समय, स्थान और उपस्थित व्यक्तियो के विषय मे पूछने से पूर्व स्थिति का पता चलेगा। सप्ताह के दिनो के नाम, तारीख, महीना, मित्रो और रिस्तेदारो की पहचान कराकर पूर्व स्थित को जाने।

८ प्रतिभा—रोगी से अपने रोग का क्रमिक इतिहास, उसकी समस्या, उसकी विद्यालयीय शिक्षा, वर्तमान राजनीतिक घटना आदि के बारे मे प्रश्न कर उसकी प्रतिभा जानी जा सकती है।

मानसरोग के सामान्य लक्षण

हीनमनोबल वाला रोगी भय, सत्रास और असहिष्णुता आदि विकारो से ग्रस्त हो जाता है। जैसे—

(१) **भय**—अन्धकार का भय, भीड का भय, शीत का भय, गर्मी का भय, कार्यभार का भय, रेल-यात्रा का भय, कुत्ते-बिल्ली का भय, भूत-प्रेत का भय आदि भीरु स्वभाव के व्यक्ति को घेर लेते है।

सत्रास या घुटन—भयातुरता (Nervousness) या फोबिया से ग्रस्त व्यक्ति को अकारण प्राण निकलने की स्थिति का आभास होने लगता है। वह चुल्लू भर पानी मे भी डूब जाने की आशङ्का करता है। कुत्ते के काटने से जब जलसत्रास होता है, तो वह व्यक्ति प्यास के मारे मरने की नौबत आने पर भी पानी को देखकर ही काँप जाता है। उसे ऐसी आशका होती है कि कही वह उस गिलास के पानी मे ही न डूब जाय।

असहिष्णुता—वर्तन गिरने, स्टोव जलने, बाजा बजाने और कोलाहल की ऊँची ध्वनि आदि के प्रति असहिष्णुता होती है।

(२) **मानस भाव**—ईर्ष्या (Jealousy), शोक (Grief), क्रोध (Anger), मान (Vanity), द्वेष (Hatred), काम (Desire), लोभ (Greed), मोह (Infatuation), मद (Arrogance), चिन्ता (Anxiety), उद्वेग (Remorse) आदि भाव उग्र हो जाते है।

(३) **मन क्षोभ**—रोगी का मन अव्यवस्थित होता है। उसके मन मे अनाप-शनाप जो भी बाते आती है, उसे अपनी अनियन्त्रित वाणी द्वारा प्रकट करता रहता है।

(४) **भाव-भगिमा**—अँगुलियो का नर्तन और विचित्र ढग से तोडता-घुमाना, मुखाकृति का विकृत होना, आँखो मे लाली या शून्यता, अस्फुट वाणी का प्रवाह और विकृत स्वर आदि मानसिक विकार की सूचना देते है।, अनवसर हँसना, नाचना, गीत गाना, अपने अगो पर बाजा बजाना, हाथ-पैर पटकना, शिर का नचाना आदि मनोविकार के लक्षण है।[१]

(५) **भाव-विभ्रश**[२]—मन के प्रमुख भावो का विभ्रश हो जाता है। जैसे—१ मनोविभ्रश, २ बुद्धिविभ्रश, ३ सज्ञाविभ्रश, ४ ज्ञानविभ्रश, ५ स्मृतिविभ्रश, ६ भक्तिविभ्रश, ७ शीलविभ्रश, ८ चेष्टाविभ्रश और ९ आचारविभ्रश आदि।

---

१ धीविभ्रम. सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्व हृदय च शून्य सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्॥ —च० चि० ९।६

२ उन्माद पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रम विद्यात्। —च० नि० ८।५

१ मन के जो विषय—चिन्त्य-विचार्य-ऊह्य आदि है, उनका विपरीत ढग से चिन्तन-विचार या तर्क करना। अचिन्त्य का चिन्तन, अविचार्य का विचार और गलत तर्क करना आदि मन का विभ्रश है।

२ बुद्धि का व्यापार है—सद्-असत् का विवेचन करना। इसके विभ्रश से रोगी अनित्य को नित्य, अहित को हित और हित को अहित समझता है।

३ सज्ञा (नाम का ज्ञान) का विभ्रश होने से वह अपना, माँ-बाप, भाई-बहन एव परिचितो का नाम भूल जाता है या गलत बतलाता है।

४ ज्ञान का विभ्रश होने से रोगी यह भूल जाता है, कि बिजली का नग्न तार छूना प्राणघातक है या आग जलाती है आदि।

५ स्मृति का नाश होने से रोगी को यह स्मरण नही रहता कि वह कब बीमार पडा था, कब अस्पताल आया, कितनी बार दवा खानी है, कब चिकित्सक को दिखाना है आदि।

६ भक्ति (इच्छा) का विभ्रश होने से रोगी की रुचि बदल जाती है, जैसे यदि वह पहले प्याज-मछली-माम खाता था और दूध-दही से नफरत करता था अब रुग्ण होने पर उसे मछली आदि से घृणा और दूध-दही से प्रेम हो जाता है।

७ शील (स्वभाव) का भ्रश होने से अतिवक्ता और घुमक्कड व्यक्ति चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठे रहना पसन्द करता है।

८ चेष्टा (गतिविधि-क्रियाकलाप) का विभ्रश होने से रोगी अगो को इधर-इधर-उधर फेंकता रहता है। मुख टेडा करना, विकृत रूप बनाना, आँख नचाना, हँसना-रोना आदि भाव प्रदर्शित करता है।

९ आचार के विभ्रश से उसकी पूर्व की दिनचर्या और रात्रिचर्या मे परिवर्तन आ जाता है। बहुत अधिक स्वच्छता, स्नान, पूजा-पाठ आदि करनेवाला, खाने-पीने मे सयम और सफाई रखनेवाला व्यक्ति नहाना-धोना, पूजापाठ आदि छोडकर उद्धत एव अशिष्ट व्यवहार, गाली-गलौज और मारपीट पर उतारू हो जाता है।

(६) व्यामोह—१ रोगी अपनी जिन्दगी से ऊब जाता है और इसे समाप्त करने का विचार करता है। उसे जीवन की निरर्थकता का व्यामोह (झूठा विश्वास या डिल्यूजन (Delusion) हो जाता है। २ रोगी को भ्रम हो जाता है कि मुझे कैन्सर हो गया है या मेरे उदर मे साँप पैदा हो गया है या मेरे शिर मे मेढक घुस गया है। इस प्रकार उसे प्राणसकट दिखलाई देने लगता है, जो अतिशय चिन्तन-जनित व्यामोह होता है। ३ किसी-किसी को आत्मश्लाघा का, अपने बडप्पन का, विद्या का, धन का, वक्ता या व्यास होने का, नेता या शासक होने का व्यामोह होता है। ४ अपराधी होने का व्यामोह होता है। रोगी के मन मे यह आशङ्का होती है कि लोग उसे मारने का षडयन्त्र रच रहे है, उसके सर्वनाश पर तुले हुए है। ऐसा उसे अपने किसी आपराधिक कार्य की स्मृति होने पर होता है।

(७) भ्रम (Illusion)—जैसे सीप को चाँदी समझना, शत्रु के ऊपरी दिखावटी प्रेम-व्यवहार को देखकर उसे मित्र समझना, रस्सी को साँप समझना भ्रम है। रोगी व्यक्ति को खाँसी होने पर टी० बी० का भ्रम हो जाता है।

(८) विभ्रम (Hallucination)—इसमे जो बात नही है वह भी सामने दिखलाई देती है, जैसे—उजली रात मे जब दूधिया चाँदनी की किरणे छिटकी हुई हो, तो कोई मुग्धा बालिका गाय के स्तन से दूध झरने की स्थिति को भाँपकर स्तन के नीचे दुग्धपात्र रख देती है। जब कि वह चन्द्रकिरणो का आवर्तन होता है, जिसे दुग्ध की धारा समझ लिया गया। अधेरे मे पेड के नीचे चलते समय यदि पत्ता भी खडखडाता है तो सामने भूत आता दिखलाई देता है, यह विभ्रम है। मानस रोगी स्वकल्पना-प्रसूत इन्द्रजाल की तरह अवास्तविक दृश्यो को देखता है।

(९) कृत्रिम मानस कष्ट—युवावस्था मे जब किसी नवयौवना के अग-अग मे कन्दर्प के तीखे शरो की चुभन असह्य हो जाती है, तो वह अपना सयम खोकर कभी रोना, कभी हँसना, कभी बेहोश हो जाना आदि को अपनी दिनचर्या बना लेती है। उसके गले मे अवरोध, उदर मे पीडा एव अगो मे व्यथा का अहसास होता है। वह परिवार के लोगो का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लज्जा-शील की सीमा तोडकर उद्धत आचरण करने लगती है। उसके मन के सवेगो के अनुसार उसका शरीर कदाचित् अनेकविध शारीरिक और मानसिक कष्टो का निकेतन बन जाता है, किन्तु ये लक्षण कृत्रिम और कल्पित होते हैं।

एकादश अध्याय

मानसरोगों के सामान्य चिकित्सासूत्र

सामान्य चिकित्सासूत्र

(१) सुझाव (Suggestion)—

इस प्रक्रिया मे रोगी और चिकित्सक के व्यक्तिगत सम्बन्ध, सुझाव देने की विधि, वातावरण, सुझावदाता के प्रति रोगी का विश्वास और श्रद्धा का विशेष महत्त्व होता है। रोगी के मन की गहराई तक उतर कर उसकी समस्या को शान्त-चित्त हो सुनकर उसकी समस्या के समाधान हो जाने का विश्वास तथा आश्वासन दिलाकर ही सुझाव देना उपयोगी होता है।

(२) सम्मोहन (Hypnosis)—

निद्रा आने के पूर्व जो तन्द्रा जैसी स्थिति होती है, रोगी को उस स्थिति मे लाना ही सम्मोहन है। इससे अनिद्रा, तनाव और मन के भय को दूर किया जाता है।

विधि—सम्मोहनकर्ता पहले रोगी को बतला देता है कि उसे क्या करना है। रोगी को एक आरामकुर्सी पर बैठा दिया जाता है और उसकी दृष्टि सामने रखी किसी चमकदार वस्तु पर स्थिर कराई जाती है और उससे गिनती गिनने को कहा जाता है एव बार-बार उसे सकेत दिया जाता है, कि अब तुम सो जाओगे। चिकित्सक अपनी प्रतिभा से किसी भी उपाय का अवलम्बन कर रोगी को सम्मोहित करता है। यह कार्य सामान्य मदकारक औषधो के प्रयोग से भी किया जा सकता है, जैसे—पिपरामूल चूर्ण १ ग्राम या सर्पगन्धा चूर्ण १ ग्राम या जातीफलादि चूर्ण अथवा भाग का चूर्ण १–२ ग्राम दूध के साथ दिया जा सकता है।

(३) प्रोत्साहन (Encouragement)—

चिकित्सक को चाहिए कि रोगी के जीवन की विशिष्ट घटनाओ को जानकर उनके निराकरण के उपाय बतलाकर यह प्रोत्साहन दे कि आप चिन्ता छोड दीजिए, आपके सकट का समाधान हो जायेगा। इस प्रकार रोगी के मन से चिन्ता, भय, उद्वेग और शोक को दूर करे।

(४) सामुदायिक मनश्चिकित्सा (Community psychotherapy)—

इस पद्धति की सफलता के लिए चिकित्सक का व्यक्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एक ही चिकित्सक एक ही समय मे अनेक रोगियो की चिकित्सा कर सकता है। इस पद्धति मे यह विशेष लाभ है।

रोगी जब समूह मे होता है और अपनी समस्याओ को अपने साथ के अन्य लोगो मे भी देखता है, तो आपस मे बातचीत करते रहने से और सोचने-विचारने

से उसका मन हलका हो जाता है। रोगी अपनी गुप्त बातें परस्पर करते रहते है, जिससे उनका तनाव कम होता है।

(५) पर्यावरण-परिवर्तन और विश्राम (Environmental change and rest)—

कदाचित् अवाञ्छनीय और असह्य सामाजिक वातावरण से हटकर और उत्तरदायित्व से मुक्त होकर किसी अन्य स्थान पर निवास करने और भारमुक्त होकर सुखपूर्वक विश्राम करने से मन शान्ति मिलती है। विश्राम करने से शरीर पूर्णतया शिथिल हो जाता है, जिससे तनाव मे कमी हो जाती है तथा अनिद्रा दूर होने से आराम मिलता है।

(६) मानसिक रेचन (Mental catharsis)—

इस पद्धति मे रुग्ण की चिन्ताओ, कष्टो और अन्तर्द्वन्द्वो के सम्बन्ध मे उससे बातचीत करके उनके निराकरण का वातावरण बनाया जाता है जिससे रोगी या तो उन्हे भूल जाय या उसकी चिन्ता आदि का समाधान निकल जाय। रोगी चिकित्सक के व्यवहार मे सहानुभूति, मैत्री, अपनापन और निकटता पाकर अपने दिल के दर्द को व्यक्त कर अपने मन के बोझ को हलका कर देता है। योग्य चिकित्सक अपने सद्भाव और प्रेमपूर्ण आचरण से रोगी के मनोबल को बढा देता है, जिससे रोगी अपनी कठिनाइयो का सामना करने का साहस जुटाकर परिस्थिति पर काबू पाकर वातावरण को अनुकूल बना लेता है और मन की दुश्चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है।

(७) मनोविश्लेषण (Free association psycho-analysis)—

इस पद्धति के प्रयोग मे चिकित्सक की कुशलता और अनुभव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमे रोगी को महत्त्व देकर, उसकी प्रशसा कर उसे बोलने के लिए, आत्माभिव्यक्ति और आत्म-निवेदन के लिए उकसाया जाता है। जिससे वह अपने विचार, अनुभव, कष्ट आदि स्वेच्छा से स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सके। रोगी के मुख से उसके मनोगत भावो का पता लगाया जाता है। इस प्रकार उसके कष्ट को बातचीत के द्वारा दूर किया जाता है और अपने कष्टो को दूर करने के लिए स्वय मे क्षमता लाने की प्रेरणा दी जाती है। इसमे रोगी को अपनी कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करने का मनोबल प्रदान किया जाता है। इस कार्य मे पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए जब तक कि बातचीत से परिणाम मे सफलता न दिखलाई पडे।

(८) आघात-चिकित्सा (Shock therapy)—

इसके ३ प्रकार है—१ सशोधित विद्युद् आघात (Modified electro-therapy) मे 'स्कोलीन' जैसे मासपेशियो को शिथिल करनेवाले द्रव्य को अन्त.-शिरामार्ग द्वारा देकर आक्षेप को परिवर्तित किया जाता है। इस विधि का प्रयोग तीव्र उन्माद, विषाद, विषजन्य मनोविकृति और विखण्डित मनस्कता (Schizophrenia) के कुछ प्रकारो मे किया जाता है। अन्य दो प्रकार—२ इन्स्युलीन आघात चिकित्सा और ३ मेट्रोजोल चिकित्सा है।

(९) मानस-शल्यचिकित्सा (Psycho-surgery therapy)—

इसमे शिर के दोनो ओर शखप्रदेश मे छोटा-सा छिद्र बनाकर चाकू द्वारा मस्तिष्क के ललाटपिण्ड (Frontal lobe) और आज्ञाकन्द (Thalamus) के मध्य के नाडी-सूत्र काट दिये जाते है। इसका प्रयोग विशेषकर विषाद (Melancholia) मे होता है।

(१०) रोगलक्षण व्याख्या (Explanation of symptoms)—

रोगी मे जो लक्षण दिखलाई पडे, चिकित्सक उन लक्षणो की व्याख्या करके रोगी को बडी कुशलता और धैर्य के साथ समझाता है जिसे सुनकर रोगी को बडा सन्तोष और आश्वासन मिलता है।

(११) उपदेश (Exhortation), सान्त्वना और आश्वासन—

रोगी के शुभचिन्तक एव अभिभावक या गुरु-जन उसे सात्त्विक आचार-विचार और व्यवहार करने के मार्ग का निर्देश देकर उत्तम आचरण की शिक्षा दें। रोगी को प्रसन्न, निश्चिन्त और नियमित रहने का उपदेश दें, जिससे वह स्वय अपने हिताहित का विचार कर मन स्थिति को ठीक रखे।

(१२) आहार (Diet)—

सात्त्विक आहार जो मधुर, स्निग्ध, रुचिकर, दुग्ध-घृत सयुक्त, सुगन्धित, मनोरम, उत्तम वर्ण युक्त और ऋतु के अनुकूल हो, उसे खाने को देना चाहिए। मानस रोगी को यदि उससे पूछ-पूछ कर उसकी रुचि के अनुसार तथा दुग्ध-घृत से परिपक्व भोजन दिया जाय तो ऐसा उत्तम आहार उसके लिए महौषध है, जो उसे आरोग्य प्रदान करता है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण

चिकित्सा के तीन प्रकार[1]—१ दैवव्यपाश्रय, २ युक्तिव्यपाश्रय, ३ सत्त्वावजय।

(१३) दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—

पूर्वजन्मकृत कर्मों से दैव या भाग्य का निर्माण होता है—

'दैवमात्मकृत विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्' (चरक० वि० ३।३०)। दैवकृत भी रोग होते है, जिनके प्रतिकार के लिए देवताओ और ग्रहो की पूजा तथा धर्माचरण का विधान बतलाया गया है। जैसे—१ इष्टदेव के मन्त्र का जप करना, २ ओषधि तथा मणियो को धारण करना, ३ शुभकारक मगल पूजा-पाठ करना, ४ देवताओ के लिए उनके प्रिय पदार्थ की बलि या उपहार के रूप मे समर्पण करना, ५ घृत-तिल-जौ-शर्करा तथा गरी आदि फलो की आहुति देकर हवन करके वाता-

---

१. त्रिविधमौषधमिति—दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रय—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना, सत्त्वावजयः—पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रह.। च० सू० ११।५४

चरण को शुद्ध करना, ६. नियमों यथा—शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान (पातञ्जल-योगसूत्र २।३२) का पालन करना, ७ प्रायश्चित्त (शरीर और मन की पवित्रता के लिए व्रत आदि) का पालन करना, ८ उपवास करना, ९ अपने तथा समाज के कल्याणार्थ शुभकामना के मन्त्रों का पाठ करना, १० देवता-गुरु-द्विज-गौ आदि पूज्यों के सामने साष्टाङ्ग प्रणाम और विनम्रता का व्यवहार करना एव ११ तीर्थाटन करना आदि कर्म दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा के अन्तर्गत आते है।

(१४) युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा—

यह चिकित्सा वातादि दोषज रोगो के प्रतिकार के लिए की जाती है, जिसमे मुख्यरूप से दोष-प्रकोप को दूर करने के लिए—१ आहार की योजना और २ औषध की योजना की जाती है।

युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा मे तीन प्रकार के कर्म समाविष्ट हैं[1]—(क) अन्त -परिमार्जन, (ख) बहि परिमार्जन और (ग) शस्त्रप्रणिधान (प्रयोग)।

(क) अन्त परिमार्जन उस औषध को कहते हैं, जो शरीर के भीतरी भाग मे प्रविष्ट होकर दूषित आहार-सेवन से उत्पन्न रोगो को नष्ट करती है। यह २ प्रकार की होता है—१. संशोधन और २ संशमन।

संशोधन मे वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन और नस्य का प्रयोग किया जाता है तथा सशमन मे दीपन, पाचन, अनुलोमन आदि कर्म करने वाले द्रव्यो का प्रयोग किया जाता है।

(ख) बहि परिमार्जन औषध उसे कहते है, जो शरीर की त्वचा का आश्रय कर रोगो को दूर करती है, जैसे—अभ्यङ्ग, स्वेद, प्रदेह, परिसेक और मर्दन आदि।

(ग) शस्त्रप्रणिधान[2]—उसे कहते हैं जो छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, लेखन, पाटन, प्रच्छन, सीवन, एषण आदि कर्म शस्त्र से किये जाते है। इसमे ही क्षार लगाना, अग्नि से दग्ध करना एव जोंक लगाना आदि कर्म भी समाविष्ट हैं।

इन तीनो प्रकार की चिकित्सा-विधियो का आवश्यकतानुसार मानस रोगो मे भी प्रयोग होता है।

---

१ शारीरदोषप्रकोपे तु शरीरमेवाश्रित्यप्रायस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं, बहि -परिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानञ्चेति। —च० सू० ११।५५

२ मानसरोगों मे भी शस्त्र-प्रयोग का विधान वर्णित है। जैसे—

(क) उरोऽपाङ्गललाटस्थामुन्मादेऽपस्मृतौ पुन ।
हनुसन्धौ समुद्भूता सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥ —अ० हृ० सू० २०।१२

(ख) हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे। —सु० शा० ८।१७

(ग) शङ्खकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम्।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ —च० चि० ९।८४

(घ) नस्य सिराव्यधो दान त्रासन बन्धन भयम्। —भै० र०, अप० चि०

(ङ) स्नेहादिभि क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशु व्याधय शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात् ॥ —सु० शा० ८।२२

(१६) सत्त्वावजय-चिकित्सा—

यह वह चिकित्सा-प्रक्रिया है, जिसमे रोगी के मन को अहितकर विषयो (शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध एव मान-मोह-दम्भ-ईर्ष्या-द्वेष आदि) मे जाने से रोका जाता है। यथा—

१ मनोनिग्रह के उपायो मे धैर्य-स्मृति-चित्त की एकाग्रता तथा ज्ञान-विज्ञान आदि का अवलम्ब किया जाता है।

२ **मनोनिग्रहण** के लिए योगदर्शन (`साधनपाद २।२९) मे वर्णित अष्टाङ्ग-योग (१ यम, २. नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार ६. धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि) का व्यावहारिक रूप से पालन करना चाहिए।

३. अपने अनुकूल धर्मार्थचिन्तक मित्र-मण्डली के साथ रहना चाहिए। ध्येय के अनुकूल कर्म करे। आहार-विहार का सम्यक्योग करना चाहिए। मगल आचरणशील, विद्या-वयोवृद्ध-आचार्यानुगामी, उत्साहवान्, क्षमावान्, मितभाषी, धर्मात्मा, प्राणिमात्रकरुणाकर, अतिथिपूजक, प्रात-साय स्नाता, दाता एव शान्ति-प्रिय बनना चाहिए।

४ सुखी जनो से मैत्री, दु खी जनो के प्रति करुणा, पुण्यात्मा पुरुषो के प्रति प्रसन्नता की भावना और पापियो के प्रति उपेक्षा की भावना करने से मन के राग-द्वेष-घृणा-ईर्ष्या-क्रोधादि विकार नष्ट होते हे और मन निर्मल एव प्रसन्न होता है।

५ शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा—ये छ मन को एकाग्र करते हैं। शरीर, वाणी और मन से—१ हिंसा, २ चोरी, ३ अगम्या-गमन, ४ चुगली, ५ कठोर वचन, ६. मिथ्या वचन और गाली-गलौज ७ दोमुँही बात, ८ हत्या करने का विचार, ९ परधन-अपहरण की लालसा तथा १० आप्तवाक्यो का उल्टा अर्थ लगाना —इन दस प्रकार के पापकर्मो का परित्याग करना चाहिए।

६ जीविका-विहीनो, रोगियो और शोक-सन्तप्तो की यथाशक्ति सहायता करे।

७ याचको को निराश न करे, न अपमान करे और न ही कोई आक्षेप करे।

८. अपकारकारक शत्रु के प्रति भी उपकार की भावना रखे।

९ समय पर अवसरोचित हितकर, सक्षिप्त और विवादरहित वचन बोले।

१० दूसरे के अभिप्राय को समझकर वह जैसे भी सन्तुष्ट हो, वैसा बर्ताव करे।

११ सभी धर्मो के प्रति समभाव रखे, मध्यम मार्ग का अनुसरण करे और कट्टरपन्थी न बने।

१२ दयालुता, दान, शरीर तथा मन पर नियन्त्रण और परकार्य साधन मे स्वकार्य जैसी धारणा रखना आदि सदाचारो के पालन से मन निर्मल रहता है।[१]

---

१ देखे—अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान अध्याय २। तथा—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त ।
दाता समः सत्यपर. क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोग· ॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्ध सत्त्व विधेय विशदा च बुद्धि· ।
ज्ञान तपस्तत्परता च योगे यस्याति त नानुनपन्ति रोगा. ॥ —च० शा० २.४६-४७

(१७) उपायाभिप्लुता-चिकित्सा—

उपायों द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसे उपायाभिप्लुता कहते है। यहाँ उपाय शब्द दो अर्थो मे प्रयुक्त है —

१ वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी —ये चिकित्सा के चतुष्पाद है। जब ये चारो अपने गुणो से सम्पन्न होकर अपने अपने कार्य को सम्पन्न करने मे सलग्न रहते है, तो उसे उपाय कहते हैं। उपाय का स्वरूप यह है, कि चारो चिकित्सापाद अपने गुणो से युक्त हो और देश, काल, प्रमाण, सात्म्य एव क्रिया आदि सफलताकारक कारणो से बनाई गयी औषधो का प्रयोग किया जाय।

२ औषध या भेषज को द्विविध बतलाया गया है— पहला **द्रव्यभूत** (जिसमे द्रव्यों का प्रयोग करके चिकित्सा की जाती है) और दूसरा **अद्रव्यभूत** (जिसमे द्रव्यो का प्रयोग नही किया जाता और अमूर्त भावो के प्रयोग से रोगी का उपचार किया जाता है)। एवञ्च जो अद्रव्यभूत चिकित्सा है, वह उपायाभिप्लुता है।

उपाय—१ भय दिखलाना, २ आश्चर्यचकित करना (विस्मापन), ३ जिस बात का स्मरण करने मे रोग का प्रकोप होता है, उस बात को रोगी के स्मृतिपटल से ओझल करना-भुलवाना (विस्मारण), ४ क्षोभण—रोगी के शरीर और मन मे हलचल उत्पन्न करना, ५ हर्षण—खुशी पैदा करना, ६. भर्त्सना —निन्दा करना और फटकारना, ७ वध—मारने की धमकी देना, ८ वन्ध—बांधना, ९ स्वप्न—शयन कराना, नीद लाना, १० सवाहन—पैर और अन्य अगो को मुलायम हाथो से दवाना आदि अमूर्त प्रयोग और चिकित्सा-कर्म को सफल बनानेवाले भृत्य आदि—ये सब उपाय के अङ्ग हैं।

उक्त उपायों के प्रयोग उन्मादादि मानस रोगो के सफल उपचार हैं।

(१८) मान्त्रिकी-चिकित्सा—इसमे प्रेतबाधा-निवारणार्थ मन्त्रपाठ करते है।

(१९) तान्त्रिकी-चिकित्सा—इसमे तन्त्रशास्त्र मे कथित विधि से सिद्ध की हुई अँगूठी-धारण एव होमादि किया जाता है।

(२०) ग्रहबाधा-चिकित्सा—इसमे रोग से सम्बद्ध ग्रह के अनुसार पूजा-बलि-उपहार आदि कर्म किये जाते हैं।

(२१) औषध चिकित्सा—बाह्य स्नान-अवगाहन-प्रलेप आदि[1] एव रोगी के शारीरिक एव मानसिक दोषप्रकोप के अनुसार सशोधन तथा उपशमन औषध का प्रयोग करना चाहिए।

---

१ सेकावगाहौ मणय सहारा. शीता प्रदेहा व्यजनानिलाश्च।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥ —सु० उ० ४६।१४

द्वादश अध्याय

उन्माद, अपस्मार, अतत्त्वाभिनिवेश-मनोविक्षिप्त-विषाद-अव्यवस्थितचित्तता-भ्रम-विभ्रम-संविभ्रम-व्यामोह-मनःश्रान्ति-मनोग्रन्थि-वृद्धावस्थाजन्य विकार

उन्माद

परिचय—यह एक मनोदैहिक रोग है, जिसमे मनोविभ्रम, बुद्धिविभ्रम, सञ्ज्ञाविभ्रम, ज्ञानविभ्रम, स्मृतिविभ्रम, भक्तिविभ्रम, शीलविभ्रम, चेष्टाविभ्रम और आचारविभ्रम—ये आठ विकृतियाँ मुख्य रूप से होती है (इनकी व्याख्या इसी अध्याय के 'मानसरोगो के सामान्य लक्षण' शीर्षक मे दी गयी है, वही देखे)।

निर्वचन—उत् उपसर्ग-पूर्वक मद धातु से घञ् प्रत्यय करने पर उन्माद शब्द बनता है। उद् का अर्थ ऊर्ध्व होता है, एवञ्च जब विकृत वातादि दोष उन्मार्गगामी होकर मस्तिष्क मे जाकर उसे विकृत कर 'मद' (पागलपन) उत्पन्न करने है, तब उसे उन्माद रोग कहते है। दोप के उन्मार्गगामी होने से तथा मद्य के समान प्रभाव होने से इस रोग को उन्माद कहा जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता-निदान० अ० ७।
२ ,, चिकित्सा० अ० ९।
३ सुश्रुतसहिता-उत्तर० अ० ६०।
४ ,, ,, ,, ६२।
५ अष्टाङ्गहृदय-उत्तर० अ० ७।
६ माधवनिदान।

सामान्य निदान[1]

आहार—विरुद्ध, दूषित, अपवित्र, विकृत, मलिन, आहार का आहार-विधि के विपरीत प्रकार से भोजन करना।

सदाचार त्याग—देवता, गुरुजन, अपने से श्रेष्ठ एव ब्राह्मणो का अपमान, उटपटाग तरीके से उठना-बैठना एव बात-व्यवहार करना।

---

१ (क) विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षण देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टा ॥ —च० नि० ९।४

(ख) चोरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथान्यैर्वित्रासितस्य धनबान्धवसङ्क्षयाद् वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोर्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः॥
—सु० उ० ६२।१०

(ग) च० नि० ७।४।

मानस भाव—भय, मानसिक कष्ट, मनोदोषवृद्धि, अतिहर्ष, मनोऽभिघात, चञ्चल मनस्कता, काम-क्रोध-लोभ-मोह-शोक-चिन्ता-उद्वेग आदि का आधिक्य।

शारीरिक—विषम (ऊँच-नीच, ऊबड़-खाबड़) ढंग से उठना, बैठना, चलना-घूमना या अङ्गो को तोड़ना-मरोड़ना।

आर्थिक तंगी—आमदनी से अधिक खर्च करना, चोरी या सजा होना।

पारिवारिक—स्त्री, माता-पिता, भाई-पट्टीदार और सगे-सम्बन्धियो का अनुचित दबाव और उत्पीड़न आदि।

सामान्य सम्प्राप्ति[1]

पहले कहे गये उन्मादजनक शारीरिक, मानसिक या आगन्तुक कारणो से प्रकुपित (वातादि एव रज-तम) दोष बुद्धि के निवासस्थान हृदय (मस्तिष्क) तथा मनोवाही स्रोतो मे जाकर मन को दूषित (मोह या भ्रान्तियुक्त) कर देते है, जिससे उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।

यह रोग अवरसत्त्व (हीन मनोबल) वाले व्यक्तियो को होता है और उनका मनोविभ्रंश (प्रमोह) हो जाता है।

सम्प्राप्ति-चक्र

विरुद्ध, दुष्ट, अपवित्र आहार
काम-क्रोध-हर्ष-शोक आदि
मनोभाव, हीन मनोबल
एव आगन्तुक कारण } —निदान—दोषप्रकोप—हृदय (मस्तिष्क) दूषण

↓

दोषो का मनोवह स्रोतस् गमन

↓

मनोविभ्रंश

↓

उन्माद रोग की उत्पत्ति ← — —प्रमोह
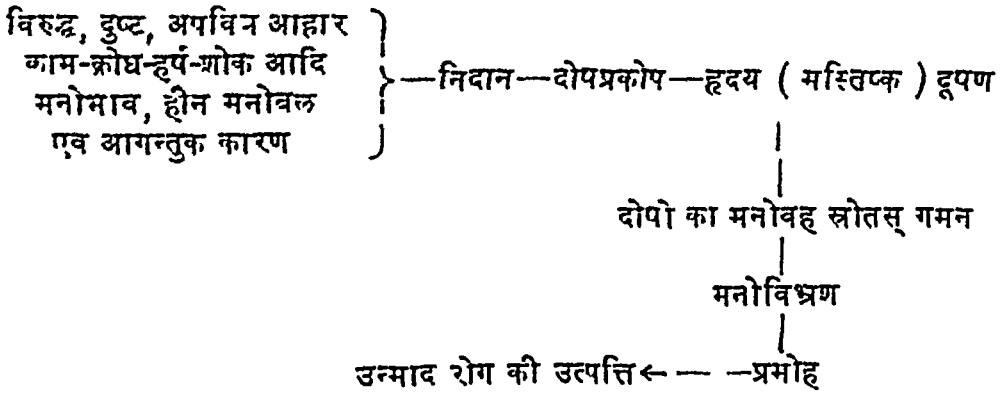
दोष-दूष्य-अधिष्ठान-स्रोतस्

१ **दोष**—(क) शारीरिक वातप्रधान दोष।
(ख) मानस रज और तम दोष।

२ **दूष्य**—मनस्।

३ **अधिष्ठान**—बुद्धि-निवास हृदय (मस्तिष्क)।

४ **स्रोतस्**—मनोवह स्रोतस्।

पूर्वरूप[2]

१ शिर का शून्य होना, आँखो मे व्याकुलता, कानो मे आवाज और उच्छ्वास का अधिक होना।

---

१ तैरल्पसत्त्वस्य मला प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ —च० चि० ९।५

२. च० चि० ९।६।

२ लार टपकना, खाने की अनिच्छा, अरुचि और भोजन का न पचना।

३ हृदय मे जकडन की अनुभूति, अकारण ध्यान, आयास (श्रम), मोह और घबडाहट।

४ रोमाञ्च, बार-बार ज्वर होना, मन उचटना, उदर्द रोग होना।

५ अर्दित रोग की तरह मुखाकृति बनाना।

६ स्वप्न मे चक्कर काटते चञ्चल, अस्थिर और निन्दित रूपो को देखना।

७ स्वप्न मे कोल्हू पर चढना, ववडर मे फँसना, गन्दे जल मे डूबना और आँखो का टेढा होना आदि दोपज उन्माद के पूर्वरूप हैं।

सामान्य लक्षण

१ बुद्धिविभ्रम, २ मनोविभ्रम, ३. दृष्टि-व्याकुलता, ४ अधीरता, ५. असम्बद्ध प्रलाप और ६ हृदय मे शून्यता की प्रतीति होना, ये उन्माद के सामान्य लक्षण है।

उन्माद के प्रकार[1]

---
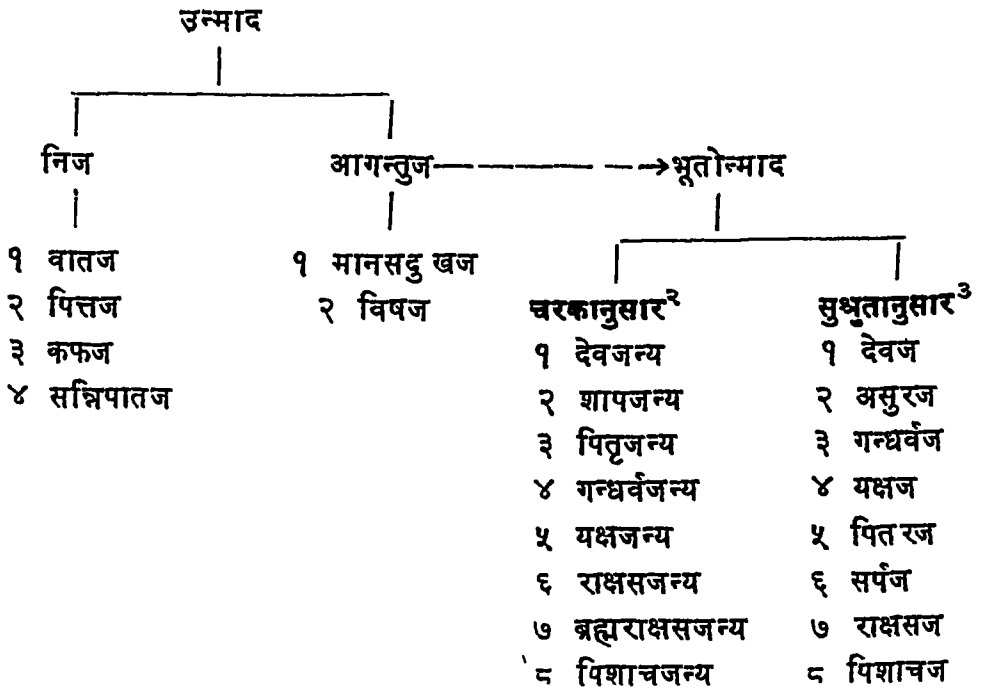
१ (क) ममुद्भ्रम बुद्धिमन स्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहु.।
तस्योद्भव पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सित च ॥ च० चि० ९।८

(ख) एकैकश मर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितै ।
मानमेन च दु खेन स च पञ्चविधो मत ॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्व तत्र भेषजम्। —सु० उ० ६२।४५

२ च० चि० ९।२०।

३ देवास्तथा शत्रुगणाश्च तेषा गन्धर्वयक्षा पितरो भुजङ्गा.।
रक्षामि या चापि पिशाचजाति, एषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्य ॥ —सु० उ० ६०।७

वातज उन्माद निदान

१ रूक्ष अन्नाहार का लगातार सेवन, २ कम मात्रा मे भोजन करना, ३ शीतल आहार, ४ विरेचन का अधिक प्रयोग, ५ धातुओं का क्षय, ६. उपवास, ७. चिन्ता-कामवासना-शोक-भय आदि ।

वातज उन्माद की सम्प्राप्ति

उक्त कारणो से प्रकुपित हुआ वायु चिन्ता आदि से आक्रान्त हृदय को दूषित कर बुद्धि तथा स्मृति को नष्ट कर उन्माद को उत्पन्न करता है ।

वातज उन्माद के लक्षण

१. अनवसर (विना किसी प्रसङ्ग के) हँसना, मुस्कराना, नाचना, गीत गाना ।

२ वे-मतलव अनाप-शनाप वकना, अङ्गो को नचाना, अकारण रोने लगना ।

३ शरीर का रूखा या कडा होना, दुवला-पतला और लालवर्ण का होना ।

४ भोजन के पच जाने पर पागलपन का दौरा तेज होना, लगातार घूमना ।

५. अचानक आँख-भौह-ओठ-कन्धा-हथेली अथवा पैरो को नचाना ।

६ अपने अङ्गो पर वीणा, वाँसुरी, शख आदि वजाने का नाटक करना ।

७ फटे-पुराने चिथडे, टाट, कागज के टुकडो से शरीर को सजाते रहना ।

८. जो भोजन उपलब्ध हो उसका तिरस्कार करना और जो आहार द्रव्य न उपलब्ध हो उसे खाने के लिए लालायित होना और द्वेष की भावना रखना, आँख फाडकर देखना आदि वातज उन्माद के लक्षण है ।

पित्तज उन्माद निदान

१ अजीर्ण होना, २ कटुरस और अम्लरस का अधिक सेवन, ३ विदाही (जलन पैदा करने वाले) पदार्थो का अधिक सेवन और ४ उष्ण पदार्थों का अधिक सेवन करना, ये पित्तज उन्माद के कारण है ।

पित्तज उन्माद की सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणो से सचित हुआ प्रकुपित पित्त वेगवान् होकर असयमी दुर्बल मनवाले व्यक्ति के हृदय को दूषित कर उन्मत्त बना देता है ।

पित्तज उन्माद लक्षण[1]

१ वहुत क्रोध करना, आडम्वर खडा करना, असहिष्णु होना, नगा हो जाना ।

२ लोगो को डराना-धमकाना और मारने-पीटने के लिए दौडा देना ।

३ तेज चाल से चलना या भागना, उष्णता की अधिकता से व्याकुल होना ।

४ शरीर का पीला पड जाना तथा शीतल जल, शीतल आहार और शीतल छाया चाहना, ये सव पित्तज उन्माद के लक्षण है ।

---

१ च० चि० ९।१२ ।

कफज उन्माद निदान

१ लगातार कफवर्धक आहार-विहार का सेवन तथा २ निष्क्रिय पडे रहना।

कफज उन्माद सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणो से प्रकुपित कफ पित्त से सयुक्त होकर हृदय को दूषित करके बुद्धिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम और मनोविभ्रम उत्पन करके उन्माद रोग को उत्पन्न करता है।

कफज उन्माद के लक्षण

१ कम बोलना, कम चलना-फिरना, कम उत्पात करना, अल्प चेष्टा करना।

२ अरुचि होना, मुख से लार टपकना, वमन का होते रहना।

३ स्त्री-सहवास और एकान्त पसन्द करना तथा नीद का अधिक आना।

४ नख-नेत्र-मूत्र एव शरीर का श्वेत वर्ण का होना और भोजन कर लेने पर उन्माद का बढना, ये कफज उन्माद के लक्षण है।

सन्निपातज उन्माद

यह तीनो दोषो को प्रकुपित करने वाले कारणो से उत्पन्न होता है तथा यह तीनो दोषो के मिश्रित लक्षणो से युक्त होता है और अति भयकर होता है। यह विरुद्ध चिकित्सा-योग्य होने से असाध्य है।

मानस[1] दुःखज उन्माद-निदान-सम्प्राप्ति-लक्षण

चोरो, राजपुरुषो (पुलिस आदि) शत्रुओ या अन्य हिंसक प्राणियो से डरे होने के कारण, धन-जन के नाश से अथवा स्त्री-सभोग की अत्युत्कट अभिलाषा के पूर्ण न होने से भयङ्कर मानस उन्माद उत्पन्न होता है।

मानस उन्माद से पीडित रोगी के मन मे जो भी गोप्य या अगोप्य बात स्थित होती है, उसे वह अज्ञान के वशीभूत (बदहवास) होकर बकता रहता है। इसी तरह कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी चेतनाशून्य हो जाता है।

विषज[2] उन्माद

धतूरा, भाँग आदि विष अथवा अति मद्यपान करने से विष के प्रभाव से जो उन्माद होता है, उसमे रोगी के नेत्र लाल सुर्ख होते है, बल (ओज या उत्साह), इन्द्रियो की शक्ति और शरीर की कान्ति क्षीण हो जाती है। वह मुरझाया-सा दीखता है। उसका मुखमण्डल म्लान एव श्याववर्णी (साँवला) होता है और वह कदाचित् बेहोश हो जाता है। शीघ्र चिकित्सा न होने पर मृत्यु का वरण कर लेता है।

---

१. सु० उ० ६२।१२-१३।

२ सु० उ० ६२।१४।

भूतोन्माद

भूतोन्माद निदान

१. देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस और पितृ ग्रहो का अपमान करना।

२. नियम, व्रत, पूजा, पाठ आदि अनुचित रूप से बिना विधान के करना।

३. पूर्वजन्म कृत पापकर्म और इस जन्म मे किया गया पापकर्म।

भूतोन्माद में देवादि का प्रवेश[1]

देव आदि ग्रह अपने अलौकिक गुण के प्रभाव से मनुष्य के शरीर को दूषित न करते हुए अदृश्य रूप से शरीर मे प्रवेश कर जाते है, जैसे शीशा मे छाया और सूर्यकान्तमणि मे सूर्य की किरणे प्रवेश कर जाती है।

देव, यक्ष आदि द्वारा उन्मादोत्पत्ति का प्रयोजन

उन्मादजनक देवादि' तीन प्रयोजनो से उन्माद उत्पन्न करते है—१ हिंसा (मारने के लिए), २ रति (मैथुन या प्रेम के लिए) और ३ अभ्यर्चना (पूजा कराने के लिए)।

हिंसा के प्रयोजन से कृत उन्माद के लक्षण

हिंसा के लिए उन्मत्त बनाया हुआ व्यक्ति—१ अग्नि मे प्रवेश करता है, २ जल मे डूबता है, ३ ऊपर से गड्ढे मे गिरता है, ४. अपने शरीर पर शस्त्र, कोडा, लकडी, ढेला और मुक्के से प्रहार करता है और इसी प्रकार के अन्य प्राणघातक कार्य करता है। इसे **असाध्य** जानना चाहिए। रति और पूजा के लिए पकडने वाले ग्रह **साध्य** होते हैं।

भूतोन्माद का पूर्वरूप

देवता, गो, ब्राह्मण एव तपस्वियो के मारने मे रुचि होना, क्रोध होना, दूसरे के अपकार मे मन लगना, बेचैनी, ओज-वर्ण-छाया-बल और शरीर का ह्रास होना, स्वप्न मे देव आदि के द्वारा धमकाया जाना और प्रेरणा देना—ये भूतोन्माद के पूर्वरूप है।

भूतोन्माद के सामान्य लक्षण[2]

मनुष्य की क्षमता से कही अधिक शरीर मे बल, वीर्य (शक्ति), पौरुष, पराक्रम (मनोबल) का होना तथा मानवोत्तर ग्रहण-धारण-स्मरण-शास्त्रज्ञान-वचन एव व्यावहारिक ज्ञान का होना, ये भूतोन्माद के लक्षण हैं। इसमे उन्माद काल अनिश्चित रहता है।

---

१ अदूषयन्त पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावै.।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ॥ —च० चि० ९।१८

२ अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यं।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम्॥ —च० चि० ९।१७

१. देवोन्माद लक्षण

१ सौम्य दृष्टि, २ गम्भीर, ३ अक्रोधी, ४ अल्प निद्रा, ५. अल्प भोजन, ६. अल्प स्वेद, ७ अल्प मूत्र, ८ अल्प पुरीष, ९ अल्प अपानवायु, १० अल्प वाक्, ११ सुगन्धवान्, १२ अपराजेय, १३ श्वेताम्बर, १४ शुभ्रमाल्य, १५ संस्कृत वचन, १६ प्रफुल्ल मुखकमल एवं १७ नदीतट-पर्वतप्रान्त और उच्च भवन मे रहना पसन्द करनेवाला होता है।

२. शापोन्माद लक्षण

गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि आदि के शाप अथवा मारण-मोहन-उच्चाटन के प्रयोग (अभिचार) या चिन्ता आदि से उत्पन्न उन्माद मे शाप, अभिचार कर्म या चिन्ता के अनुरूप रोगी का आहार-विहार, रहन-सहन और व्यवहार होता है।

३. पितृ उन्माद लक्षण

१ अप्रसन्न दृष्टि, २ निमीलित नयन, ३ निद्रालु, ४ अवरुद्ध वाक्, ५ अन्नाभिलाषरहित, ६ अरोचकी और ७. अपच से ग्रस्त रहता है।

४ गन्धर्वोन्माद लक्षण

१ प्रसन्नचित्त, २ सदाचारी, ३ प्रसन्ननयन, ४ गीत-नृत्यप्रिय, ५ मुखवाद्य-वादक, ६ स्नानप्रिय, ७ गन्ध-माल्यप्रिय, ८ रक्तवस्त्रधारी, ९ हास्यकथा-प्रेमी १० प्रश्नरुचि, ११ सुगन्धवान्, १२ जलमध्य-निवास तथा १३ वनप्रान्तनिवास का प्रेमी होता है।

५ यक्षोन्माद लक्षण

१ बार-बार सोना-रोना-हँसना-नाचना-गाना एव बाजा बजाना चाहता है।

२ स्तोत्रपाठ-कथा-स्नान-मालाधारण-इत्रलेपन आदि पसन्द करता हे।

३ भोजन का प्रेमी होता है, ब्राह्मण एव वैद्य की निन्दा करता है, अपना रहस्य बतलाता है।

४ आँखे लाल तथा सजल होती हे।

६. राक्षसोन्माद लक्षण

१ नष्टनिद्र, २ अन्नपानद्वेषी, ३ भोजन न करने पर भी बलवान्, ४ शस्त्राभिलाषी, ५ रक्त-मासप्रेमी, ६ लाल वस्त्र एव लाल माला का प्रेमी और ७ डराने वाला होता है।

७. ब्रह्मराक्षसोन्माद लक्षण

१ हँसी-मजाक करनेवाला, नर्तक, देव-ब्राह्मण एव वैद्य, द्वेषी तथा तिरस्कर्ता।

२. स्तोत्रपाठ, वेदमन्त्रपाठ और शास्त्रवचनो का पाठ करने वाला।

३ लकडी के डण्डे से अपने शरीर को पीटनेवाला होता है।

८. पिशाचोन्माद लक्षण

१. चञ्चल चित्त, अपने पसन्द का स्थान न पानेवाला, नाचने-गाने-हँसनेवाला।

२ असंबद्ध एवं कभी सबद्ध प्रलाप करनेवाला, फटे-कर्कश स्वरवाला, नगा दौडनेवाला।

३ गन्दे कूडा-कर्कट, गन्दी गली, मलिन वस्त्र एव लकडी या पत्थर की ढेर पर बैठनेवाला।

४. एक स्थान पर न रहनेवाला और अपने दु:खों को सबसे कहनेवाला।

५. स्मरण-शक्तिहीन होकर इधर-उधर दौड लगाता रहता है।

असाध्य उन्माद लक्षण[1]

१ जिस उन्माद के रोगी का मुखमण्डल हमेशा नीचे की ओर ही रहे अथवा सदैव ऊपर ही किया हुआ हो, ऐसी स्थिति मे यदि उनका बल तथा मास क्षीण हो गया हो, तो वह असाध्य होता है।

२ जिस उन्माद के रोगी को नीद बिल्कुल ही न आती हो, उसे असाध्य समझना चाहिए।

३. जो उन्मादी बडी-बडी आँखो से तरेरता रहता है, बहुत तेज चाल से चलता है, मुँह से निकली गाज को चाटता रहता है, जिसे नीद आती रहती है, जो चलते-चलते गिर पडता है और काँपता रहता है, वह असाध्य होता है।

४ उन्माद का जो रोगी पहाड से, हाथी से अथवा वृक्ष से गिरकर उन्माद से ग्रस्त हुआ हो, वह असाध्य होता है।

५ उन्माद का रोग लगातार तेरह वर्ष तक रहने पर असाध्य होता है।

चिकित्सासूत्र[2]

साध्य उन्मादो की चिकित्सा निदान के विपरीत औषध और अन्नपान के सेवन से करे तथा विधिपूर्वक निम्नलिखित प्रयोगो को करे—

१ स्नेहन-स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, नस्यकर्म।

२ धूम, धूपन, अञ्जन, अवपीड (नाक मे द्रव छोडना), प्रधमन (नाक मे नस्य फूंकना)।

३ मालिश, लेप, स्नान, चन्दनानुलेप (चन्दन का पतला द्रव शरीर मे लगाना)।

४ मारना-पीटना, बाँधना, अन्धेरे घर मे बन्द करना, डराना, आश्चर्यचकित करना।

---

१. अवाङ्मी वाप्युदङ्मी वा क्षीणमासबलो नर।
जागरूको ह्यसन्देहमुन्मादेन विनश्यति॥ —माधवनिदान
स्थूलाक्षो द्रुतमटन स फेनलेही निद्रालु पतति च कम्पते च यो हि।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात् सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे॥ —सु० उ० ६०।१६

२ च० नि० ७।८।

५ विस्मारण (भुलवाना), उपवास, सिरावेध आदि आवश्यकतानुसार करे।

६ दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय चिकित्सा करे[1]।

७ **वातज** उन्माद मे स्नेहपान करावे। यदि कफ और पित्त से वायु का मार्ग रुका हो तो स्नेह देकर मृदु वमन या विरेचन करावे।

८ **कफज और पित्तज** उन्माद मे स्नेहन-स्वेदन के बाद कफज मे वमन और पित्तज मे विरेचन करावे एव शरीर शुद्ध होने पर **संसर्जनक्रम** से पथ्य देवे।

९ पथ्य लेने पर रोगी जब सबल हो जाये, तब दोषानुसार निरूह, अनुवासन और शिरोविरेचन देवे।

१० उद्दण्डता करने पर मन-बुद्धि और शरीर मे उद्वेग उत्पन्न करने के लिए तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन एव ताडन का प्रयोग करे।

११ **आगन्तुक उन्माद मे** घृतपान, मन्त्र, मणिधारण, बलि, पूजा आदि का प्रयोग करे तथा दैवव्यपाश्रय, युक्तिपाश्रय और सत्त्वावजय, इन तीनो चिकित्सा विधियो का प्रयोग करे।

१२ **मानस दुःखज उन्माद** मे रोगोत्पादक कारणो के विपरीत चिकित्सा करे।

१३ इष्ट वस्तु के नाश से या धनहानि से या चोरी होने से जिस रोगी का मनोविभ्रश हुआ हो, उसे नष्ट हुई वस्तु के सदृश वस्तु देकर तथा सान्त्वना और आश्वासन देकर उपचार करे।

१४ काम को शोक से, शोक को हर्ष से, भय को हर्ष, ईर्ष्या तथा लोभ से, तथा ईर्ष्या और लोभ को सद्विचारो से जीतने का प्रयत्न करे।

१५ रति (मनोवाञ्छित वस्तु की इच्छा या कामपिपासा) तथा पूजा लेने की इच्छा से अर्थात् इन दो प्रयोजनो से भूतग्रह पकडते है। इसलिए उनके अभिप्राय को समझकर तदनुकूल उपहार, बलि, पूजा आदि देकर मन्त्रजप करे और उपयुक्त औषध का प्रयोग करे।

१६ अति उद्धत रोगी को नेवार की पट्टी से बाँधकर अँधेरे घर मे डाल दे। उस घर मे यदि कोई प्राणघातक सामान जैसे लोहे की छड, लाठी आदि हो तो हटा दे। फिर उसे कृत्रिम सर्प आदि या कृत्रिम पुलिस दिखाकर भयभीत करे, धमकावे या हर्ष, विस्मय आदि उत्पन्न कर उसके मन को एक दिशा मे मोडने एव एकाग्र करने का यत्न करे।[2]

सामान्य औषध-चिकित्सा

चूर्ण—

१ ब्राह्मी, शखपुष्पी, दूधिया वच, जटामसी, मीठा कूठ और असली —इन्हे समभाग मे लेकर चूर्णकर २-२ ग्राम की मात्रा दिन मे ३ वार गोदुग्ध से। अथवा —

---

१ च० सू० ११।५४।

२ य. मत्तोऽविनये पट्टै. संयम्य सुदृढै. सुखैः। अपेतलोहकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे॥
तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्। विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मन.॥
—च० चि० ९।१०-२१

२ मीठावच, मीठाकूठ, पारसीक यवानी का समभाग मे चूर्ण १-१ ग्राम दिन मे ४ वार ब्राह्मी स्वरस व मधु से। अथवा—

३ सारस्वत चूर्ण ३ ग्राम गोदुग्ध से ४ वार।

४ सर्पगन्धा चूर्ण १-२ ग्राम गुलाब का फूल और मरिच उचित मात्रा मे लेकर तीनो पीसकर चीनी मिला शर्वत बनाकर ऐसी दो मात्रा सवेरे-शाम देवे।

५ श्वेतकूष्माण्ड ४० ग्राम पीसकर शर्वत बनाकर प्रात -साय दे।

क्वाथ —

६ मीठावच, मीठाकूठ, शखपुष्पी, जटामसी, काली अनन्तमूल, मालकागनी-बीज, सब बराबर लेकर मोटा कूट लें। इनमे से २० ग्राम लेकर क्वाथ बनाकर सवेरे-शाम पिलावे।

७ **सर्पगन्धा घनवटी**—अनिद्रा हो तो रात मे सोते वक्त १ ग्राम गोदुग्ध के साथ दे। इसे सवेरे-शाम और रात मे १-१ ग्राम देना अच्छा है।

८ **उन्मादगजकेशरी**—५०० मि० ग्रा० गोघृत के साथ। ऐसी तीन मात्रा दिन मे देनी चाहिए।

९ **चतुर्भुजरस**—२५० मि० ग्रा०/१ मात्रा त्रिफला चूर्ण २ ग्राम और मधु से दिन मे ३ वार दे।

१० **सूतशेखररस**—२०० मि० ग्रा० तथा सर्पगन्धा चूर्ण ५०० मि० ग्रा०/१ मात्रा दिन मे ३ वार गोघृत और मिश्री से दें।

११ **भूतभैरवरस**—२५० मि० ग्रा०/१ मात्रा दिन मे ३ वार मधु से।

१२ **रसपर्पटी**—२०० मि० ग्रा० शुद्ध धत्तूर बीज चूर्ण २५० मिलीग्राम मिलाकर सवेरे-शाम मधु से दे।

१३ **शिवातैल**—इसकी मालिश और पान सभी तरह के उन्मादो मे लाभप्रद है। शतधौत घृत का अभ्यग करे।

१४ **नस्य और अञ्जन**—शिरीषबीज, मुलहठी, हीग, लहसुन, तगरपुष्प, वच और कूठ—इन्हे समभाग लेकर वकरे के मूत्र मे पीसकर नस्य और अजन के रूप मे प्रयोग करे।

१५ **सिद्धार्थक अगद**—पीली सरसो, वच, हीग, करञ्जबीज, देवदारु बुरादा, मजीठ, हर्रे फल का छिलका, वहेडे के फल का छिलका, आँवला, अपराजिता बीज, शिरीष की छाल, सोठ, पीपर, मरिच, प्रियगु, हल्दी और दारुहल्दी—इस सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर, वकरे के मूत्र मे पीसकर सुखाकर रख ले।

इसका प्रयोग—(१) गोदुग्ध के साथ ३ ग्राम/१ मात्रा सवेरे-शाम पिलाना चाहिए, (२) वर्ती बनाकर नेत्र मे अजन करे, (३) पिसे हुए ताजे रस का नाक मे प्रक्षेप करे–अवपीड नस्य दे, (४) ताजे कल्क का शरीर मे लेपन करे, (५) क्वाथ बनाकर वकरे का मूत्र मिलाकर स्नान करे, (६) इन्ही द्रव्यो के

कल्क मे सरसो का तेल मिलाकर उबटन लगाना चाहिए; (७) इन्ही द्रव्यो के कल्क और गोमूत्र के साथ पकाया हुआ घृत पूर्वोक्त सभी कार्यों मे प्रयोग-योग्य होता है।

घृत—

१६ निज और आगन्तुज सभी उन्मादो मे इन घृतो का प्रयोग करे—कल्याण घृत, महाकल्याण घृत, महापैशाचिक घृत लशुनादि घृत, पञ्चगव्य घृत, महापञ्चगव्य घृत तथा हिंग्वादि घृत। मात्रा का निर्धारण रोगी के वलावल के अनुसार करें।

१७. **विरेचन**—सप्ताह मे २ बार रात मे सोते समय ५० ग्राम एरण्डतैल को आधा लीटर दूध मे पिलाकर विरेचन करायें।

१८ **सिरावेध**—अति उग्रता, अनिद्रा या रक्तचाप की अधिकता मे सिरामोक्षण कराना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. दिन मे ३ बार—

उन्मादगजकेशरी	५०० मि० ग्रा०
वातकुलान्तक	५०० मि० ग्रा०
बृहद्वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
ब्राह्मी स्वरस व मधु से।	३ मात्रा

२. ९ बजे व २ बजे—

सारस्वत चूर्ण	६ ग्राम
गोदुग्ध से।	२ मात्रा

३ भोजन के बाद २ बार—

सारस्वतारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. रात मे सोते वक्त—

सर्पगन्धा घनवटी	१ ग्राम
गोदुग्ध से।	१ मात्रा

५. शिर मे मालिश—

हिमसागर तैल या पुराना घी अथवा शतधौत घृत।

उन्मादमुक्त के लक्षण

मन एवं बुद्धि का व्यवस्थित रूप से कार्य करना, इन्द्रियो की अपने विषयो को ग्रहण करने मे ठीक ढग से प्रवृत्ति, प्रसन्नता और सभी धातुओ का प्रकृतिस्थ होना, ये लक्षण उन्माद रोग से मुक्ति के परिचायक हैं।

पथ्य[1]

१. उन्माद का रोगी परिवार के जिन व्यक्तियो से या सम्बन्धियो से या मित्रो से चिढता हो, उन्हे उसके सामने आने से मना करे।

२ अपरिचित लोग उसे औषध खिलायें, सेवा-शुश्रूषा करे या आवश्यक होने पर धैर्य धारण करायें, आश्वासन दे अथवा डरायें-धमकाये।

३ उन्मादी के समक्ष भीड न होने दे और ऐसे लोग सामने न जायें, जो उसे उत्तेजित करे या सवाल-जवाब करे या चिढायें।

४ रोगी को शान्त-एकान्त एव स्वच्छ स्थान मे रखें और उसे प्रात.-साय स्नान-अभ्यग करायें। रात्रि मे एरण्ड स्नेह का विरेचन दे।

५ भोजन मे—पुराना चावल, पुराना गेहूँ, जौ, साठी का चावल, मूग की दाल, गोदुग्ध, नवीन या पुराना घृत, परवर, लौकी, पेठा, चौलाई, बथुआ, मुनक्का, किसमिश, अनार, सन्तरा, मौसम्मी, अनन्नास, कटहल, अजीर, नारियल, आम, मोर का मास, कछुए का मास, जागल पशु-पक्षियो का मास, कोयल का मास—ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य[2]

मद्यपान, विरोधी आहार, अधिक मास खाना, भैस का दूध, उष्ण पेय और भोजन, भूख-प्यास एव निद्रा के वेग को रोकना, अधिक नमक, सरसो का तेल, ससाला, अचार, सरवा मरचा तथा तीक्ष्ण-उष्ण द्रव्यो का सेवन करना अपथ्य है।

अपस्मार

परिचय—स्मरण-शक्ति, बुद्धि और मन के विभ्रम से बीभत्स चेष्टायुक्त होकर कदाचित् अन्धकार मे डूबते हुए की तरह ज्ञानशून्य होने को अपस्मार कहते है।

शरीर का कांपना, मुख से झाग निकलना, आँख नचाना, हाथ-पैर पटकना, फिर बेहोश होकर टूटे वृक्ष की तरह गिर पडना अपस्मार है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता-निदान० अ० ८।

२ ,, चिकित्सा० अ० १०।

३. सुश्रुतसहिता-उत्तरतन्त्र अ० ६१।

---

१ गोधूममुद्गारुणशालयश्च धारोष्णदुग्ध शतधौतसर्पि·।
घृत नवीन च पुरातन च कूर्मामिषं धन्वरसा रसाला॥
पुराणकूष्माण्डफल पटोलं ब्राह्मीदलं वास्तुकतण्डुलीयम्।
द्राक्षा कपित्थं पनस च वैद्यैर्विधेयमुन्मादगदेषु पथ्यम्॥ —यो० र०

२ निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयत· शुचि। निजागन्तुभिरुन्मादै· सत्त्ववान् न स युज्यते॥
—च० चि० ९।९६

४ अष्टाङ्गहृदय-उत्तरस्थान अ० ७।

५ माधवनिदान-अपस्मार निदान।

निर्वचन[1]—'अपशब्दो गमनार्थः, स्मार' स्मरणम्, अपगत. स्मारो यस्मिन् रोगे सोऽपस्मार' (डल्हण.)। अर्थात् व्यतीत एव अनुभूत घटनाओ का स्मरण न होना अपस्मार कहलाता है।

निदान

१. इन्द्रियार्थों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) तथा कायिक, वाचिक एव मानसिक कर्मों का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग।

२. सयोग-देश-काल आदि के विरुद्ध, मलिन, दूषित, दुर्गन्धित और अपवित्र आहार का सेवन।

३ विधि-विपरीत एव मलिन विहार करना।

४ धारणीय वेगो को धारण न करना और अधारणीय वेगो को रोकना तथा मन का रज एव तम से आक्रान्त होना।

५ रजस्वला स्त्री के साथ सभोग करना।

६ काम-क्रोध-भय-शोक-उद्वेग आदि से मन का प्रताडित होना।

७ वातादि दोषो की विषमता, विषम चेष्टा, शरीर की क्षीणता, सद्वृत्त का पालन न करना आदि अपस्मार के कारण होते है।

सम्प्राप्ति[2]

पूर्वोक्त विरुद्ध आहार, मलिन विहार, इन्द्रियार्थों के अयोग-अतियोग-मिथ्यायोग, वेगावरोध, वातादि दोष-प्रकोपक कारण तथा चिन्ता-शोक आदि मानस भावो द्वारा रज-तम के सवर्धन से प्रकुपित हुए दोष हृदय (मस्तिष्क) के स्रोतो (मनोवह स्रोतो) मे एव धमनियो द्वारा समस्त शरीर मे व्याप्त होकर हृदयस्थ (मस्तिष्क मे स्थित) मन को क्षुब्ध कर स्मृति का विनाश कर देते हैं और आक्रान्त व्यक्ति अज्ञानान्धकार मे डूबने जैसा अनुभव करता हुआ एव हस्त-पाद प्रक्षेपण और आंख नचाना आदि वीभत्स चेष्टाओ को करता हुआ जमीन पर गिर पडता है, जिसे अपस्मार रोग कहते हैं।

---

१ (क) स्मृतेरपगम प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः। —च० चि० १०।३

(ख) स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जने। अपस्मार इति प्रोक्तः ···· ॥ —सु० उत्तर० ६१

(ग) स्मृत्यपायो ह्यपस्मारः। —अ० हृ० उ० ७

(घ) भूतार्थज्ञानापस्मरणादय व्याधिरपस्मार इति प्रोक्तः (डल्हणः)। —सु० उ० ६१

२. संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः।
रजस्तम.परीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा॥
विक्षिपन् हस्तपाद च विजिह्मभ्रूविलोचन।
दन्तान् खादन् वमन् फेन विवृताक्ष. पतेद् क्षितौ॥ —सु० उत्तर० ६१।८-९

सम्प्राप्ति-सारणी
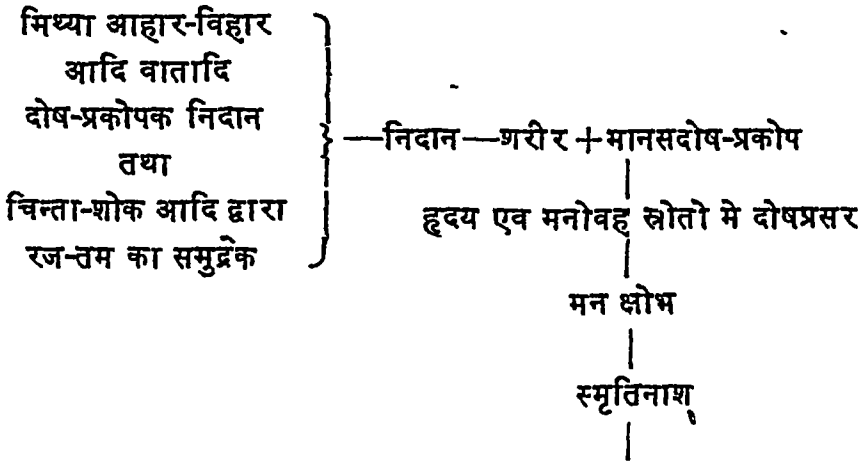
दोष-दूष्य-अधिष्ठान-स्रोतस्

दोष—वातादि शारीर तथा रज-तम मानस दोष।

दूष्य—हृदय(मस्तिष्क)स्थ मन।

अधिष्ठान—हृदय एव मनोवह स्रोत।

स्रोतस्—मनोवह स्रोतस्।

पूर्वरूप

१ हृदय मे कम्पन (Palpitatian of heart), २. हृदय मे शून्यता का अनुभव ३ पसीना आना, ४ ध्यानमग्न होना, ५ मूर्च्छा, ६ मन एव इन्द्रियों की क्रियाहानि और ७ निद्रानाश होना—ये अपस्मार के पूर्वरूप है।

सामान्य लक्षण[१]

१ तम प्रवेश का अनुभव—आँखो के समक्ष अँधेरा-सा छा जाना।

२ सरम्भ—भयानक रूप बनाना, आँख नचाना, हाथ-पैर पटकना, टेढा मुख करना आदि।

३ पूर्व के अनुभूत तथा वर्तमानकालीन स्मरण का विनाश होना।

४ प्रलाप करना, अव्यक्त (छू-छू शब्द) ध्वनि करना और क्लेश।

५. मनोविभ्रम, सहसा गिर पडना, जिह्वा, भौह और आँखो की चञ्चलता।

६. मुख के बाहर लार गिरना, हाथ-पैर पटकना, आँखो से पानी आना।

---

१. (क) तम प्रवेश. सरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृते। अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विध ॥ —मा० नि०

(ख) च० चि० १०।७–८।

(ग) सु० उ० ६१।१६

७ दोषवेग के समाप्त होने पर ऐसे उठना जैसे सोकर उठा हो— ये लक्षण होते है ।

अपस्मार का वेग आने का समय

प्रकुपित वातादि दोष १२-१२ दिनो पर या १५-१५ दिनो पर अथवा एक-एक महीने पर या कभी-कभी उक्त अवधि के बीच-बीच मे ही अपस्मार के वेगो को उत्पन्न करते हैं । जब धमनी और सिराओ द्वारा दोष (सचित होकर) हृदय मे आ जाते है, तो हृदय व्याकुल हो उठता है और अपस्मार का वेग हो जाता है ।

अपस्मार के भेद

१ वातज, २. पित्तज, ३ कफज और ४ सन्निपातज भेद से यह चार प्रकार का होता है ।

वातज अपस्मार लक्षण

१ अपस्मार के दौरे के पहले रोगी अपने सामने की वस्तुओ को रूक्ष, अरुण और कृष्ण वर्ण का देखता है ।

२ वेगागमन वेला मे रोगी का शरीर काँपता है और वह दाँतो को किट-किटाता है ।

३ उसके मुख से फेन निकलता हे और श्वास की गति तीव्र हो जाती है ।

पित्तज अपस्मार लक्षण

१ वेग के आने के पूर्व सभी दृश्य पदार्थ पीले या लाल रग के दीखते है ।

२ शरीर के अग, मुख, नेत्र और मुख से निकलने वाला फेन पीला होता है ।

३ वेग समाप्त होने पर प्यास और गर्मी अधिक महसूस होती है ।

४ वह ससार की प्रत्येक वस्तु को जलती हुई देखता है ।

कफज अपस्मार लक्षण

१ रोगी सभी वस्तुओ को श्वेतवर्ण का देखता है ।

२ उसके मुख से निकलनेवाला फेन, उसके नेत्र, मुख और अङ्ग श्वेत होते है ।

३ शरीर शीत, रोमाञ्चित और भारी रहता है ।

४ अपस्मार का दौरा देर तक बना रहता है ।

सन्निपातज अपस्मार लक्षण

यह तीनो दोषो के प्रकोपज लक्षणो से युक्त होता है ।

असाध्य अपस्मार लक्षण

१ सन्निपातज तथा दुर्बल व्यक्ति का एवं पुराना अपस्मार असाध्य होता है ।

२ जिस रोगी को बार-बार आक्षेप आते हो, वह असाध्य है ।

३ जो क्षीण हो, जिसकी भौंहे ऊपर चढी हो और जिसकी आँखे भी विकृत हो, वह असाध्य होता है ।

सापेक्ष-निदान

अपस्मार	योषापस्मार
१. इसका आक्रमण तीव्र वेग से होता है।	१ इसका आक्रमण अधिक तीव्र वेग से नही होता।
२. यह सोते समय भी हो सकता है।	२ यह सोते समय कभी नही होता।
३ इसका आक्रमण एकान्त या समूह की अपेक्षा नही करता है।	३. इसका आक्रमण कुछ सहायको के पास रहने पर ही होता हैं।
४ आक्रमण होने पर गर्दन और नेत्र टेढे हो जाते हैं।	४. वेग आने पर गर्दन और नेत्र टेढे नही होते।
५ रोगी अचानक भूमि पर गिर जाता है और उसे चोट लग जाती है।	५ रोगी सावधानी से गिरता है और उसे चोट नही आती।
६ कभी-कभी दाँतो से जीभ कट जाती है।	६ जीभ कभी नही कटती।
७. अनचाहे मल-मूत्र त्याग हो जाता है।	७ इसमे ऐसा नही होता।
८ आक्रमण प्राय निश्चित समय पर।	८ आक्रमण का समय निश्चित नही।
९ गर्भाशय से सम्बन्ध नही रहता।	९ गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।
१० मूर्च्छा निद्रा मे बदल जाती है।	१० शीघ्र होश आ जाता है।

अपस्मार	मूर्च्छा
१ आक्रमण अतिशीघ्र प्रारम्भ होता है।	१ आक्रमण धीरे-धीरे होता है।
२ इसका पूर्व इतिहास मिलता है।	२ पूर्व इनिहास मिलना आवश्यक नही।
३ इसमे आँखे फिरी हुई मिलेगी।	३ आँखे फिरी हुई नही होगी।
४. मुख से फेन निकलता है।	४ फेन नही निकलता।
५ शरीर गरम रहता है।	५ शरीर ठण्डा रहता है।
६ इसका निश्चित कारण नही दिखाई देता।	६ कारण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।
७ इसमे हृल्लास और आध्मान नही होता।	७ इसमे हृल्लास और आध्मान होते हैं।
८ अगो मे आक्षेप होता है।	८ आक्षेप नही होता।

चिकित्सासूत्र

सशोधन

१ दोष के अनुसार तीक्ष्ण सशोधन और सशमन चिकित्सा करनी चाहिए।

२ दोषजन्य अपस्मार के साथ यदि आगन्तुक (भूतादिको का) सम्बन्ध हो तो दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय एव सत्त्वावजय चिकित्सा यथावश्यक करे।

३ स्नेहन, स्वेदन, दमन, विरेचन, शिरोविरेचन और वस्ति देकर सशोधन

करे। वातज मे वस्ति, पित्तज मे विरेचन और कफज अपस्मार मे वमन-प्रधान चिकित्सा करे।

४ पुराने घृत का पान और अभ्यङ्ग करना कल्याणकारक है।

५ कट्फल की छाल के सूक्ष्म चूर्ण का प्रधमन देने से रोगी सद्य होश मे आ जाता है।

६ नासिका के भीतर रुई की वत्ती का स्पर्श कराने से वेहोशी दूर हो जाती है।

७ **सावधानी**—अपस्मार के रोगी और उसके परिचारक को सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह जल-अग्नि के निकट तथा वृक्ष और पहाड पर न जाये, क्योकि वेग आने पर इनसे रोगी की दुर्घटना हो सकती है।

८ रोगी को इस बात का पूर्ण आश्वासन देना चाहिए कि यह रोग एकदम ठीक हो जायेगा।

चिकित्सा

(बाह्य उपचार)

१ **नस्य और अञ्जन**—मुलहठी, हीग, वच, तगर, शिरीषवीज, लहसुन और कूठ को समभाग लेकर, वकरी के मूत्र मे भावना देकर सुखा ले। इसका नस्य दे तथा गोली वनाकर रख ले और घिसकर अजन करे।

२ चूना और नौसादर समान भाग मे लेकर अलग-अलग महीन कर छोटी सीसी मे डालकर हिलाकर मिला दे और २–४ बूँद पानी डाल दे। इसका नस्य देने से तुरन्त होश हो जाता है।

३ पुष्यनक्षत्र मे निकाला हुआ कुत्ते के पित्त का अञ्जन लगाना लाभकर है।

४ मैनसिल, मुलहठी और काले कबूतर का वीट समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर ३–४ बूँद नाक मे डाले या वर्ती बनाकर अजन लगाये।

५ **अभ्यङ्ग**—शिर मे शतधौत घृत, विष्णुतैल, हिमाशुतैल या कैन्थरायडिन की मालिश करे। सपूर्ण शरीर मे कटभ्यादि या पलङ्कषादि अथवा चतुर्गुण बकरे के मूत्र मे सिद्ध किये हुए सरसो के तेल की मालिश करनी चाहिए।

६ **उबटन और स्नान**—बकरे के मूत्र मे पिसी हुई सरसो का अथवा काली तुलसी, कडवा तेल, हर्रा, जटामसी और शखपुष्पी को समभाग लेकर गोमूत्र मे पीसकर उबटन लगाये और गोमूत्र से स्नान कराये।

७ **धूपन**—पलङ्कषादि तैल (च० चि० १०।३४-३६) के प्रक्षेप की औषधो को जलाकर रोगी के शरीर मे उसका धुआँ लगाना चाहिए।

८ **धारण**—गले मे रुद्राक्ष की माला पहने या उदसलीव (यूनानी बूटी) काले धागे मे बाँधकर गले मे पहने।

संशमन : आभ्यन्तर प्रयोग

१ **अश्चर्य अमूल्य प्रयोग : सर्वोत्तम औषध**—प्रात ८ बजे और साय ६ बजे

ताजा गर्दभी मूत्र २५ मि० ली० की मात्रा मे रोगी को पिलावे। यदि दोनो समय न मिले तो एक ही समय दे। इसे गहरे नीले या लाल (ब्राउन) रग की शीशी मे रखे और शीशे के रगीन गिलास मे चटपट ढाले और पिला दे। रोगी को हरगिज पता न चले, नही तो लात मारेगा। उधर गर्दभी के पादप्रहार से सुरक्षा रखे। मूत्र की प्राप्ति धोबी या कञ्जर से करे।

१० दूधिया बच का चूर्ण २ ग्राम और रससिन्दूर २०० मि० ग्राम/१ मात्रा ऐसी ४ मात्रा ३–३ घण्टे पर मधु से देवे।

११ श्वेतकूष्माण्ड बीज १ ग्राम और मुलहठी चूर्ण १ ग्राम पीसकर प्रात -साय पिलाये। पथ्य मे दूध-भात दे।

१२ ब्राह्मी की पत्ती या मण्डूकपर्णी की पत्ती का स्वरस १०–२० मि० ग्रा० मधु के साथ पिलाये।

१३ शतावर १० ग्राम दूध मे पीसकर सबेरे-शाम पिलावे।

१४ कल्याण अवलेह या सारस्वत चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा मे पञ्चगव्य घृत १० ग्राम के साथ प्रात -साय दे।

१५ मास्यादि क्वाथ (सिद्धयोगसग्रह यादवजी) ५० मि० ग्रा० प्रात साय दे।

घृत—

१६ ब्राह्मीघृत, कूष्माण्डघृत, पञ्चगव्यघृत, कल्याणघृत, चैतसघृत, क्षीरकल्याण घृत—इनमे जो भी उपलब्ध हो, उसे १०-१५ मि० ग्रा० की मात्रा मे गोदुग्ध के साथ प्रात -साय दे।

सिद्धयोग-रस-रसायन

१७ स्मृतिसागर रस, २०० मि० ग्रा०/१ मात्रा, घृत या मक्खन से प्रात - साय दें।

१८ भूतभैरव रस ३०० मि० ग्रा०/१ मात्रा, शखपुष्पी चूर्ण १ ग्राम और मधु से दिन मे २ बार दें।

१९ चतुर्भुज रस १२५ मि० ग्रा० और प्रवालपिष्टी २५० मि० ग्रा० मक्खन-मिश्री के साथ प्रात -साय दें।

२० भोजन के बाद सारस्वतारिष्ट या अश्वगन्धारिष्ट २०-२० मि० ली० समान जल के साथ दे।

२१. ब्राह्मीवटी २५० मि० ग्रा० मधु से, तत्पश्चात् मास्यादि क्वाथ, प्रात - साय दें।

२२ वातकुलान्तक रस २५० मि० ग्रा० मधु से प्रात -साय दे।

२३. **योगराज** (च० चि० १६) १ ग्राम/१ मात्रा, प्रात -साय गाय के दूध के साथ देने से विशेष लाभ होता है।

व्यवस्थापत्र

१ प्रातः सायं—

स्मृतिसागर रस	२५० मि० ग्रा०
वातकुलान्तक	५०० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	२५० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

वचचूर्ण ५०० मि० ग्रा० और मधु में।

२ ९ बजे और २ बजे दिन—

पञ्चगव्य घृत	२५ ग्राम
गोदुग्ध के साथ।	१ मात्रा

३ भोजन के बाद २ बार—

सारस्वतारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. रात में सोते समय—

आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम
गोदुग्ध से।	१ मात्रा

५ शिर में मालिश—

हिमांशु या हिमसागर तैल की।

पथ्य

पुराना महीन चावल, गेहूँ, जौ, परवर, बथुआ, सफेद कोहड़ा, सहिजन, लौकी, पका टमाटर, गोदुग्ध गोघृत, डाभ, मुनक्का, अँगूर, किशमिश, अनार, फालसा, आँवला, सेव, मुसम्मी, सन्तरा, अनन्नास, जांगल जीवों का मांस, धनियाँ, जीरा, सौंफ, लघु एवं पवित्र भोजन, ताजे फल, ताजे जल से स्नान, शीतल तैल से शिरोऽभ्यङ्ग आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

गुरु एवं विरुद्ध भोजन, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मद्यपान, मछली, पत्तो वाला शाक, कुन्दरू, मैथुन का वेग रोकना, क्षुधा-प्यास के वेग को रोकना, पूज्यों का तिरस्कार, चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, रात्रि-जागरण, अतिक्रम और अपवित्र भोजन आदि अपथ्य हैं।

अतत्त्वाभिनिवेश

परिचय—तत्त्व का अर्थ तथ्य या वास्तविक होता है अर्थात् जिसका अस्तित्व होता है। तत्त्व के अभाव को अतत्त्व (अतथ्य अवास्तविक—जिसका अस्तित्व न हो) कहते है। उसके प्रति अभिनिवेश अर्थात् दृढ आग्रह को अतत्त्वाभिनिवेश

कहते है। इस प्रकार अतत्त्वाभिनिवेश वह मानसरोग है, जिसमे रोगी की बुद्धि विपरीत हो जाती है और नित्य को अनित्य तथा अनित्य को नित्य समझता है, एव हित को अहित और अहित को हित समझ बैठता है। यह एक हठी प्रज्ञापराध है, जिसमे बुद्धि-स्मृति और धैर्य का विभ्रश हो जाता है।

निदान

१ आहार-विधि के विपरीत तथा सयोग-देश-कालादि के विरुद्ध दूषित आहार का लगातार प्रयोग करना।

२ मल-मूत्र आदि के वेगो को रोकना और धारणीय लोभ-ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर क्रोधादि वेगो को न रोकना।

३ शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष आदि गुणयुक्त पदार्थों का अतिसेवन करना।

सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणो से प्रकुपित वातादि दोष रज और मोह से आच्छन्न मन वाले व्यक्ति की मनोवहा और बुद्धिवहा सिराओ मे जाकर हृदय को दूषित कर वहाँ स्थानसश्रय कर लेते है। रज और तम के बढ जाने पर जब बुद्धि और मन इन मानसिक दोषो से आवृत हो जाते है तब दोषो के प्रकोप से हृदय व्याकुल हो जाता है। ऐसी स्थिति मे रोगाक्रान्त व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य विचारशून्य हो जाता और उसकी चेतना क्षीण हो जाती है। इसे ही **अतत्त्वाभिनिवेश** कहते है। इसे **महागद** कहा जाता है।

लक्षण[1]

इस रोग के होने पर रोगी की बुद्धि विषम हो जाती है, जिससे वह नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य, हित को अहित और अहित को हित समझने लगता है। इस रोग मे मनुष्य की बुद्धि का महान विभ्रम या विपर्यास हो जाता है और यह रोग आ जाने पर रहने की जिद पर अडा रहता है। कदाचित् जाता भी है तो पुन आने का वादा करके।

वक्तव्य—ऐसा रोगी शरीर मे तो स्वस्थ रहता है, किन्तु व्यर्थ की चिन्ताओ से उद्विग्न रहता है। उसका मन कब और कहाँ टपक पडेगा, कोई कल्पना नही कर सकता। इस रोग मे विवेक का ह्रास हो जाता है, बुद्धि और स्मृति का विभ्रम हो जाता है, जिसे मिथ्या स्मृति या मिथ्या ज्ञान कहते है। यह डिस् आर्डर ऑफ मेमोरी (Disorder of memory) है। यह सविभ्रम (Paranoia) है, जिसमे आक्रान्त पुरुष का मानसपटल भ्रम से परिपूर्ण हो जाता है। 'आयुर्वेद-विज्ञान' ग्रन्थ मे एक इसी तरह के रोग का वर्णन आया है, जिसे **अपदार्थगद**[2] या **गदोद्वेग** कहा गया है।

---

१ विषमा कुरुते बुद्धि नित्यानित्ये हिताहिते। अतत्त्वाभिनिवेश त प्राहुराप्ता महागदम्॥
—च० चि० १०।६०

२ अद्भुतस्य गदस्यास्यास्य लक्षणान्यद्भुतानि च। कोऽप्येव मन्यते नूनमुदर भुजगोऽविशत्॥
कोष्ठे भ्रमत्यसो नित्य भुङ्क्ते यद्भुज्यते मया। निर्यास्यति पथा केन केनोपायेन नङ्क्ष्यति॥

चिकित्सासूत्र

१ विधिवत् स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् दोषानुसार वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन एव नस्य का प्रयोग कर शरीर का सशोधन करायें।

२ सशोधन के बाद पेया-विलेपी आदि के क्रम से ससर्जन-क्रम से पथ्य दें।

३ तदनन्तर जीवनीयगण, ब्राह्मी-वच-शखपुष्पी-जटामसी-शतावर आदि मेध्य द्रव्यो से सस्कृत घृत-दुग्ध निर्मित बुद्धिवर्धक आहार दें।

४ रोगी के आत्मीय, हमदर्द, यथार्थ वक्ता, इष्ट-मित्र तथा सहानुभूति रखनेवाले प्रेमीजनो को चाहिए कि उसके रोग को झूठा न कहे और उससे कोई शिकायत अथवा उद्वेजक बात न करे।

५ शुभचिन्तको को चाहिए कि रोगी के साथ कुछ समय बैठे और उसके मन को प्रफुल्ल बनाने वाली मनोरञ्जक वार्ता करे। रोगी को ढाढस बँधाये, उसकी स्मृति को जगाये और उसकी चित्तवृत्ति को एकाग्र बनाने की चेष्टा करें।

६ समझाना, आश्वासन देना, स्नेह प्रकट करना, प्रसन्न रखना, सन्तुष्ट करना और तृप्तिकारक आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।

७ धर्म, अर्थ, श्रेष्ठ कथा-वार्ता और ज्ञान-विज्ञान की बातें करके रोगी का मनोविनोद करना चाहिए।

८ दीपन, पाचन, पित्तनाशक, वातानुलोमन, रुचिकर, मनपसन्द, सुपाच्य और पौष्टिक भोजन खिलाना चाहिए।

चिकित्सा[1]

१ ब्राह्मीस्वरस २० ग्राम को पञ्चगव्यघृत २० ग्राम के साथ प्रात -साय दे।

किं विधास्यति न जाने दश्ये वाऽहं दुरात्मना। कोऽपि वा मनुते भेको मर्मको मूर्ध्नि सस्थित.॥
विघट्टयति मस्तिष्क मोहयिष्यति मा ध्रुवम्। कोऽपीत्थ चिन्तयेच्चिन्न काय. काचमयो मम॥
सञ्जातोऽयमतो रक्ष्य· सदाऽऽघातात् प्रयत्नत। इत्येव बहुरूपाभिर्व्यर्थचिन्ताभिराकुल.॥
अपदार्थगदी शुष्येत् सदाभीतः सदाऽसुखी। बहुधा बोधितोऽप्येष सान्त्वितोऽपि पुन. पुनः॥
चित्ताद्भ्रम न शक्नोति दूरीकर्तुं न साध्वसम्। यश्चास्य कथयेद्भ्रान्ति तस्मै द्रुह्यात्तु नित्यश.॥
प्रीयते च गदोद्वेगी व्याधे. सत्त्वात्मवादिनि। गदोद्वेगवता कोष्ठे कस्मिश्चिदनुभूयते॥
सुतीव्रा वेदना प्राय पाककोष्ठे विशेषत। जिह्वा स्यात् कफलिप्तास्य पूति. श्वासो निरेति च॥
उत्क्लेशश्च तथा व्वान्तिरित्थञ्च जीर्णलक्षणम्। प्राखर्यं स्पर्शशक्तेश्च पाण्डुत्वमुदरामय.॥
हृदि साङ्घातिको व्याधि. केन वाऽप्यनुभूयते। गदोद्वेगवताऽन्येन पुरुषत्वस्य सङ्क्षय.॥
ज्वर. सततकोऽन्येन दुष्प्रतीकार्य एव च। किमाश्चर्यं वेपनाद्य जायते च तदा तदा॥
एव बहुविधाकारा व्याधय. कल्पनाकृता.। भ्रमरूपा प्रजायन्ते नि.सत्त्वानाममेधसाम्॥
शक्यन्ते व्याधयो वक्तु नैते निरवशेषत.। बुद्धिमद्भिर्लक्षणीया यथास्व दोषलक्ष्म च॥

—आयुर्वेदविज्ञान

१. 'प्रयुञ्ज्यात्तैललशुन पयसा वा शतावरीम्। ब्राह्मीरस कुष्ठरस वचा वा मधुसयुताम्॥
सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्ताधर्मार्थवादिन.। सयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि॥

—च० चि० १०।६३-६४

२ शखपुष्पीस्वरस २० मि० ली० मधु के साथ सबेरे-शाम दे।

३ मण्डूकपर्णीस्वरस अथवा गुडूची स्वरस २० मि० ली० प्रात -साय दे।

४ लहसुन के १० ग्राम कल्क मे १० मि० ली० तिल-तैल मिलाकर सबेरे-शाम दे।

५ शतावर का कल्क १० ग्राम गोदुग्ध के साथ प्रात -साय दे।

६ मीठे कूठ का चूर्ण ३ ग्राम/१ मात्रा मधु से दिन मे २ बार दे।

७ मीठाबच चूर्ण २ ग्राम/१ मात्रा दिन मे ३ बार देना चाहिए।

८ **सिद्ध औषधें**—ब्राह्मीवटी, स्मृतिसागर, वातकुलान्तक, योगेन्द्ररस, चिन्तामणिचतुर्मुख, प्रवालपचामृत आदि योग्य मात्रा एव अनुपान से दे।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय—

स्मृतिसागर रस	२५० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	२५० मि० ग्रा०
योगेन्द्र रस	२५० मि० ग्रा०
वच चूर्ण १ ग्राम और मधु से।	२ मात्रा

२ भोजन के पूर्व २ बार—

यवानीषाडव चूर्ण	६ ग्राम
बिना अनुपान।	२ मात्रा

३ भोजन के बाद २ बार—

अश्वगन्धारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४ रात मे सोते समय—

अविपत्तिकर चूर्ण	३ ग्राम
गोदुग्ध से।	१ मात्रा

५ अभ्यङ्ग—

शिर मे विष्णु तैल या हिमाशु तैल या शतधौत घृत और शरीर मे नारायण तैल या चन्दनादि तैल।

पथ्यापथ्य

अपस्मार मे कथित पथ्य-अपथ्य के समान जानना चाहिए।

मनोविक्षिप्ति

(Psychosis)

परिचय—यह एक गम्भीर परिस्थिति है। जब कोई व्यक्ति अपने मानसिक सवेगो की उथल-पुथल या अस्त-व्यस्तता होने से पागलों जैसा आचरण करने लगता

है, तो उसे अपनी सुध नही रहती । वह अपने दैनन्दिन क्रियाकलापो के सम्पादन मे लापरवाह हो जाता है और अपनी देख-रेख करने मे अक्षम हो जाता है तथा सामाजिक व्यवहार के निर्वाह करने मे असमर्थ होता है, तो इसे 'मनोविक्षिप्ति' कहते है ।

लक्षण

१ रोगी का विवेक भ्रष्ट हो जाता है और उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नही रहता । वह व्यस्त सडक के बीच मे सो जायेगा, अपने कपडो का चिथडा कर छोटे रूमाल बनाकर पैरो मे, हाथो मे, शिर मे और जगह-जगह बाँधकर अपने शरीर को सुसज्जित करने लगेगा । कभी मिट्टी का घडा फोडकर उसका हैट बनाकर शिर पर रखेगा, चौराहे पर भाषण देने लगेगा, किसी को गालियाँ देगा, किसी को दौडा देगा और हमेशा घूमता-फिरता बेचैन दीखलाई देगा ।

२ कभी गीत गायेगा, हँसेगा, नाचेगा, अभिनेता बनेगा, अभिनेत्री बनेगा । व्यर्थ की बिना ताल-मेल की बात करेगा । उसे देखकर कोई भी व्यक्ति विक्षिप्त समझ लेगा ।

३ उसे नीद नही आती । वह अपने चारो ओर अनुपस्थित भय एव आतङ्क का वातावरण देखेगा । अपने मित्रो, सगे-सम्बन्धियो से चिढेगा । उसे उनसे अपने जान-माल के हरण की आशङ्का बनी रहती है ।

४ कानूनी दृष्टि से उसकी बात या उसकी कोई कार्यवाही प्रामाणिक नही मानी जाती । क्योकि उसका विवेक भ्रष्ट हो गया होता है । रोग के बढ जाने पर उसका मनोभ्रंश हो जाता है, जिसे डिमेन्सिया (Dementia) कहते है । वह नही समझता कि आग की लपट मे हाथ डालने से जल जायेगा, बिजली का नगा तार छूने पर मर जायेगा या गहरे पानी मे डूबने से मृत्यु हो जायेगी इत्यादि ।

५ यह रोग अनेक मानसरोगो का समूह है । इसमे रोगी का मन इतना टूट जाता है कि वह यह मान बैठता है कि यह रोग सारी जिन्दगी बना रहेगा ।

६ रोगी निष्क्रिय, आत्मकेन्द्रित, एकान्त-प्रेमी और किसी प्रकार की गतिविधि और कार्य करने की प्रवृत्ति से विहीन होता है ।

७ उसमे कभी उत्तेजना होती है, जिसके बीच मे मोहावस्था अथवा निद्रावस्था हो जाती है । उसकी मासपेशियो मे कडापन या शिथिलता हो जाती है । उत्तेजना की दशा मे अकारण आँखे नचाता है, भौहे घुमाता है, मुख टेढा करता हे, अगो को तोडता-मरोडता है तथा मोहावस्था मे देर तक खडा या पडा रहता है ।

८ **भ्रान्ति**—उसे बराबर यह भ्रम बना रहता है कि पुलिस पकड लेगी, अमुक व्यक्ति मेरी हत्या करने की फिराक मे है और हो सकता है कि मुझे जहर खिला दे आदि ।

९ **विभ्रम**—जो वस्तु उपस्थित नही है, रोगी को उसके होने का आभास होता है । वह अशब्द की स्थिति मे भी शब्द सुनता है । उसका व्यवहार बच्चो

जैसा होता है। वह हठी होता है। उसका मन अव्यवस्थित रहता है। वह तरह-तरह के सन्देहो के घेरे मे घिरा रहता है।

प्रकार

यह रोग दो प्रकार का माना जाता है—

१ प्रथम प्रकार मे रोगी के शरीर मे कोई विकृति नही होती और न तो वह किसी नशीली या विषैली वस्तु के सेवन का अभ्यासी होता है। उसे यह रोग वंश-परम्परागत हो सकता है अथवा जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति न होने से हो सकता है। विषाद अथवा प्रज्ञापराध भी इस परिस्थिति के जनक हो सकते है।

२. द्वितीय प्रकार मे शरीर-विकृति या नशा या विष का सेवन इसका कारण होता है। इस प्रकार मे वार्धक्य, मस्तिष्क-धमनी-विकार या मद्य-सेवनजन्य मनोविक्षिप्ति का होना माना जाता है।

उपचार

१ रोगी को शान्त, एकान्त, सुखद, मनोरम वातावरण मे रखना चाहिए।

२ उसके मनोभावो को जानकर अभावो को दूर करना चाहिए।

३ उसके शयन-आसन, भोजन-आच्छादन की समुचित व्यवस्था करे।

४ रोगी के अनुकूल व्यक्तियो का उसे साहचर्य मिलना चाहिए।

५ उन्माद रोग की चिकित्सा मे बतलाये गये सभी उपचार आवश्यकतानुसार करे और सौम्य एव सात्त्विक पथ्याहार दें।

विषाद-अवसाद

(Depression)

परिचय—'विषाद' की अभिव्यक्ति आक्रान्त व्यक्ति की आकृति से ही प्रकट हो जाती है। उसकी मुखाकृति, चेष्टा, भाषण और हाव-भाव से उसके मन का विषाद झलकने लगता है। उसका मुखमण्डल कान्तिहीन, उदास और पीताभ होता है और शरीर शिथिल होता है।

लक्षण

१ रोगी का चेहरा फीका, पीतवर्णी, निस्तेज और मुरझाया दीखता है।

२ किसी भी रोग से ग्रस्त व्यक्ति जब 'विषाद' से पीडित हो जाता है, तो उसका वह रोग बढ़ जाता है और दीर्घकाल तक बना रहता है। चरक ने कहा है—**'विषादो रोगवर्धनाम् (श्रेष्ठतम)'** (च० सू० २५।४०)

३ रोगी भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनो कालो के दु खो का स्मरण करता रहता है और सदैव खिन्न रहता है।

४. उसे अपने प्रत्येक कार्य मे असफलता ही दीख पडती है। वह निराशा के घेरे से बाहर नही निकल पाता।

५ वह अपने पूर्व कर्तव्यो का लेखा-जोखा और जोड-घटाना करते-करते शरीर और मन दोनो से क्षीण हो जाता है। उसकी हर सोच मे पछतावा और विपाद की चासनी ओतप्रोत होती हे।

६ उसे नीद कम आती है या नही भी आती। भोजन मे रुचि नही होती और किया हुआ भोजन ठीक से नही पचता तथा मलावरोध रहता है।

७ उसे कोई नया कार्य करने का उत्साह नही होता और दैनिक कार्य करने मे भी रुचि नही होती। वह समाज से अलग रहना पसन्द करता है। लोगो से मिलने-जुलने एव बात करने से कतराता है।

८ उसे अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है। उदासीनता वढ जाने पर उसमे आत्महत्या की भावना उत्पन्न हो जाती है।

९ निराशा और असफलताजन्य क्षोभ की अधिकता होने पर उसे भूख नही लगती। वह खाने-पीने की परवाह नही करता। उसका मुँह सूखा रहना है, शरीर दुर्बल हो जाता है और वजन घट जाता है।

१० दुर्बलता और चिन्ता बढ जाने पर वह किसी से बात करना पसन्द नही करता। वह अकेला रहना चाहता है और उसकी गतिविधि मन्द से मन्दतर होती जाती है।

११ इस रोग का प्रभाव दिन मे अधिक और रात मे कम होता है। एक बार प्रकोप हो जाने पर इसका प्रभाव ४–६ महीनो तक बना रहता है।

१२ रोगी किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कार्य नही करना चाहता। वह हाथ-पैर हिलाने से जी-चुराता है और विचारशून्य स्थिति मे पडा रहता है। उसका मन अस्थिर रहता है। वह धीमी आवाज मे रुक-रुक कर बोलता है।

१३ वह स्व-कपोलकल्पित आशङ्काओ और चिन्ताओ के जाल मे फँसा रहता है, जिस प्रकार मकडी अपने द्वारा बुने जाल मे फँस जाती है। वह निराशावादी, अकर्मण्य और आलसी एव मन्दचेतन होता है।

विषाद के प्रकार

१ **सामान्य विषाद**—इसमे रोगी की शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओ में शिथिलता आ जाती है, किन्तु एकदम रुकावट नही होती। उसके प्रत्येक कार्य मे उदासीनता की झलक दीखती है।

२ **तीव्र विषाद**—उसे अपने चारो ओर निराशा का घना कुहरा छाया हुआ दीखता है और उसे आशा की पतली किरण भी नजर नही आती, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपना जीवन समाप्त कर देना चाहता है।

३ **कर्तव्यबोध-शून्य विषाद**—उसका मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। वह बालको जैसा व्यवहार करता है। वह अपना शरीर भी नही सभाल पाता और न स्वय भोजन ही कर पाता है। उमे अपच रहता है, शरीर दुर्बल हो जाता है और स्वास्थ्य गिर जाता है।

४ बहिर्मुख विषाद—वहिर्मुख विपाद किसी बाहरी दु ख के आघात से होता है जो अस्थिर होता है और कुछ समय बाद समाप्त हो जाता है।

५ अन्तर्मुख विषाद—यह शरीर और मन की निर्बलता से होता है तथा दीर्घ-काल तक स्थायी है।

६ संवेगात्मक विषाद—तीव्र शोक आदि से उत्पन्न असह्य और दु खद होता है।

७ असफलताजन्य विषाद—रोजगार, प्रतिष्ठा या पद-प्राप्ति मे या प्रेम मे सफल न होने पर उत्कट विपाद होता है और व्यक्ति असामान्य हो जाता है।

उपचार

१ कारण की खोज कर उसका निराकरण करना चाहिए।

२ धैर्य, आश्वासन, हर्षण, सन्तोष देना और अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करना आवश्यक है।

३ उन्माद-अपस्मार मे वर्णित चिकित्सा और पथ्य का प्रयोग करना चाहिए।

अव्यवस्थितचित्तता : अन्तराबन्ध

(Schizophrenia)

परिचय—इस रोग से ग्रस्त मानसिक रोगी असामाजिक, भावुक, प्राय शान्त-चित्त, एकान्तप्रिय, आलसी, निष्क्रिय और दिन मे सोनेवाला होता है। वह ऐसी नौकरी या व्यवसाय करना चाहता है, जिसमे जनसम्पर्क कम हो या न हो।

कारण

१ इस रोग को उत्पन्न करने वाले कारणो मे रोगी के महत्त्वाकाक्षी और तीव्र प्रशासन करने वाले पिता का प्रमुख हाथ होता है।

२ दैहिक कारण—यह रोग अन्त स्रावी ग्रन्थियो की विकृति से उत्पन्न होता है।

३ अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के अनुकूल अपने को ढालने अथवा समायोजित करने मे असफलता के कारण यह रोग होता है।

४ बौद्धिक-हीनता एव दूषित मन की वश-परम्परा भी इसका कारण है।

५ जीवन की वास्तविक समस्याओ के समाधान न होने की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी यह रोग होता है।

६ आलसी स्वभाव और दोषपूर्ण आदतो की प्रतिक्रिया से भी यह होता है।

लक्षण

१ यह रोगी सवेदनशील, अन्तर्मुखी वृत्तिवाला, आत्म-सीमित तथा एकाकीपन को पसन्द करता है।

२ यह आलसी, निष्क्रिय और सवेगात्मक प्रतिक्रियाओ से शून्य होता है। इसके सामने किसी का घर जल रहा हो, तो इसके ऊपर इसकी कोई प्रतिक्रिया नही होती। जैसे—**रोम जल रहा था और नीरो वंशी बजा रहा था।**

३ यह रोगी जोर-दबाव देने पर जब कोई कार्य करता है तो अस्त-व्यस्त और असामान्य हो जाता है।

४ इस रोगी मे सामाजिक भावना की अत्यधिक कमी होती है। यह एकाकी और मित्रविहीन होता है।

५ वह अकारण हँसने, रोने या कराहने लगता है और अचानक क्रुद्ध होकर समीपस्थ व्यक्ति को मारने-पीटने लगता है। कभी यह अशुभ समाचार सुनकर प्रसन्न और शुभ समाचार सुनकर खिन्न हो जाता है।

६ रोगी को कभी-कभी ऐसा **भ्रम** हो जाता है, जिससे वह सीप को चाँदी या ऐंठी रस्सी को साँप समझ बैठता है। हित को अहित और अहित को हित समझने लगता है।

७ वह धूप मे बादल, रात मे 'सूर्य-किरण, अस्तित्वविहीन शब्द-स्पर्श-रूप क अनुभव करता है। अनुपस्थित धमकी, तिरस्कार या प्रशसायुक्त शब्दो को सुनात है। वह **विभ्रम** (अवस्तु मे वस्तुबोध) से त्रस्त होता है।

८ वह असम्बद्ध, निरर्थक, अप्रासङ्गिक और अनर्गल बाते करता है।

९ उसके लेखन मे भी विचित्रता होती है, जिसे कोई पढ नही सकता और जिसका कोई अर्थ नही होता।

१० उसके विचार अस्पष्ट और निरर्थक होते है, जिनकी कोई शृखला नही होती और वे अपूर्ण एव उलझे हुए होते है।

११. ऐसे रोगी मे प्रज्ञापराध के लक्षण हो जाते है। उसकी बुद्धि का ह्रास हो जाता है, स्मृति लुप्त हो जाती है, धैर्य नष्ट हो जाता है और विवेक जाता रहता है।

१२ शारीरिक दृष्टि से वह अस्वस्थ रहता है। उसे नहाने-धोने, खाने-पीने, सोने-जागने के क्रम का ध्यान नही रहता है।

प्रकार

विद्वज्जन इसके निम्नलिखित चार प्रकार मानते है—१ सामान्य, २ मनो कुण्ठात्मक, ३ सामञ्जस्य-ह्रासात्मक और ४. सविभ्रम।

१ यह निष्क्रिय, निराश, आकांक्षाहीन, एकान्तप्रिय और आवारो जैसा घुमक्कड होता है।

२. यह मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति वाला, विचित्र भ्रमयुक्त, वालबुद्धि, क्षण मे रुष्ट, क्षण मे सतुष्ट, अस्पष्टभाषी, अकारण हास्य-रोदनकारी और अस्थिरचित्त होता है।

३ यह छोटी-छोटी वात मे घवडाने वाला, उदासीन, आलसी और शिथिल शरीर वाला होता है।

४ इसे सदैव यह भ्रम वना रहता है कि कोई मुझे मारने का षड्यन्त्र रच रहा है या धमकी दे रहा है आदि।

उपचार

१ एकान्त मे न रहने दें, परिवार मे रखें और समाज के सम्पर्क मे रखने का प्रयत्न करे।

२ इसे किसी कार्य मे लगाये रखें और सम्मान के साथ परिवार मे समायोजित करे।

३ कोई दक्ष परिचारक साथ रहे, ताकि उत्तेजित होने पर मारपीट न करने लगे।

४ चिकित्सक उसे यह आश्वासन दे कि उसकी समस्याएँ जान ली गयी है और उनका समाधान हो जायेगा।

५ रोगी के अकेलापन को भग करे तथा उसे मित्रो एव हितैषियो के सम्पर्क मे रखे।

६ रोगी को यह समझा दे, कि वह अपने भ्रम-विभ्रम को, सपनो को और भय आदि को जिस किसी से न कहता फिरे, अन्यथा लोग उसे पागल समझेंगे।

७ रोगी का स्नेहन-स्वेदन करके यथावश्यक वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन-नस्य और अञ्जन का प्रयोग करे।

८ **औषध**—रोगी को पुराना घृत उचित मात्रा मे गोदुग्ध मे पिलाये।

९ ब्राह्मी, वच, कूठ, शखपुष्पी, शतावर, सौंफ, हीग, तगर-सिद्ध घृत दे।

१० जीवनीय घृत, ब्राह्मी घृत, पैशाचिक घृत या कल्याण घृत दे।

११ **सिद्धरस**—स्मृतिसागर, ब्राह्मीवटी, चतुर्भुज, चिन्तामणिचतुर्मुख, वृहद्वात-चिन्तामणि एव वातकुलान्तक रस उचित मात्रा और अनुपान से दे।

१२ प्रात -साय और सोते समय रात मे सर्पगन्धा घनवटी ½ ग्राम/१ मात्रा गोदुग्ध से दे। भोजनोत्तर अविपत्तिकर चूर्ण ४–४ ग्राम सुखोष्ण जल से दे।

पथ्यापथ्य

उन्माद और अपस्मार मे कथित के अनुसार पथ्य दे और अपथ्य वर्जित करे।

भ्रम

(Illusion or Delusion)

परिचय—यह ज्ञान, बोध या उपलब्धि के व्यतिक्रम का महत्त्वपूर्ण विकार है।

लक्षण

१. किसी सत्य वस्तु मे असत्य वस्तु का भान या ज्ञान होना **भ्रम**[1] कहलाता है।

२ किसी वस्तु मे अपने स्वरूप को न छोडते हुए दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना **भ्रम** है, इसे दर्शनशास्त्र मे विवर्त या अध्यास कहते है। जैसे—रस्मी का अपने रूप का विना परित्याग किये सर्प रूप मे प्रतीत होना, मिथ्या प्रतीति या भ्रम है।

---

1 In the case of an illusion, there is misinterpretation of sensory stimulus, for instance a **'rope'** is mistakenly as being a **'snake'**
—Clinical Diagnosis, edition 1977 page 411

३ भ्रम, भ्रान्ति, विपर्यय या मिथ्याज्ञान—ये पर्यायवाची शब्द है ।[१] जो पदार्थ जैसा है, वैसा न दिखलाई देकर दूसरा ही मालूम पडे, जैसे—सीप को चांदी समझना भ्रान्ति या भ्रम है ।

वक्तव्य—भ्रान्ति एक प्रकार का चित्तव्यापार है । किन्तु यह यथार्थ नही होता, इसलिए यथार्थज्ञान से भ्रान्ति का नाश होता है । जैसे—चमकती सीप को हम चाँदी समझकर हाथ मे उठा लेते है, परन्तु हाथ मे लेकर देखते ही जब हमे मालूम हो जाता है कि यह सीप है, तो हम उसे फेक देते है ।

भ्रम—प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो मे ही भ्रम हो सकता है । प्रत्यक्ष ज्ञान मे न्यूनता होने पर भ्रम होता है, यद्यपि वह इन्द्रियप्रत्यक्ष हो अथवा मानसप्रत्यक्ष । इसी प्रकार सशययुक्त अनुमान मे भी भ्रम होता है । **भ्रम का आधार ज्ञान है,** क्योकि वही मिथ्या या विपरीत हो जाता है । वस्तु तो ज्यो की त्यो रहती है और उसमे कोई विपर्यय (बदलाव) नही होता है ।

विभ्रम या अवस्तुबोधन

(Hallucination)

परिचय—यह भ्रम के आगे की स्थिति है, जिसका कोई आधार नही होता । यह अस्तित्वविहीन मिथ्याज्ञान है ।

लक्षण

१ जब किसी वस्तु का अस्तित्व न होने पर भी उस वस्तु की सत्ता प्रतीत होती है, तो इस **अवस्तु बोधन** को **विभ्रम**[२] कहते है । इसका कोई आश्रय या मूलाधार नही होता । इसलिए इसको **निर्मूल भ्रम** कहते है ।

२ इसमे कोई बाह्य उद्दीपक नही होता है, फिर भी इन्द्रियार्थों की (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की) मिथ्या प्रतीति होती है[३] ।

३ रोगी को विभिन्न प्रकार की धमकी, तिरस्कार अथवा प्रशसा भरी ध्वनियाँ सुनाई देती हैं जो अवास्तविक एव अस्तित्वविहीन होती है ।[४]

---

१ (क) वस्तुन स्वस्वरूपापरित्यागेन वस्त्वन्तरमिथ्याप्रतीतिर्भ्रम. । वेदान्तसार (अपवाद)
(ख) विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । —योगसूत्र १।८

* *

अतस्मिस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः । —प्रशस्तपादभाष्यम् ।
(ग) मिथ्याज्ञान विपर्यय , यथा शुक्ताविद रजतमिति । —तर्कसग्रह ।

2 In case of hallucination, perception takes place in the absence of a stumulus

3 In the case of hallucination, repressed psychological material is projected through one or other of the senses, resulting in auditory, visual, tactile, gustatory or olfactory hallucination

4. Auditory hallucinations are common in paranoid schizophrenia

४ रोगी को दिव्य अलौकिक चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखलाई देते हैं, जो मिथ्या होते हैं।

५. उसे अस्तित्वविहीन वस्तुओं के स्वाद का अनुभव होता है।

६ रोगी को विचित्र गन्ध मालूम होती है, जो वस्तुत: अस्तित्वविहीन होता है। इसी प्रकार—

७ रोगी को अस्तित्वविहीन कृमियों के शरीर पर रेंगने या उसके स्पर्श का अनुभव होता है।

सापेक्ष निदान

भ्रम	विभ्रम
१. यह वस्तुनिष्ठ होता।	१ इसमे किसी वस्तु का अस्तित्व नही होता।
२ इसमे बाह्य उद्दीपक होता है।	२ इसमे ऐसा नही होता।
३. वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है।	३ अस्तित्वहीन वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है।
४ इसका कोई आधार होता है।	४ यह निराधार और काल्पनिक होता है।

संविभ्रम : स्थिर व्यामोह

(Páranoia)

परिचय—जब किसी व्यक्ति मे भ्रम का स्थिर निवास होता है, तो उसे 'सविभ्रम' कहते हैं। यह एक प्रकार की प्रवृद्ध भ्रमावस्था है।

लक्षण

१ रोगी को सदैव यह भ्रम रहता है कि कोई उसे कष्ट पहुँचाने के लिए उद्यत है और सकता है कि वह भोजन मे विष मिलाना चाहता हो।

२ उसका भ्रम स्थायी होता है और अपने अगल-बगल की प्रत्येक वस्तु को वह खतनाक समझता है।

३ रोगी अहकारी होता है और अपनी जिद पर हठ करता है।

४ वह महत्वाकाक्षी और उच्च अभिलाषा वाला होता है।

५ रोगी किसी पर विश्वास नही करता है और सबको सन्देह की दृष्टि से देखता है।

The patiant may hear pleasant or more of ten unpleasant, derogatory obsence or accusing remarks in the perm of voices coming from within or without Hallucinations of a commanding nature may be convincing or compelling enough to result in direct and dangerous actions
—Clinical Diagnosis page 411

६ वह कल्पना लोक मे विचरण करता है और दूसरो को सजा देने की बात सोचता है।

७ उसे ऐसा अनुभव होता है कि सभी लोग उसके विरुद्ध हैं।

८ उसे अपनी हत्या कराये जाने का भ्रम बराबर बना रहता है।

चिकित्सा

१ प्राय भ्रम, विभ्रम और सविभ्रम के रोगियो मे अनिद्रा होती है। अत उन्हे निद्राप्रद औषध दे। सर्पगन्धा घनवटी को आधा-आधा ग्राम, सवेरे-शाम और रात मे दें।

२ सारस्वत चूर्ण, ब्राह्मीवटी, स्मृतिसागर रस, कल्याणघृत, कल्याण अवलेह, अश्वगन्धारिष्ट तथा सारस्वतारिष्ट को रोगी के अनुरूप मात्रा और अनुपान से दे।

३ शिरोऽभ्यङ्ग कराये, एतदर्थ विष्णु तैल, हिमाशु तैल, चन्दनादि तैल या पुराणघृत का प्रयोग करे।

४ उन्माद एव अपस्मार मे कथित चिकित्सा करना श्रेयस्कर है।

व्यामोह–मिथ्याविश्वास-संघर्ष

(Delusion)

परिचय—यह एक ऐसी गलत धारणा वाला रोग है, जिसे किसी भी प्रमाण से सही नही सिद्ध किया जा सकता। यह एक प्रकार का उन्माद जैसा रोग है, जो अनेक प्रकार के मानस रोगो मे एक लक्षण के रूप मे पाया जाता है।

लक्षण

१ रोगी द्वारा अपने को किसी भी क्षेत्र मे सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम और महानतम होने का दावा करना, उसका मिथ्याविश्वास-सघर्ष कहा जाता है।

२. वह आशा के पाश मे बँधा रहता है तथा कामी, क्रोधी और लोभी होता है। वह अपने को धनवान्, परिजनवान् और अति सम्मानित समझता है।

३ उसमे ईर्ष्या और द्वेष की भावना अधिक होती है। वह महान् अहकारी होता है और उसे अपने बल तथा धन-जन का अपार दर्प रहता है।

४ किसी क्षेत्र मे सफलता मिल जाने पर ऐसे व्यक्ति के मानसपटल पर मिथ्या-विश्वास का जन्म होता है।

विभिन्न विषयो के अनुसार पाँच प्रकार

१ **आत्म अवमूल्यन**—रुग्ण को ऐसा प्रतीत होता है, कि उसका जीवन अनुपयोगी है। वह असत्कर्म करनेवाला, आचरणहीन और अपराधी है। वह मृत्यु की गोद मे सो जाना चाहता है।

२ **अनर्थकारी चिन्तन**—रोगी को यह भ्रम हो जाता है कि वह असाध्य रोग से ग्रस्त है और उसका जीवन राजयक्ष्मा एव कैन्सर आदि के चगुल मे है।

३. बड़प्पन की भावना—रोगी अपने को उच्चकोटि का शासक, धनवान्, भाषणकर्ता तथा समाज का अग्रणी नेता मानता है।

४ दण्डित होने की आशङ्का—यह रोगी सदैव इस सन्देह मे रहता है, कि कुछ लोग उसके विरुद्ध झूठी अफवाह फैला रहे है और उसे मारने-पीटने या हत्या करने की योजना वना रहे है।

५ शङ्कालुता—उसे दूसरे लोगो की फुसफुसाहट मे अपने आहत होने की मिथ्या ध्वनि सुनाई पडती है। वह जहाँ भी दो चार लोगो को बैठे देखता है, उसे यह भय हो जाता है कि ये मेरी ही वात कर रहे है, एव मेरे विरुद्ध साजिश कर रहे है।

उपचार

इसमे उन्माद मे कथित चिकित्सा-व्यवस्था करनी चाहिए।

मनःसंघर्ष-मनोनाड़ीदौर्बल्य-मनःश्रान्ति

(Neuresthenia)

परिचय—यह मस्तिष्कदौर्बल्य और हीनमनस्कतायुक्त रोग है। इसमे किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रमजनक कार्य किये विना ही शरीर और मन श्रान्त, क्षुब्ध तथा अवसादग्रस्त होते हैं।

कारण

१ अति परिश्रम, शोक चिन्ता, चिरकालिक शारीरिक रोग, रक्ताल्पता।

२. मद्यपान, मन की दुर्वलता, भीरुता, कायरता, नाडी-दौर्बल्य, असयम।

३ जीवन-सग्राम की कठिनाइयाँ, आर्थिक अभाव, असहिष्णुता, वीर्याल्पता।

४ अति मैथुन-मित्रमण्डली का अभाव, कार्य-व्यवसाय मे घाटा और आनुवशिकता आदि प्रमुख कारण है।

लक्षण

१. रोगी आत्मकेन्द्रित होता हे। वह अपने ही ताने-वाने मे मशगूल रहता है।

२ उसे न तो ऊधो से लेना पसन्द है, न ही माधो को देना चाहता है।

३ उसका मन विचलित, श्रान्त तथा उदास रहता हे एव शरीर शिथिल होता है।

४ वह रोजमर्रा की जिन्दगी का वोझ नही सम्भाल पाता और वेचैन रहता है।

५ छोटी-छोटी वातो मे आवेश और तैश मे आ जाता है तथा चिडचिडा हो जाता है।

६ वह 'शरीर व्याधिमन्दिरम्' का अनुगामी होता है और अपने शरीर को तरह-तरह के रोगो से ग्रसित हुआ मानता है।

७ क्षुधानाश, अनिद्रा, अजीर्ण, उदावर्त, विवन्ध, शिर शूल, मलावरोध, जँभाई, कटि-पृष्ठशूल और नपुसकता का अनुभव करता है।

८ उसका रक्तचाप न्यून होता है और नाडी की गति अनियमित रहती है। उसे अगो मे झिनझिनी, ठडक या शून्यता की प्रतीति होती है।

९ शिर शूल शिरोभ्रम, निद्रानाश, अक्षम पाचनशक्ति, मानसिक अशान्ति, सहिष्णुता का ह्रास, हृदय-गति का आधिक्य, मुखाकृति-रक्तिमा और स्वेदाधिक्य—ये लक्षण होते है।

चिकित्सासूत्र

१ रोगी की मन स्थिति और रोग के कारण का अध्ययन कर उसकी चिन्ताओ को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

२. रोगी को शान्त वातावरण मे रखना चाहिए और शीतल जलावगाहन कराना चाहिए।

३ भोजन-वस्त्र आदि आवश्यक सामग्री यथासमय उपलब्ध कराये।

४ रोगी के मनोऽनुकूल स्थानो मे उसे सैर-सपाटे के लिए ले जाना चाहिए।

५ शान्तिपूर्वक रखने के लिए उसे कोई अभाव न खटकने दे।

६ सयमित और सन्तुष्ट जीवन विताने की प्रेरणा और उपदेश दे।

७ जिन कारणो से उत्तेजना होती हो, उन्हे दूर करे और पूर्ण विश्राम दे।

८ रोगी के पसन्द के कार्य-व्यवसाय मे उसे लगाये, ज्यादा जोर-दबाव न दे।

चिकित्सा

१ यदि मलावरोध रहता हो तो, सवेरे-शाम—शिवाक्षारपाचन चूर्ण २-२ ग्राम और रात मे सोते वक्त—पट्षकार चूर्ण ८–१० ग्राम मुखोष्ण जल से दे।

२ क्षुधावृद्धि और पाचनशक्ति को बेहतर बनाने के लिए भोजन के पूर्व दोनो समय भोजन के प्रथम ग्रास मे घी के साथ हिग्वष्टक चूर्ण ३–३ ग्राम मिलाकर दे तथा भोजन के बाद दोनो समय द्राक्षासव २५–२५ मि० ली० समान जल से पिलाये।

३ वीर्यसम्बन्धी विकार हो तो चन्द्रप्रभावटी, चन्दनासव, शिलाजीत, त्रिवग भस्म, पूर्णचन्द्र रस एव शतावरी चूर्ण उचित मात्रा एव अनुपान से दे।

व्यवस्था-पत्र

१ प्रात -साय—

स्मृतिसागर रस	२५० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	२५० मि० ग्रा०
उन्मादगजाकुश	२५० मि० ग्रा०
ब्राह्मी-स्वरस व मधु मे।	२ मात्रा

२ ९ बजे व २ बजे—

वातकुलान्तक रस	५०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
मधु मे।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार—

अश्वगन्धारिष्ट	५० मिली०
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

४ रात मे सोते वक्त—

सर्पगन्धा घनवटी	१ ग्राम
गोदुग्ध से ।	

पथ्यापथ्य

पुराना जौ, गेहूँ, चावल, मूँग की दाल, लौकी, परवर, नेनुआ, सहिजन, करेला, दूध, दही, घी, मक्खन, मुनक्का, किशमिश, सेव, सन्तरा, मोसम्मी एव मनोऽनुकूल पथ्य दे ।

अपथ्य

मद्य, माम, मछली, अण्डे और तीक्ष्ण द्रव्यो का परित्याग करे। तम्बाकू, चाय, सिगरेट आदि नशे की चीजो से परहेज रखे ।

मनोग्रन्थि

(हठ और बाध्यतायुक्त मानसिक रोग)

(Obsessional Compulsive Neurosis)

परिचय—इस रोग मे रोगी के मन मे किसी कार्य के प्रति ऐसी **झक या हठ** उत्पन्न हो जाती है, जिससे बाध्य होकर वह उस कार्य को तल्लीनता से करता रहता है । जैसे—नीरोग रहने पर भी बार-बार चिकित्सक से परामर्श लेना, चोरी करना या दूसरो को अपमानित करना तथा उन्हे हानि पहुँचाना आदि ।

कारण

१. यह रोग किन्ही मानसिक तनावो, द्वन्द्वो या तीव्र सवेगो के दबाव के फलस्वरूप हो जाता है । जैसे—उत्पीडन मे त्रस्त होकर कुछ लोग साधु-सन्यासी या डाकू बन जाते है ।

२ यह रोग आनुवशिक होता है ।

३ तीव्र यौनेच्छा के दमन से भी इसकी उत्पत्ति होती है ।

४ सामाजिक, नैतिक या आर्थिक सकट का सामना न कर पाना भी इस रोग को जन्म देता हे ।

५ व्यावसायिक चिन्ता या विकृत विचारो के कारण भी होता है

लक्षण

१ यह एक प्रकार का उन्माद है, जो कारण के अनुरूप लक्षणो वाला होता है ।

२ कोई व्यक्ति चलते-फिरते किसी विचार मे तल्लीन हो जाता है और

आवेश मे आकर, मुट्ठी कसकर, ओठ भीचकर, आकाश मे हाथ फेककर, गर्दन और शिर हिलाकर अकेले असम्बद्ध बात करने लगता है।

३. कोई व्यक्ति स्वच्छता के प्रति इतना अधिक सवेदनशील हो जाता है कि वह बतासा-पेडा तथा चीनी धोकर खाता है और लकडी धोकर जलाता है। किसी के शरीर का स्पर्श होने पर, शौच जाने पर और भोजन करने के पूर्व स्नान करता है और इसी तरह प्रत्येक कार्य मे असामान्य ढग की सफाई करता है।

४ कोई रोगी अपनी वेशभूषा, क्रीज, कालर और शिर के बालो की सेटिंग निहारता है तथा मुड-मुड कर कन्धे को देखता है।

५ कुछ लोगो को दूसरो को हानि पहुँचाने की झक, विषय-सम्भोग की झक या नशा करने की झक हो जाती है।

६. ऐसा रोगी बार-बार किसी बात को सोचता रहता है और ज्यो-ज्यो उसे भूलने की कोशिश करता है, त्यो-त्यो वह चिन्ता स्मृति-पटल पर उभड जाया करती है, जिसे वह भूलना चाहने पर भी नही भूल पाता।

७ किसी-किसी के मन मे विकृत विचार घर बना लेते हैं और ऐसा व्यक्ति असामान्य आचरण करने लगता है। जैसे—बार-बार हाथ धोना, दिन मे कई बार नहाना, प्रत्येक वस्तु को अनावश्यक झाडते-पोछते रहना, तुच्छ वस्तुओ को चुराना, बार-बार रोग का निदान कराना और औषध खाना और इसी तरह के अनर्गल कार्यों को करता रहता है।

८ यह रोगी सफाई, तौर-तरीका, तहजीब, शिष्टाचार, अनुशासन की पाबन्दी के प्रति ज्यादा जागरूक रहता है।

९ वह किसी भी कार्य को शीघ्र पूरा कर लेने के प्रति हठी होता है।

१०. यह कठोर परिश्रमी, अति सचेत और अपनी ड्यूटी का पक्का होता है।

११ वह कष्ट सहने के लिए तैयार रहता है, किन्तु अपने हठ से टस-मस नही होता। वह किसी भी कार्य मे ढीलापन नही पसन्द करता और अपने को हमेशा सीन-काफ दुरुस्त रखता है।

चिकित्सा

इसमे उन्माद रोग की ही तरह सम्पूर्ण चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।

वृद्धावस्थाजन्य मनोविकार

(Senile Psychosis)

परिचय—यह प्राय ७० वर्ष या उससे अधिक आयु मे होने वाला रोग है, जब कि मनुष्य की शारीरिक धातुओ तथा मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है। यह अल्पबुद्धि एव अल्पसाधन वाले व्यक्तियो को अधिकाश होता है।

कारण

१ प्रौढावस्था मे किसी मनोरोग से आक्रान्त होना ।

२. ७० वर्ष के आस-पास की आयु होना तथा जीवन की आवश्यकताओ का पूरा न होना तथा विविध साधनो का अभाव ।

३ किसी मानसिक आघात से बुद्धि एव स्मृति का मन्द हो जाना ।

लक्षण

१ चिड-चिडापन, संवेदनशीलता, स्मृतिनाश, तीव्र स्वार्थपरता, अनुदारता, चिन्ता की अधिकता और स्वभाव मे परिवर्तन हो जाता है ।

२ हठ, क्रोध, विचार-सकोच, व्याकुलता और लापरवाही वढ जाती है ।

३. अपनी वस्तुओ, वस्त्रो और कपडो को अव्यवस्थित रखता है ।

४. वह परिचितो की आकृति और नाम भूल जाता है और एक ही वात वार-वार पूछता है ।

५ वह आशका से ग्रस्त होता है और लोगो पर विश्वास नही करता । उसे यह डर वना रहता है कि लोग मेरी सम्पत्ति हडपना चाहते हैं, इसलिए कही मुझे जहर न दे आदि ।

६. उसे कपडे पहनने, उन्हे स्वच्छ रखने और तरतीव से रखने मे कोई रुचि नही होती ।

७ वह आत्मकेन्द्रित, ईर्ष्याद्वेष की भावना वाला तथा भुलक्कड स्वभाव का होता है ।

८ कभी-कभी वह वालको जैसा हठ और वार्तालाप तथा व्यवहार करता है ।

९. वह अधिकाश किसी कार्य की सफलता के प्रति सन्दिग्ध रहता हे ।

१०. वह सभी कार्य के अन्धकार पक्ष को ही देखता है और विषादग्रस्त रहता हे ।

११. कदाचित् वह सारी रात जागता रहता है और कामवासना से वेचैन हो जाता है ।

उपचार

१ रोगी को जितने से सन्तोष हो, उसके लिए आसन-ओढना-विछावन-चादर-तौलिया, पहनने के वस्त्र एव जलपात्र-वाल्टी आदि स्वतन्त्र दे दे ।

२ उसे शान्त एव निरापद स्थान मे रखे, जहाँ शोर-शरावा कम हो ।

३ भोजन और विश्राम की समुचित व्यवस्था करे और पूछ-पूछ कर वह जो कहे उसे प्रेम से सुने और उसे पूरा कर उनसे आशीष माँगे ।

४. इस प्रकार के उत्तम व्यवहार से वृद्ध को प्रसन्न रखना सभी परिजनो का नैतिक कर्तव्य है ।

त्रयोदश अध्याय

आत्ययिक चिकित्सा, तरल-वैद्युत्-अम्ल-क्षार के असन्तुलनजन्य विकार, दग्ध दाह एवं तीव्र रक्तस्राव

आत्ययिक चिकित्सा

निर्वचन—'अत्ययस्य इदम् आत्ययिकम्' अर्थात् विनाशकारी घटना।

अत्यय के पर्याय—अतिक्रमण, कृच्छ्र, दोष, [1]दण्ड, पञ्चता, कालधर्म, दिष्टान्त, प्रलय, अन्त और नाश[2]—ये सभी पर्यायवाची शब्द है।

अत्यय शब्द का अर्थ—आकस्मिक घटना, सकट कठिन परिस्थिति, किसी भी सीमा को पार कर जाना, दोष की अधिकता, दण्ड, काल का स्वभाव, प्रलय और विनाशकारी स्थिति—ये अत्यय शब्द के अर्थ है।

आत्ययिक की परिभाषा—चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से आत्ययिक शब्द का अभिप्राय किसी रोग की उस मृत्यु-भयजनक खतरनाक परिस्थिति से है, जब रोगी मरने की स्थिति मे हो और यदि यथासमय समुचित चिकित्सा नही उपलब्ध हो पाती है, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

स्वरूप—आत्ययिक स्थिति अचानक किसी दुर्घटना के कारण भी हो जाती है। अथवा रोगी के रोग के बढ जाने या किसी प्राणघातक उपद्रव के उत्पन्न हो जाने या रोगी मे पहले से उपस्थित लक्षणो के ही उग्र रूप धारण कर लेने से आत्ययिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार **किसी रोगी की मृत्यु होने की आशङ्का की स्थिति को आत्ययिक कहते हैं।**

प्रकार—१ यह स्थिति आगन्तुक बाह्य आघात करनेवाले कारणो अथवा आभ्यन्तर के शरीर-धारक तत्त्वो के विनाशकारी प्रदूषण से होती है।

२ यह अवस्था रोगी के [3]असाध्य लक्षण या सम्पूर्ण लक्षणो के उत्पन्न होने पर होती है।

३ रोगो के मृत्युसूचक अरिष्ट[4] लक्षणो का उदय होना आत्ययिक है।

---

१ अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽपि। —अमर० ३।३।१५०

२ स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्त प्रलयोऽत्ययः।
अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरण निधनो स्त्रियाम्॥ —अमर० २।८।११६

३ —तद्वत् प्रत्याख्येय त्रिदोषजम्। क्रियापथमतिक्रान्त सर्वमार्गानुसारिणम्॥
औत्सुक्यारतिसम्मोहकरमिन्द्रियनाशनम्। दुर्बलस्य सुसवृद्ध व्याधि सारिष्टमेव च॥
—चरक० सूत्र० १०।१९-२०

४ नियतमरणख्यापक लिङ्गम् अरिष्टम्। —मा० नि० पञ्चनिदान श्लोक २, मधुकोश।

४ शरीर के प्रधान मर्म,[1] यथा—हृदय, वस्ति और शिर की क्रियाओ का व्यतिक्रम होना आत्ययिक है अर्थात् यदि किन्ही विकृतियो के कारण हृदय का या मस्तिष्क का या वृक्को का कार्य-व्यापार अवरुद्ध हो जाता है, तो आत्ययिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

५ ज्वर का तीव्र हो जाना, तीव्र श्वासकष्ट, शरीर के जलाश की अल्पता, तीव्र उदरशूल, मूर्च्छा, हिचकी, तीव्र रक्तस्राव, मन्यास आदि का होना आत्ययिक रोग के प्रकार हैं ।

सामान्य सिद्धान्त और सावधानी

१ जब कोई रोगी आत्ययिक (मरणोन्मुख) अवस्था मे चिकित्सक के पास आये, तो चिकित्सक का सर्वोपरि कर्तव्य है--रोगी के प्राण की रक्षा करना । जैसे घर मे आग लगी हो तो प्राथमिक कर्तव्य होता है—आग को बुझाना[2] ।

२ आत्ययिक स्थिति मे जब रोगी वेदना को बर्दास्त न कर पाने की स्थिति मे चीख-पुकार कर रहा हो, उस समय तात्कालिक वेदना-निवारक औषध तथा उपचार करना चाहिए ।

३ रोगी के सकटहरण की आवश्यक व्यवस्था करने के पश्चात् रोग को किसी योग्यतम या उस रोग के विशेषज्ञ चिकित्सक के पास अविलम्ब भेज देना चाहिए ।

४ विष-औषधो को बच्चो की पकड से दूर और लेबिल लगाकर सुरक्षित स्थान मे रखना चाहिए ।

५. विषैले पदार्थों को अति सुरक्षित ताला-बन्द स्थान मे रखे, जहाँ खाने-पीने की वस्तुएँ न रखी जाती हो ।

६ सकटकालोपयोगी औषधो को हमेशा तैयार रखना चाहिए । इन्हे ऐसे स्थान मे रखे जिससे जरूरत पडने पर तुरन्त मिल जाये ।

७ आकस्मिक चिकित्सा मे अपने आस-पास जो भी उपयोगी वस्तुएँ मिल सके उनका प्रयोग करना चाहिए ।

८ रोगी को श्वास लेने-मे कठिनाई हो, तो तुरन्त कृत्रिम श्वास देने की व्यवस्था करे ।

९ यदि रोगी को वमन हो रहा हो, तो उसकी गरदन एक पार्श्व मे घुमाकर रखे, अन्यथा वमन पदार्थ श्वासनली मे जाकर श्वास की रुकावट पैदा कर सकता है ।

१० रोगी का स्थानान्तरण तब तक न करें जब तक उपयुक्त वाहन न मिले । एम्बुलेस या स्टेशन-वैगन द्वारा स्थानान्तरण कराये ।

अरिष्ट का उदाहरण—
शयनं वसन यान गमन भोजन रुतम् । श्रूयतेऽमङ्गल यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥
—चरक० इ० १२।३६

१. मर्माणि वस्ति हृदय शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञा । —चरक० चि० २६

२ आतिपातिषु रोगेषु भिषग् विधिमिम चरेत् । प्रदीप्तागारवच्छीघ्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥

११ रोगी का जब तक ठीक-ठीक निदान न हो जाये, तब तक उसे उठने-बैठने, चलने-फिरने की इजाजत नही देनी चाहिए।

१२ रसोईघर के कर्मचारियो को सावधान करते रहना चाहिए कि खाद्य-सामग्री की जाँच-परख करके ही उनका प्रयोग करे और भडारघर मे केवल खाद्य सामग्री ही रखे। सभी समान ढँक कर रखना चाहिए।

१३ खाद्य और पेय पदार्थ अपने निर्धारित स्थान पर रखने चाहिए।

१४. घर-गृहस्थी के सामान तथा औषधो को उनके निश्चित स्थान मे ही रखना चाहिए, जिससे ढूढने मे परेशानी न हो।

१५ अन्धेरे मे कोई खतरनाक काम नही करना चाहिए। अनाडी आदमी को बिजली मिस्त्री का काम नही करने दे। गैस के चूल्हे को सावधानी से बन्द करना चाहिए। रसोइया को सदा ही सावधान रहना चाहिए कि खाद्यपदार्थ सुरक्षित रखी जाय। उसे आग की भट्ठी से भी सर्वदा सावधान रहना चाहिए।

तरल-वैद्युत्-अम्ल-क्षार (Electrolyte substence) के असन्तुलनजन्य विकार[1]

जल-असन्तुलनजन्य विकार और उनका उपचार

जल शरीर का पोषक और क्षतिपूरक है। शरीर के घटक द्रव्यो मे जल का सर्वप्रमुख स्थान है। शरीर का ७० प्रतिशत भाग जल से निर्मित होता है। अस्थि जैसी कठोर धातु मे भी जल लगभग अर्धांश है। **शरीर के संवर्धन के लिए जल एक नितान्त आवश्यक द्रव्य है।** जल का अल्पमात्रा मे बार-बार पीना शारीरिक यन्त्रो के क्रियाकलाप के सचालन मे सहायक होता है, देखे—'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'।

शरीर के यन्त्रो की गतिशीलता के कारण शरीरगत जल का अनेक रूपो मे क्षय होता रहता है और उसकी **क्षतिपूर्ति के लिए जल पीना उपादेय हैं।** जल के निकलने का मुख्य स्रोत **मूत्रोत्सर्ग** है। जल आहार द्रव्यो के पाचन से उत्पन्न मलो को घोलकर मूत्रमार्ग से बाहर निकालता रहता है। **स्वेद** या पसीने के रूप मे भी जल का क्षय होता रहता है। स्वेद-निर्गमन से शरीरोष्मा के साम्य का नियन्त्रण होता है।

यदि जल का अथवा अन्य पेय द्रव पदार्थ का अल्प प्रमाण मे सेवन किया जाय या उष्ण वातावरण किंवा ग्रीष्मकाल के प्रभाव से पसीना अधिक निकलने लगे, तो मूत्र मे अपेक्षित जल की मात्रा घटने से मूत्र का घनत्व बढ जाता है, जिससे मूत्रगत मलभूत लवण का तलछट बैठकर अश्मरी = पथरी (Stone) या शर्करा (Gravel) के रूप मे परिणत हो जाता है। इसी प्रकार पित्ताशय मे पित्त का घनत्व अधिक होने पर पित्ताश्मरी (Gall stone) बन जाती है।

---

१. इस शीर्षक के लेखन मे 'डेविड्सन्स प्रिन्सिपल्स एण्ड प्रैक्टिस' लेखक—जॉन मैक्लीयॉट के १० वें संस्करण से साभार सहायता ली गयी है।

त्वचा और फुप्फुस से जल का वाष्पीभवन होने से भी जल का क्षय होता है। जल के क्षय का एक स्रोत मलोत्सर्ग भी है। महास्रोतस् मे जल का समुचित प्रमाण न होने से मल का द्रवत्व न्यून हो जाता है और मल ग्रथित तथा शुष्क हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप मलावरोध, अधोवायु का अवरोध, आनाह और अर्श आदि विकार हो जाते हैं।

आहार मे जल की मात्रा कम होने से आहार का पाचन और आहार रस का शोषण सम्यक् नही हो पाता है। पक्व आहार रस का द्रवत्व अल्प होने से अन्त्रकला द्वारा उसका यथावत् शोषण नही हो पाता, जिसके कारण शारीर धातुओ की पुष्टि और क्षतिपूर्ति समुचित रूप मे नही होती।

पोषण और क्षतिपूर्ति, इन दो प्रयोजनो के अतिरिक्त शरीर की अन्य आभ्यन्तर क्रियाओ के सम्पादन के लिए भी शरीर मे जल का यथायोग्य प्रमाण मे होना आवश्यक है। जल रसधातु के रूप मे शरीर मे सचार करता रहता है और कुछ स्थानो मे विभिन्न रूपो मे स्थिर भी रहता है, जैसे—नेत्रगोलक, अस्थिसन्धि, जिह्वातल आदि मे विभिन्न कफो के रूप मे रसमय जल उपस्थित रहता है। त्वचा के विभिन्न स्तरो मे वाह्य त्वचा का नाम उदकधरा है, जो अन्वर्थक है।

शरीर मे मूत्र, स्वेद आदि का निर्माण करनेवाले कोषो मे रस का यथोचित प्रमाण मे प्रवेश होता रहता है और वे अपने-अपने मलो को योग्य प्रमाण मे शरीर से वाहर निकालते रहते है एव शरीर को विशुद्ध रखते हैं। शरीर मे द्रवत्व की न्यूनता होने पर मलनिर्गमन नही हो पाता, जैसे विशूचिका मे मूत्रप्रवृत्ति का अभाव या मूत्राघात हो जाता है।

रस-रक्त मे द्रवत्व समुचित हो, हृदय द्वारा इनका प्रेषण और दवाव बलवान् हो, तो धमनियो एवं केशिकाओ मे पीडन यथायोग्य होता है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर के कोषो मे पोषक तथा धातुपाकोपयोगी अन्य द्रव्य योग्य प्रमाण मे यथासमय प्रविष्ट हो सकते हैं। इस दवाव को **रक्तचाप** (Blood pressure) कहा जाता है। किन्ही कारणो से जव हृदय के माससूत्र दुर्वल हो जाते है, जिससे हृदय का जितना पीडन होना चाहिए उतना प्रवल न होने से रक्त और रस का दवाव न्यून हो जाता है, इस स्थिति को धमनी-शैथिल्य या न्यून रक्तचाप (Low blood pressure) कहते है।

शारीरकोषओ को धातुपाक हेतु समुचित द्रव्यो की प्राप्ति तथा मलो के योग्य प्रमाण मे उत्सर्जन के लिए शरीर को जलापूर्ति की निरन्तर आवश्यकता होती है। जल धातुपाक और मलपाक की क्रियाओ को उद्दीपित करता है। अत एव कतिपय रोगो मे जल-चिकित्सा द्वारा आरोग्य-लाभ होते देखा जाता है। शरीर मे कार्बोहाइड्रेट आदि दहनशील पदार्थो के दहन से भी उनके कुल भार का आधा जल उत्पन्न होता है, इसीलिए चावल आदि द्रव्य मूत्रल होते हे। उपयोगिता की दृष्टि मे चौवीस घण्टे मे ५ पाइण्ट जल शरीर मे पहुँचाना ही चाहिए। जल शरीर के

प्रत्येक सेल का एक आवश्यक अवयव है। ऐसा कोई सेल नही, कोई तन्तु नही जहाँ जल का कुछ-न-कुछ अश न हो। शरीर के भार के १०० भागो मे ६४ भाग जल का होता है। जल ओषजन और उदजन का सयोजित है। उदजन के दो परमाणु और ओषजन के एक परमाणु के रासायनिक सयोग से जल का एक अणु बनता है। जल का रासायनिक सकेत H_2O है। शरीर मे प्रोटीन्स, वसा और कार्बोज के ओषजनीकरण से जल उत्पन्न होता है। रक्त और लसीका का अधिकाश जल ही होता है।

शरीर के कारण द्रव्य

मुख्य रूप से बारह मूलद्रव्य कोषो या उनसे बने शरीर का निर्माण करते हैं। उनमे भी प्रधान तीन है—१ कार्बन, २ उदजन (Hydrogen) और ३ ओषजन (Oxygen)। शेष नौ द्रव्य निम्नलिखित हैं, जिनका प्रमाण उक्त तीन द्रव्यो की अपेक्षा अत्यल्प होता है—१ नाइट्रोजन, २ फॉस्फोरस, ३ सोडियम, ४ पोटैशियम, ५ क्लोरीन, ६ कैलसियम, ७ आयरन, ८ मैग्नेशियम और ९ गन्धक।

ये द्रव्य विभिन्न समासो (Compounds) के रूप मे शरीर मे रहते है। इन समासो को दो प्रकारो मे विभक्त किया जा सकता है—१ सेन्द्रिय समास या वे समास जिनमे कार्बन होता है तथा २ निरिन्द्रिय, जिनको सात द्रव्यो मे समाविष्ट किया जा सकता है, जैसे—१ कार्बोहाइड्रेट, २ स्नेह (Fat), ३ प्रोटीन, ४ निरिन्द्रिय लवण, ५ जीवनीय (Vitamin), ६ एज्जाइम और ७ जल। अन्नपान के द्वारा ये द्रव्य मानव शरीर को उपलब्ध होते है।

कार्बोहाइड्रेट का प्रयोजन दहन और शक्त्युत्पादन है। स्नेहो का भी यही प्रयोजन है, किन्तु एक विशेषता है, कि मेद के रूप मे उनका शरीर मे सग्रह हो सकता है। कोषो और उनके द्वारा शरीर की पुष्टि और जीर्णोद्धार के लिए प्रोटीन्स का आहार के रूप मे ग्रहण आवश्यक है। कई निरिन्द्रिय लवण किंवा खनिज द्रव्य शरीर मे क्षारता का प्रमाण स्थिर रखते है। कई खनिज द्रव्य रस-रक्त या धातुओ के मध्य जल धातु के सन्तुलन का कार्य करते है। इनके तीन प्रमुख कार्य है—पुष्टि, क्षतिपूर्ति तथा अन्त -बहि स्रावो और उनके सहचारी स्रावो का निर्माण। जीवनीय द्रव्य पुष्टि, वृद्धि और आरोग्यप्रद होते हैं।

क्षारता और अम्लता

शरीर मे क्षारता और अम्लता का यथोचित प्रमाण मे रहना उपयोगी है और विषम प्रमाण मे (कम या अधिक) होना अनेक प्रकार के विकारो को जन्म देता है। जैसे—

गन्धक विभिन्न ग्राह्य अम्लो का एक अग होने से उपयोगी है। यह कई अन्त - स्रावो की रचना मे भाग लेता है।

क्लोरीन सोडियम, पोटैशियम और कैलसियम क्लोराइड नामक समासो के रूप मे रक्त तथा द्रव मलो (मूत्र-स्वेद-पुरीष) के अनिवार्य लवण बनाता है। ये लवण सुगमता मे केशिकाओ या कोषो की दीवार के आर-पार नही जा सकते, अत जलाकर्षण शक्तिविशेष (ऑज्मोटिक प्रेसर—Osmotic pressure) होने से रक्त, धातु, मल, मूत्र आदि जिस किसी स्थान मे रहते है, वहाँ जल का प्रमाण बनाये रखते है।

सोडियम आदि मूल द्रव्य, वाईकार्वोनेट, फॉस्फेट और प्रोटीन के आयन शरीर मे उदजन के आयनो को सम प्रमाण मे रखने मे अर्थात् शरीर की क्षारता और अम्लता की मात्रा समुचित रखने मे भी उपयोगी है।

खाने का नमक (सैन्धव या सामुद्र आदि) सोडियम और क्लोरिन का बना एक समास है। वह महास्रोतम् मे जल का प्रमाण सम रखता हुआ आनाह, उदावर्त आदि रोग नही होने देता। इसीलिए इन वातप्रधान रोगो मे लवणो और क्षारो के सेवन का विधान वतलाया गया है, देखे—'प्राशाश्च लवणोत्तरा'।

लवण रस के गुण

लवणरस वमन-विरेचन के द्वारा शरीर को शुद्ध करनेवाला, रुचिकारक, पाचक, कफ तथा पित्त का उत्पादक, पुरुपत्व तथा वात को नष्ट करनेवाला, शिथिलता एव मृदुताकारक, वलनाशक और गले मे दाह करनेवाला होता है।

लवण के अतिसेवन से हानि

लवण के अधिक सेवन से नेत्रपाक, रक्तपित्त, कोठ, क्षत, वली, पलित, खालित्य कुष्ठ, वीसर्प और तृष्णा रोग की उत्पत्ति होती है।

क्षार के गुण

यह उष्ण एव तीक्ष्ण गुणयुक्त होने से पहले क्लेद उत्पन्न करता है और बाद मे शोषण करता है। यह पाचन, भेदन और दाहकारक होता है।

क्षार के अतियोग से हानि

क्षार का अधिक सेवन करने से अन्धापन, नपुसकता, पलित, खालित्य और हृदय मे कर्तनवत् पीडा होती है।

अम्लरस के गुण

अम्लरस पाचक, रुचिकारक, पित्त-कफ तथा रक्त का दूषक, लघु लेखन, उष्ण स्पर्श मे शीत, क्लेदकारक, वायुनाशक, स्निग्ध, वीर्य, मलावरोध, आनाह और दृष्टि को नष्ट करनेवाला, रोमाञ्चकारक, दन्तहर्प(खट्टापन)कारक तथा नेत्र और भौहो का सकोचक होता है।

अम्लरस के अतिसेवन से हानि

अधिक अम्ल के सेवन से भ्रम, पिपासा, दाह, तिमिर, ज्वर, कण्डू, पाण्डुता, वीसर्प, शोथ विस्फोटक और कुष्ठरोग होता है।

अम्लता और क्षारता का परीक्षण

जिस द्रव्य के घोल मे नीला लिटमस-पत्र डालने से वह पत्र लाल हो जाये तो वह अम्ल (Acid) जाना जाता है। इसके विपरीत जिस द्रव्य के घोल मे लाल लिटमस पेपर डालने पर नीला हो जाये तो उसे क्षार (Alkali) कहते है। इसी प्रकार जिन द्रव्यों के घोल मे नीला या लाल लिटमस-पत्र डालने पर कोई प्रतिक्रिया न हो, उन्हे उदासीन (Neutral) कहा जाता है।

जिन पदार्थो को अम्ल कहा जाता है, उनकी विशेषता यह होती है कि उन्हे जल मे डालने पर उनके अन्तर्गत उदजन (Hydrogen) के आयन[1] पृथक् हो जाते है जिससे द्रव का रस (स्वाद) अम्ल हो जाता है। उदजन के आयन जितनी सख्या मे पृथक् होगे, उसी के अनुसार वह द्रव्य न्यून या अधिक अम्ल होगा। जैसे, लवणाम्ल (Hydrochloric acid—हाइड्रोक्लोरिक एसिड, सूत्र—Hcl) को जल मे छोडे, तो उसके घटक अणु उदजन और क्लोरीन के आयन विच्छिन्न हो जाते हैं। लवणाम्ल को तीक्ष्ण अम्ल कहा जाता है, क्योकि उसके उदजन के आयनो का प्राय पूर्णतया विच्छेद हो जाता है। तक्राम्ल (Lactic acid) को मृदु कहा जाता है, क्योकि उसके उदजन के आयनो का विच्छेद अल्प सख्या मे होता है।

ज्ञातव्य है, कि जैसे किसी द्रव्य की अम्लता (Acidity) उसके घोल मे विच्छिन्न हुए उदजन के आयनो के अधीन है, उसी प्रकार किसी द्रव्य की क्षारता (Alkalinity) उसके उदजन और ओपजन के वर्ग हाइड्रॉक्सील (Hydroxyl सूत्र—OH) के आयन के रूप मे विच्छिन्न होने तथा उनकी इयत्ता (प्रमाण) पर अवलम्बित है, अर्थात् द्रव्य उतना ही क्षारीय होगा, जितना कि उसके घोल मे उक्त द्रव्यों का विच्छेद होगा।

रस-रक्त मे क्षारीय किं वा अम्लीय प्रतिक्रिया

रक्त की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है और अम्लता नगण्य-सी होती है। वैज्ञानिको ने अम्लता की एक इकाई नियत की है। रक्त की अम्लता केवल ०,०००,०००,३२ इकाई होती है। अम्लता की इस सूक्ष्म मात्रा को प्रकृति रासायनिक परिवर्तनो द्वारा नियमित रखती है। यावज्जीवन दहन और शक्ति के प्रादुर्भाव के परिणाम-स्वरूप अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाइ-ऑक्साइड) रस-रक्त मे निरन्तर मिश्रित होता रहता है जो एक अम्ल है। पेशियों की चेष्टावश तक्राम्ल भी सर्वदा बनता रहता है, जो रस-रक्त मे छोडा जाता है। यह भी अम्ल है। रस-रक्त की स्वाभाविक

---

[1] आयन नाम ऐसे कणों का है, जो विद्युत् से आविष्ट होते हैं। ये कण एक अणु (एटम—Atom) के रूप मे होते हैं अथवा अनेक अणुओं के वर्ग के रूप मे होते हैं। इन कणों मे से कई ऋण विद्युत् (Negative electricity) मे आविष्ट होते है और कई धन विद्युत् (Positive electricity) मे, जैसे—लवण को जल में घोले तो वह अपने सोडियम और क्लोरीन इन दो घटक अणुओं मे विच्छिन्न हो जाता है। इनमे सोडियम धन-विद्युदाविष्ट और क्लोरीन ऋण विद्युदाविष्ट होता है।

प्रतिक्रिया स्थिर रखने के लिए प्रकृति को सामान्यतया इन दो अम्लो को ही क्षार रूप मे परिणत करना पडता है। प्रकृति अङ्गाराम्ल को सर्जक्षार (सोडा बाइकार्ब) के रूप मे परिणत कर देती है। इसमे क्रिया यह होती है कि रस-रक्त गत सैन्धव और अङ्गाराम्ल के सयोग से सर्जक्षार बनता है। तक्राम्ल को दो प्रकार से अनम्ल किया जाता है—१ सर्जक्षार और तक्राम्ल के सयोग से कैलसियम लैक्टेट और अङ्गाराम्ल बनते है अथवा २ क्षारीय सोडियम फॉस्फेट और तक्राम्ल का सयोग होकर सोडियम लैक्टेट और अम्ल सोडियम फॉस्फेट बनते हैं।

प्रोटीन्स के विश्लेषण से अम्ल द्रव्य बनते हैं। अम्लरक्तता का विशेप कारण स्नेहो का अपूर्ण पाक है। यह अपूर्णता दो विकृतियो मे देखी जाती है—अनशन की स्थिति मे और इक्षुमेह मे। अनशन की स्थिति मे बाहर से कार्बोहाइड्रेट नही जाते और शरीर मे इनका सचय नगण्य है। परिणाम यह होता है कि धातुपाक के लिए पूर्वसचित स्नेहो का ही दहन होता है, परन्तु कार्बोहाइड्रेट्स के पाक से उत्पन्न द्रव्य उपलब्ध न होने से स्नेहो का पाक अपूर्ण रह जाता है, जिससे **कीटोन** नामक द्रव्य उत्पन्न होता है जो रस-रक्त मे मिश्रित होकर अपनी अम्लता से उनकी अम्लता मे वृद्धि करता है।

इक्षुमेह मे इन्सुलीन की क्षीणता के कारण कार्बोहाइड्रेट्स का पाक अपूर्ण होता है। इस स्थिति मे धातुपाक के लिए स्नेहो का उपयोग होने लगता है, परन्तु कार्बोहाइड्रेट्स के पाक की अपूर्णता के कारण स्नेहो का पाक भी पूर्ण नही हो पाता एव **कीटोन** नामक द्रव्य की उत्पत्ति होती है और वह रस-रक्त मे मिलकर अपनी अम्लता से उनकी अम्लता बढा देता है। अम्लरक्तता के कारण **शिरःशूल, बार-बार वमन और श्वासकष्ट** होता है। अम्लता के और अधिक बढने पर मूर्च्छा आने लगती है। इसे इक्षुमेहिक मूर्च्छा (डायबिटिक कोमा) कहते है।

गर्भिणी के घातक वमन मे भी कार्बोहाइड्रेट्स के अयोग के कारण ही अम्लरक्तता और तज्जन्य लक्षण होते हैं। एव आमाशय और अन्त्रो के पाक (Gastro-enteritis) मे भी अम्लरक्तता और तज्जन्य लक्षण होते हैं।

कीटोसिस का उपचार

रस-रक्त मे कीटोन के आधिक्य से अनशन एव इक्षुमेह मे कार्बोहाइड्रेट के अयोग के कारण स्नेहो का उपयोग होने से और उनका पाक अपूर्ण रह जाने से **कीटोसिस** की स्थिति होती है।

अनशनजन्य विकृति मे कार्बोहाइड्रेट्स का सेवन कराना चाहिए। इक्षुमेह मे विकृति का कारण इन्सुलीन का हीनयोग होता है, अत इन्सुलीन की सूचीवस्ति देनी चाहिए।

अम्लोत्पादक और क्षारोत्पादक खाद्य पदार्थ

जितने मौलिक हमारे शरीर मे पाये जाते है, उनमे मे कुछ अम्लोत्पादक है और कुछ क्षारोत्पादक है। मुख्य अम्लोत्पादक मौलिक ये है —फास्फोरस, गन्धक

और क्लोरीन। मुख्य क्षारोत्पादक मौलिक है—कैल्शियम, पोटैशियम, सोडियम, लौह और मैग्नेसियम। जब दोनो प्रकार के मौलिक उपयुक्त परिणाम में रहते हैं, तो रक्त एव तन्तुओ की प्रतिक्रिया ठीक रहती है; अर्थात् न अधिक क्षारीय और न अधिक अम्लीय। जब प्रतिक्रिया अधिक क्षारीय अथवा अधिक अम्लीय हो जाती है तब अस्वस्थता होती है। दूध को छोडकर कोई खाद्य ऐसा नही है, जिनमे सब मौलिक उचित परिणाम मे हो। दूध मे भी लोह उतना नही होता जितना शरीर को चाहिए।

अधिक अम्लोत्पादक (अल्प क्षारोत्पादक) खाद्य पदार्थ

मास, अण्डे, दालें, सूखे फलो की गिरी, अखरोट आदि तथा गेहूँ, चावल, मक्का, जौ इत्यादि।

अधिक क्षारोत्पादक (अल्प अम्लोत्पादक) खाद्य पदार्थ

हरे पत्ते वाले साग, करमकल्ला, पालक, फूलगोभी, आलू, शकरकन्द, मूली, नारगी, सेव, केला आदि।

रक्त मे और शरीर के कोषो तथा तन्तुओ मे क्षारीय या अम्लीय प्रतिक्रिया की समरसता के लिए मिला-जुला कुछ क्षारीय और कुछ अम्लीय खाद्य पदार्थ भोजन मे लेना चाहिए। अनाज के साथ दाल, मास, हरे पत्ते का साग, आलू और फलो का प्रयोग करना चाहिए।

दूध न तो अम्लोत्पादक होता है और न ही क्षारोत्पादक।

जल और इलेक्ट्रोलाइट के सन्तुलन मे बाधा

(Disturbances in Water and Electrolyte Balance)

रोगो के कारण या चिकित्सा सम्बन्धी कारणो से अथवा औषध-प्रयोग के व्यतिक्रम के फलस्वरूप शारीरिक द्रव के सगठन की जटिलता उत्पन्न हो जाती है। यह बाधा न केवल अनेकविध रोगो के लक्षणो को प्रकट करती है, अपितु शारीरिक क्षतिपूर्ति मे भी रुकावट डालती है। इसलिए यह आवश्यक है कि शारीरिक द्रव के रासायनिक सगठन को यथास्थिति मे कायम रखा जाय और उसका असन्तुलन न होने दिया जाय। इस प्रकार के असन्तुलन का एक व्यापक चिह्न जलाल्पता या डीहाइड्रेशन (Dehydration) है। इस असन्तुलन का एक हेतु अविवेकपूर्ण अन्त -शिरीय समबल -आइसोटोनिक (Isatonic Na Cl) सोल्यूशन का प्रयोग है।

सामान्यत जल और इलेक्ट्रोलाइट असन्तुलन निम्नलिखित है—

१ सोडियम का विघटन या ह्रास।
२ प्रारम्भिक जल का विघटन या ह्रास।
३ पोटशियम का विघटन या ह्रास।
४ पोटैशियम की अधिकता और विषमयता।
५ मैग्नेशियम की कमी और विषमयता।

६ जलीय विपमयता।

७ सोडियम और जल का सञ्चय।

सोडियम का विघटन या ह्रास

सोडियम का स्वाभाविक सन्तुलन उसके उत्सर्ग और ग्रहण की मात्रा पर निर्भर है। स्वस्थ दशा मे और समशीतोष्ण वातावरण मे मल तथा त्वचा से सोडियम का उपेक्षणीय मात्रा मे क्षरण होता है। लवण का जल के सन्तुलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सोडियम की क्षति होने पर शरीर के जल की मात्रा उसके साथ सन्तुलित रहने की मात्रा तक घट जाती है। शायद ही कभी ऐसा होता है, कि सोडियम का शुद्ध ह्रास या विघटन विना आवश्यक मात्रा मे जल के ह्रास के होता हो। सम्भवत: अस्वाभाविक रूप से लवण और जल के ह्रास के परिणामस्वरूप यह स्थिति होती है, जव कि निर्वाध रूप से जल ग्रहण की अनुमति या प्रोत्साहन दिया जाता है। सोडियम के ह्रास का एक कारण अवाञ्छनीय वातावरण मे रहने से पसीने का अधिक होना है और जव शरीर के द्रवाश की आपूर्ति लवण रहित द्रव से की जाती है।

सोडियम-ह्रास के अन्य कारण

समशीतोष्ण प्रदेशो मे मूत्र के द्वारा अथवा सोडियमयुक्त मलद्रव के नि सरण से लवणहीनता होती है। तीव्र या जीर्ण ग्रहणी रोग, नाडीव्रण, स्वेद-निर्गमन, वमन आदि रोगो के कारण भी सोडियम का ह्रास होता है।

सोडियम-ह्रास का परिणाम

लवण का ह्रास वहि कोशस्थ द्रव की राशि (Volume) को घटा देता है। साल्ट और जल का विषम प्रकार का ह्रास (Disproportionate loss) वहि-कोशस्थ द्रव के प्रवाह-वल को विच्छिन्न कर देता है (Tends to render extracellular fluids hypotonic)। प्रधान रूप से साल्ट का ह्रास होना वहि-कोशस्थ द्रव के विस्तार को और प्लाज्मा को प्रभावित करता है, जव कि तन्तुओ को पर्याप्त जल प्राप्त होता है। मुख्यत लवण का ह्रास वहि कोशस्थ जलस्तर को प्रभावित कर शारीरिक लक्षणो को उत्पन्न करता है। जैसे—त्वचा के लचीलापन (Elasticity) का ह्रास, अक्षिगोलकान्तरिक दवाव की कमी और जिह्वा की शुष्कता आदि होना, तृष्णा की अधिकता, मूत्राल्पता, यूरीमिया का वढना आदि। नाडी की गति तीव्र होती है, त्वचा और शाखाएँ पीली और ठण्डी हो जाती है।

चिकित्सा

मुख द्वारा लवण-जल का प्रयोग कराना चाहिए। आइसोटोनिक (Na Cl) सोलूशन का अन्त शिरीय प्रयोग करना चाहिए। जव रक्तचाप सामान्य हो और रोग उग्र न हो, तो सभी स्थितियो मे उक्त सोलूशन का प्रयोग करना हितकर है।

सामान्यत वयस्क रोगी के लिए २ घण्टे मे २ या ३ लीटर आइसोटोनिक सोलूशन का अन्त शिरीय प्रयोग आवश्यक होता है। अधिक गम्भीर स्थिति मे ४ से ८ लीटर तक उक्त सोलूशन दिया जाना चाहिए। इस स्थिति के नियन्त्रण के लिए आइसोटोनिक सोडियम क्लोराइड का प्रयोग समुचित है। प्रथम २–३ लीटर की मात्रा २–३ घण्टे मे दे देना चाहिए और अधिक मात्रा २४ से ४८ घण्टे मे देनी चाहिए। लवणहीनताजन्य लक्षणो मे कमी, रक्तचाप का नार्मल होना, नाडी की गति सामान्य होना आदि सोडियम-ह्रासजन्य असन्तुलन के दूर होने के परिचायक है।

प्रारम्भिक जल-ह्रास

(Primary Water Depletion)

प्राय अति सामान्य रासायनिक व्यतिक्रम के फलस्वरूप जल का ह्रास हो जाता है। शरीर मे जलसन्तुलन का ह्रास दो प्रकार से होता है—या तो स्वतन्त्ररूप से या लवण से सम्बन्धित। वहि कोशस्थ द्रव की आसृतीय (Osmole) सान्द्रता (Concentration) बढने लगती है। ½ से १ लीटर तक जल का ह्रास प्रतिदिन होने लगता है, वह चाहे वाष्पीभवन से हो या स्वेदनिर्गमन से हो। यह क्षति लगातार होती रहती है और इसका जल पीने से कोई सम्बन्ध नही होता। जल के निर्गमन का दूसरा मुख्य स्रोत मूत्रोत्सर्ग है।

प्रारम्भिक जल-ह्रास का कारण

सोडियम-ह्रास की अपेक्षा जल के ह्रास के उदाहरण कम ही मिलते है। शरीर मे आवश्यक जल-सन्तुलन स्थापित रखने के लिए जितना जल पीना चाहिए, उतना नही पीने से जल का ह्रास होता है। यह ऐसे रोगियो मे होता है, जिन्हे निगिरण-कृच्छ्रता (Dysphagia), अन्ननलिका-सकोच, बेहोशी, अवसाद, वैराग्य अथवा वृद्धावस्था होती है।

श्वास और स्वेद-निर्गमन से होने वाली आवश्यक रूप की क्षति की पूर्ति न करने से जल का ह्रास होता है। परमअवटुकावृद्धि और ज्वर होने से जल का ह्रास होता है। डायबिटीज और वृक्कशोथ मे मूत्रधारण-क्षमता के ह्रास के कारण अधिक मूत्रोत्सर्ग होता है। अधिक प्रोटीनयुक्त पदार्थ और नमक युक्त पदार्थ खाने से भी जल का ह्रास होता है।

जल-ह्रास का परिणाम

शरीर मे अपेक्षित जल का प्रमाण कम होने पर वहि कोशस्थ द्रव अधिवल्य (Hypertonic) हो जाता है। तब आस्मोटिक प्रेशर के बढने से सेलो से जल स्रवित होता है और अन्त कोशीय जलाल्पता हो जाती है। एवश्च अन्त कोश तथा बहि कोशो मे समानरूप से जलाल्पता होती है। ऐसी दशा मे जलाल्पता के लक्षण लवणहीनता (Salt depletion) की अपेक्षा कम ही प्रकट होते हैं। यदि रोगी

वृद्ध या व्याकुल न हो, तो प्यास सामान्य होती है। सामान्यत एक सीमा तक सेलो से स्रवित जल, अन्त -वहि कोशो मे जल का सन्तुलन स्थापित करता हे और एक सीमा तक रक्तचाप आदि सामान्य होते है, किन्तु अधिक जलाल्पता होने पर रोगी मानसिक अशान्ति, उद्विग्नता, अगो मे वेदना, अकडन, निगिरण-कष्ट तथा जिह्वाशोष का अनुभव करता है। गम्भीर स्थिति म त्वचा के तन्तु विलक्षण रूप से सने हुए आटे की तरह सश्लिष्ट और घन एव सान्द्र हो जाते हैं। मूत्र की मात्रा घट जाती है और ब्लड-यूरिया वढ जाती है।

चिकित्सा

लवणरहित द्रव का पर्याप्त मात्रा मे सेवन करना चाहिए। आइसोटोनिक सोडियम क्लोराइड सोलूशन का प्रयोग विपरीत प्रभाव प्रकट करता है। यदि रुग्ण होश मे हो और उसे वमन न हो रहा हो, तो मुख से थोडा-थोडा जल पिलाना चाहिए, जितने से प्यास मिट जाये। तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार १–२ लीटर से ४–५ लीटर तक प्रतिदिन जल पिलाना चाहिए। ५% ग्लूकोज मिले जल का अन्त शिरीय प्रयोग करना चाहिए। जल के ह्रास के अनुपात से जल का प्रयोग कराना चाहिए। सामान्यत गम्भीर रोगी के लिए ५% ग्लूकोज वाले जल की २ से ४ लीटर की मात्रा २४ घण्टे मे देना पर्याप्त है। अधिक गम्भीर स्थिति मे ५ से १० लीटर जल की आवश्यकता होती है।

रुग्ण के लक्षणो के शमन और मूत्र की मात्रा-वृद्धि से आरोग्यलाभ का आकलन किया जाता है। २४ घण्टे मे १ से ५ लीटर तक मूत्र विर्सजित हो सकता है। यदि मूत्राशय के विकास के कारण जल का ह्रास हुआ हो, तो लगातार अधिक मात्रा मे जल का सेवन कराना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि जव जल का ह्रास साल्ट-ह्रास का सहचारी हो, तो आइसोटोनिक (Na Cl) सोलूशन और जल इन दोनो की उपयोगिता है और दोनो का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए। जल और साल्ट के ह्रास के अनुपात से ही इनका प्रयोग करना चाहिए।

पोटैशियम का ह्रास

(Potassium Depletion)

• शरीर मे पोटैशियम के ह्रास से अनेक तरह के लक्षण प्रकट होते है। कोई स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन जितनी मात्रा मे पोटैशियम ग्रहण करता है, वह उसका एक-तिहाई शौच के साथ वाहर निकलता हे और दो-तिहाई मूत्र के साथ निकलता है।

पोटैशियम के ह्रास का कारण

महास्रोत और मूत्र से अधिक मात्रा मे पोटैशियम के वाहर निकलने से शरीर मे पोटैशियम का ह्रास होता है। तीव्र गम्भीर या जीर्ण ग्रहणीरोग और उदर-विकार या श्वास से पोटैशियम का क्षय होता है। अन्य कारण निम्न है—

१ शरीर की सेलो के लघु छिद्रमय आयनिक पम्प की क्षमता का ह्रास होना तथा २ पोटैशियम का दूरस्थ नलिकाओ के छिद्र मे फैल जाना।

पोटैशियम शरीर की सेलो मे रहता है। वे परिस्थितियाँ जो वहि स्थ कोशो के द्रव मे पोटैशियम को भेजने का उपक्रम करती है, मूत्र द्वारा पोटैशियम का ह्रास करती है।

पोटैशियम के ह्रास का परिणाम

मासपेशी-दुर्बलता, मानसिक क्षोभ, उदर मे तनाव तथा आध्मान आदि लक्षण पोटैशियम के ह्रास के सूचक है। ये लक्षण अन्य रोगो मे भी होते हैं, इसलिए इनमे पोटैशियम का प्रयोग करने से यदि लाभ हो, तो पोटैशियम के ह्रास होने का निदान करना चाहिए। पोटैशियम के ह्रास से वृक्को की धारण-क्षमता का ह्रास हो जाता है, जिससे बहुमूत्रता (Polyuria) और तृषा की अधिकता होती है। गम्भीर रूप से पोटैशियम का ह्रास होने पर हृदय की कार्यक्षमता का ह्रास होता है और शोथ उत्पन्न होता है। पेशी-दौर्बल्य, मृदु, पक्षाघात और आन्त्रशूल होता है। यदि समुचित चिकित्सा न की गयी, तो रोगी की मृत्यु सम्भाव्य हो जाती है।

चिकित्सा

मुख द्वारा अथवा अन्त शिरा सूचीवेध द्वारा पोटैशियम का प्रयोग करना चाहिए। इसका मुख द्वारा प्रयोग अल्प हानिकर है। सामान्यत प्रतिदिन पोटैशियम २-३ ग्राम की मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए।

१ पोटैशियम-ह्रास की मध्यम श्रेणी की गम्भीरता (About 400 MMO) का उपचार प्रतिदिन मौखिक रूप मे १०–१५ ग्राम तक पोटैशियम क्लोराइड के प्रयोग से किया जा सकता है। पोटैशियम बहुल आहार के साथ कुछ दिनो तक फल और फलो के रस का सेवन कराना चाहिए।

एण्टेरिक कोटेड (Enteric coated) पोटैशियम क्लोराइड की गोलियाँ कभी-कभी महास्रोत मे दाह उत्पन्न कर देती है। पोटैशियम क्लोराइड की स्लो रिलीज (Slow release) गोलियाँ अपेक्षाकृत अल्प उपद्रवकारक होती है। प्रत्येक टेबलेट मे ६०० मि० ग्रा० KCl की मात्रा होती है।

२ जो रोगी मुख द्वारा पोटैशियम लेने योग्य नही होते, उन्हे अन्त शिरामार्ग से पोटैशियम क्लोराइड देना चाहिए, किन्तु जब रासायनिक परीक्षण से हाइपोकैलीमिया (Hypokalaemia) का होना प्रमाणित हो जाय, तभी देना चाहिए। पोटैशियम क्लोराइड का अन्त शिरीय प्रयोग तभी करना चाहिए, जब कि मूत्राघात या अल्पमूत्रता हो और जब पुन रासायनिक परीक्षण की सुविधा उपलब्ध होने की सभावना हो।

पोटैशियम की अधिकता और विषमयता

अस्वाभाविक रूप से जब पोटैशियम रक्त किंवा बहि कोशस्थ द्रव (Extra-cellular fluid) मे जमा हो जाता है तो मूत्राल्पता, मूत्रकृच्छ्र या मूत्राघात

हो जाता है। सामान्यतः वृक्कों की निष्क्रियता में यह स्थिति होती है। किसी कारणवश रक्ताल्पता होना या चोट लगना या गम्भीर रूप से एडीसन्स डिजीज (Addisons' disease) होने के कारण रक्तनयन की प्रक्रिया में बाधा उपस्थित हो जाती है। यह स्थिति डायबिटिक कीटोएसिडोसिस (Diabetic Ketoacidosis) में भी हो जाती है, यदि पहले ही इन्सुलीन और अन्य निरोध सोल्यूशन द्वारा उचित उपचार न किया जाय। कुछ जीर्ण वृक्क-निष्क्रियता के रोगी हाइपरकैलीमिया (Hyperkalaemia) से ग्रस्त हो जाते हैं।

पोटैशियम की अधिकता के परिणाम

हाइपरकैलीमिया हो जाती है और रुग्ण व्यक्ति सुस्त, कातर और तन्द्रायुक्त हो जाता है। धीरे-धीरे घबराहट और दुर्बलता बढ़ती जाती है तथा मृदु पक्षाघात हो जाता है। नाड़ी अनियमित होती है और हृदयमन्दता बढ़ जाती है। विषाक्त लक्षण दीखने पर पुनः पुनः निदान कर रुग्ण की स्थिति का जायजा लेते रहना चाहिए।

चिकित्सा

१ सर्वप्रथम पोटैशियमजनित विषाक्तता के कारण उत्पन्न मूत्राल्पता और मूत्राघात का निराकरण करना चाहिए।

२. वृक्कों की निष्क्रियता में सेवनीय उचित पथ्य की व्यवस्था करें।

३ तत्काल ऐसे आहार (फल या फलों के रस) का सेवन रोक देना चाहिए, जिन आहारों में पोटैशियम की बहुलता हो।

४. समुचित उपायों द्वारा लवण एवं जल का सन्तुलन बनाये रखना चाहिए।

५ धातुपाक या मेटाबोलिज्मजनित अथवा श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी अम्लोत्कर्ष का सुधार करने का प्रयास किया जाय।

६ बहिःकोशस्थ द्रव से पोटैशियम को सेलों में स्थानान्तरित करने के लिए ग्लुकोज और इन्सुलीन का प्रयोग करना चाहिए।

७ गलने योग्य (Soluble) इन्सुलीन की १० यूनिट की मात्रा अधस्त्वक् सूचीवेध से दें और ५० ग्राम ग्लूकोज मुख से दें। इस मात्रा को प्रति २ से ४ घण्टे बाद दुहराना चाहिए। यदि इसके साथ-साथ ½ से १ लीटर तक आइसोटोनिक सोडियम बाईकार्बोनेट (Isotonic sodium bicarbonate) का सिरा में सूचीवेध किया जाय, तो अधिक लाभ होगा।

८ कैलसियम ग्लूकोनेट (१० प्रतिशत) १० मिली० सिरा द्वारा देने से और पुन २–३ घण्टे बाद प्रयोग करने से पोटैशियम की विषाक्तता का हृदय पर पडनेवाला प्रभाव मन्द जाता है।

९ यदि उपर्युक्त उपचार असफल हो जाये और पोटैशियम का सग्रह होना जारी रहे, तो अन्त्रावरणीय डायलिसिस अथवा हीमोडायलिसिस (Peritoneal dialysis or haemodialysis) द्वारा पोटैशियम को हटाना चाहिए।

मैग्नेशियम की न्यूनता और विषाक्तता

मैग्नेशियम की न्यूनता का कारण बहुधा अधिक समय तक अतिसार या वमन होना होता है, जिसकी चिकित्सा मे मैग्नेशियम रहित पोषक द्रवो का प्रयोग किया गया हो । कभी-कभी दीर्घकाल तक मूत्रवर्धक औषधो के सेवन से भी यह स्थिति हो जाती है । कदाचित् जीर्ण अतिसार होने के साथ कुपोषण होना भी इसका कारण होता है ।

लक्षण

नाडियो मे और मासपेशियो मे कम्पन होना, लासकायसदृश (Choreiform) गतिशीलता, बिस्तर के कपडो को निष्प्रयोजन नोचना, मानसिक अवसाद, घबडाहट, उत्तेजना, बेहोशी, आक्षेप और तरह-तरह के भ्रम उत्पन्न होना आदि लक्षण मैग्नेशियम के ह्रास के कारण होते है ।

चिकित्सा

पोषक तत्त्वो द्वारा मैग्नेशियम की कमी का उपचार सुचारू रूप से किया जा सकता है । 50 MMOL मैग्नेशियम क्लोराइड को ५% ग्लूकोज वाले १ लीटर घोल के साथ मिलाकर अथवा आइसोटोनिक सोलुशन के साथ १२ से २४ घण्टे तक देना चाहिए । इसे प्रतिदिन पुन पुन दे, जब तक कि प्लाज्मा का सगठन स्वाभाविक स्तर पर न आ जाये ।

विषाक्तता

तीव्र वृक्क विकार के कारण अथवा जीर्ण वृक्क विकार मे मैग्नेशियम के ह्रास के कारण विषाक्तता हो जाती है, जिससे केन्द्रीय नाडीमण्डल प्रभावित होता है ।

जल की विषाक्तता

(Water Intoxication)

एक स्वस्थ व्यक्ति बिना किसी परेशानी के पर्याप्त मात्रा मे जल पी सकता है और प्रबल रूप से मूत्रोत्सर्ग द्वारा उसे बाहर निकाल सकता है । जब इलेक्ट्रोलाइट (Electrolyte) के बिना जल का सेवन किया जाता है, तो मूत्र के रूप मे जल का निकलना, गुत्सिकीय परिस्रावण (Glomerular filtration) तथा वृक्क की दूरस्थ क्षुद्रनलिकाओ की मूत्र-निर्माण की शक्ति पर निर्भर होता है । विभिन्न कारणो से पीडित ऐसे भी रोगी होते हैं जो जल तो अधिक परिमाण मे पीते है, किन्तु जल के अनुपात मे उनके वृक्क मूत्र का निर्माण नही करते । ऐसे रोगी तीव्र या जीर्ण वृक्कीय व्याधि, उपवृक्कस्तर की अक्षमता, गम्भीर हृदय-कार्यक्षमता अथवा याकृत अपक्रान्ति (Hepatic cirrhosis) के पीडित होते है । कभी-कभी फुप्फुस या डिम्बग्रन्थि के अर्बुद एक दुरुपाचेय (Polypeptide) मूत्र-निर्माणावरोधक तत्त्वो से युक्त ऐसा स्राव छोडते है जो जल की विषाक्तता उत्पन्न करते है । शल्य-कर्म के दबाव मे मूत्रवाहिनी-सकोच की स्वतन्त्रता होने से शल्यकर्म के पश्चात् वे

अग मूत्र-निर्माण मे अक्षम हो जाते है। कुछ औषधे भी मूत्रावरोध को प्रोत्साहन देती है, क्योकि उनमे मूत्र-निर्माणरोधी हार्मोन जैसा प्रभाव होता है, उनसे भी जल की विषाक्तता होती है।

लक्षण

ऐसी स्थिति मे थोड़ा भी जल पीना प्लाज्मा की आस्मोलेलिटी (Osmolality) और सोडियम के एकत्रीभवन की क्रिया को घटा देता है एव मस्तिष्कविकृति के लक्षणो को उत्पन्न करता है, जैसे—सिर मे चक्कर आना, सिर शूल, बेचैनी, वमन और मानसिक व्याकुलता होती है।

अधिक गम्भीर रूप मे जलविषाक्तता होने पर आक्षेप, बेहोशी और मृत्यु होने की सभावना होती है।

चिकित्सा

कुछ दिनो तक जल न दिया जाय। गम्भीर रोग मे १०० मिली० ५ प्रतिशत सोडियम क्लोराइड सोल्युशन का अन्त शिरीय सूचीवेध करना चाहिए। यदि सन्तोषजनक लाभ न हो, तो पुन कुछ घण्टे के बाद इसी प्रकार सूचीवेध से औषध से दे। एडीसन्स डिजीज मे और अर्बुद के कारण हाइपोनेट्रीमिया (Hyponatraemia) मे फ्लुड्रोकार्टीसोन (Fludrocartisone) का प्रयोग लाभदायक होता है।

सोडियम और जल का सञ्चय

(Sodium And Water Accumulation)

स्वस्थ दशा मे विभिन्न आहारद्रव्यो मे रूप मे प्रतिदिन बडी मात्रा मे सोडियम का सेवन किये जाने पर भी शरीर मे एक तुच्छ परिमाण मे ही वह गृहीत होता है। जब आनुषङ्गिक रूप से सोडियम के सञ्चय के साथ स्थिर सोडियम की अवशिष्ट राशि होती है तो वृक्को मे उसका स्रवण होता है, जिसकी खाये हुए सोडियम की मात्रा के साथ कोई तुलना नही होती। सामान्यत जलनिर्हरण की रुकावट के साथ ही सोडियम का सञ्चय होता है, ताकि बहि कोश मे सोडियम का एकत्रीभवन वस्तुत प्राकृतिक रूप मे परिवर्तित न हो जाय। जब अवरुद्ध द्रव का सामान्य रूप मे वितरण होने लगता है, तो बहि कोश मे सोडियम के व्यय की मात्रा का पता नही चल पाता, जब तक कि वह मात्रा बढकर १५ % न हो जाय।

लक्षण

जल और सोडियम का सञ्चय होने से हाइपोप्रोटीनीमिया हो जाती है, जिससे आज्मोटिक प्रेसर कम हो जाता है, जैसा कि वृक्कसम्बन्धी रोगो मे होता है। जब द्रववाही कोषो से द्रव सेलो मे स्थानान्तरित होता है और शिरीय जल-स्थिति का दबाव बढ जाता है तो हृदय-गति मे अवरोध की आशङ्का होती है, और वृक्को मे जल और लवण का अवरोध होना तीव्र वृद्धिशील गुल्मिकीय वृक्कशोथ का

जनक होता है। अन्य प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं, जो आगे चलकर लवण और जल के अवरोध को बढावा देती है।

कॉर्टीसोन (Cortisone), कॉर्टीकोट्रॉफिन (Corticortropin), एण्डोजन्स (Andogens) और ईस्ट्रोजेन (Oestrogen) मिश्रित गर्भ-निरोधी (Contraceptive) द्रव्यो का प्रयोग जल और लवण का अवरोधक होता है। ये वृक्क को प्रभावित करते हैं।

दूसरे ड्रग्स भी यह कार्य करते हैं, जैसे—कार्वेनोक्सोन (Carbenoxone), फेनिलबूटाजोन (Phenilbutazone) और अन्य हाइपरटेन्सिव ड्रग्स प्राय. सामान्य गर्भावस्था मे, वृक्कविकार में और मूत्र मे प्रोटीन जाने की स्थिति मे शोथ हो जाता है।

चिकित्सा

१ वह सभी उपचार करना चाहिए जो शोथ को दूर करने मे सक्षम हो।

२ हृदय की कार्यक्षमता मे डिजिटेलिस, गुत्सिकीय वृक्कशोथ (Glomerulonephritis) मे कोर्टीकोस्टेराइड (Corticosteride) और हाइपोप्रोटीनीमिया (Hypoproteinaemia) मे प्लाज्मा प्रोटीन का अन्त शिरीय प्रयोग अथवा लवणरहित एल्व्युमीन का प्रयोग करना चाहिए।

३ अपथ्य सेवन से उत्पन्न शोथ मे, याकृत अपक्रान्ति मे और वृक्कशोथ में भरपूर प्रोटीनयुक्त आहार देना चाहिए।

४. आहार मे कच्चे पदार्थों का सेवन तथा लवण एव जल का सेवन प्रतिषिद्ध करना चाहिए।

५ ऐसे प्रबल प्रभावकारी द्रव्यो का प्रयोग कराये जो लवण एव जल का निर्हरण करे। जो द्रव्य वृक्कनली द्वारा होनेवाले सोडियम के शोषण को रोके और नलियो के द्रव मे घुलनशील द्रव्यो की वृद्धि करे जिससे अधिक मात्रा से मूत्रोत्सर्ग हो।

आवश्यकतानुसार उच्च शक्तियुक्त मूत्रवर्धक (High potency diuretic) औषधो का प्रयोग करे। जैसे—फ्रूसेमाइड (Frusemide) ४० से ८० मिग्रा० तक प्रतिदिन मुख से देवे अथवा शिरा द्वारा २० से ४० मिग्रा० तक प्रयोग करे।

इसी प्रकार मध्यम शक्ति (Medium potancy) या अल्पशक्ति (Low potency) वाले मूत्रवर्धक औषधो का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार की औषधो का विशेष विवरण इसी पुस्तक के मूत्रकृच्छ्र-मूत्राघात तथा अश्मरी शीर्षक मे देखे।

दग्ध-दाह

आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि जो रोग औषध, शस्त्र और क्षार के प्रयोग से

नही ठीक होते हैं, वे रोग अग्नि द्वारा जलाने से ठीक हो जाते है। इसकी एक विशेषता यह है कि अग्नि[1] से जले हुए रोगो की पुन उत्पत्ति नही होती।

अग्नि द्वारा जलाये जाने के लिए—**त्वचा के दहनकर्म मे** पिप्पली, बकरी की मिंगनी, गोदन्ती, वाण और शलाका का प्रयोग, **मांसगत दहनकर्म मे** सोना, चाँदी, तावाँ आदि धातुओ का प्रयोग एव **सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थिगत रोगो के दहनकर्म मे** मधु, तेल, घी आदि स्नेहो के उपयोग का विधान वतलाया गया है[2]।
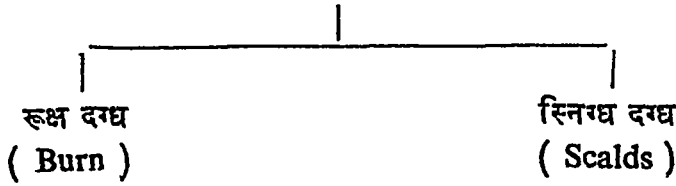
१ शुष्क द्रव्यो के ताप (Dry heat) से होनेवाले दग्ध को रूक्ष दग्ध (Burn) और २ ताल द्रव्यो के ताप (Moist) से होनेवाले दग्ध को स्निग्ध दग्ध (Scalds) कहते है।

अग्निकर्म के स्थल

१ त्वचा, मास, शिरा, स्नायु, सन्धि या अस्थि मे होनेवाली वायुजन्य तीव्र पीडा मे।

२ जिस व्रण मे मास उभर आये और कठोर तथा शून्य हो जाये।

३ ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची, श्लीपद, चर्मकील, तिलकालक, आन्त्र-वृद्धि, सन्धि के रोग तथा सिराओ के कट जाने पर।

४ नाडीव्रण तथा रक्त का अधिक स्राव होने पर—अग्निकर्म करना चाहिए।

इतरथा दग्ध या प्रमाद दग्ध

रोगनिवारणार्थ किये जानेवाले विधिविहित अग्निकर्म से दग्ध होने के अतिरिक्त दग्ध के अन्य भी कारण होते हैं, जैसे— अग्नि की ज्वाला, गरम धातु के टुकडे, गरम दूध, चाय, जल, घी, तेल, वाष्प, क्ष-किरण, रेडियम और विद्युत् आदि। इनके प्रमादपूर्वक प्रयोग से होनेवाला दग्ध, अथवा टेरिलीन, नाइलोन आदि के वस्त्रो मे आग लगने या दहेज-उत्पीडन की आग से जलने या किन्ही आक्रोशो की असहिष्णुता से होनेवाले आत्मदाह जैसी अत्यधिक दर्दनाक दग्ध की दुर्घटनाओ को प्रमाद दग्ध कहते है।

---

१ क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यात तद्दग्धाना रोगाणाम् अपुनर्भावाद् भेषजशस्त्र क्षारैरसाध्याना तद् साध्यत्वाच्च। —सु० सू० १२।४

२ सु० सू० १२।४।

कारण

१ अज्ञानता (Ignorance) ।

२ असावधानी (Carelessness) ।

३ उपेक्षा (Neglect) ।

४ घरेलू वस्तुओं को अव्यवस्थित रखना (Bad house-keeping) ।

५ सामानों के सरक्षण और रख-रखाव की गलत आदत (Bad maintenance practice) ।

प्रकार

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान मे दग्ध की छह अवस्थाएँ मानी गयी हैं—

१ **प्रथमावस्था** मे चमडी का रग लाल और विवर्ण हो जाता है, त्वचा विकृत हो जाती है तथा झुलस जाती है, इसे प्लुष्ट कहते हैं ।

२ **द्वितीयावस्था** मे त्वचा की ऊपरी पर्त मे लसीका का सञ्चय होकर फफोले बन जाते है, इसे दुर्दग्ध कहते हैं ।

३ **तृतीयावस्था** मे त्वचा की उपरी पर्त तथा त्वचा का स्वल्प भाग नष्ट हो जाता है, किन्तु स्वेदग्रन्थियाँ, स्पर्शांकुर, रोमकूप और तैलग्रन्थियाँ नष्ट नही होती है, यह सम्यग्दग्ध की अवस्था है ।

४ **चतुर्थावस्था** मे सम्पूर्ण त्वचा तथा उपत्वचा का कुछ भाग नष्ट हो जाता है ।

५ **पञ्चमावस्था** मे त्वचा, उपत्वचा और पेशियाँ नष्ट हो जाती है ।

६ **षष्ठावस्था** मे शरीर के अवयव, सिरा, सन्धि, अस्थियाँ नष्ट और विघटित होती है ।

वक्तव्य—चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ—ये तीनो अवस्थाएँ अतिदग्ध के समान हैं ।

दग्ध के प्रकार और लक्षण

चिकित्सा की सुविधा की दृष्टि से परवर्ती चिकित्सक दग्ध के दो भेद मानते हैं ।
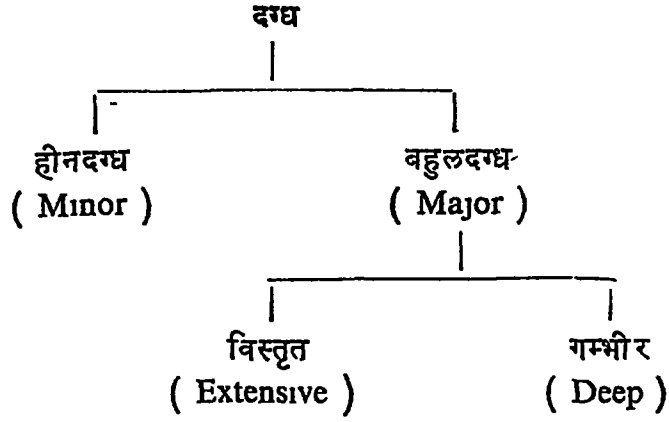
लक्षण

हीनदग्ध मे त्वचा दग्ध से प्रभावित और झुलमी होती है, किन्तु नष्ट नही होती इसमे विशेष प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नही होती और यदि विस्तृत भाग प्रभावित न हुआ हो तो कोई उपद्रव भी नही होता है।

बहुल दग्ध के विशिष्ट लक्षण—बहुल दग्ध के कारण शरीर के तरल का ह्रास होता है। तरल निकलता रहता है और उसमे प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है। प्रोटीन तथा तरल की कमी से स्तब्धता के लक्षण प्रकट होते है, पिपासा और मूर्च्छा होती है। उपयुक्त चिकित्सा के अभाव मे मृत्यु भी हो जाती है। बहुल दग्ध मे गम्भीर स्थित धातुएँ भी नष्ट हो जाती है। उनमे कोथ उत्पन्न होकर वह भाग अलग हो जाता है और व्रणमात्र शेप रह जाता है, जिसका रोहण विलम्ब से होता है।

उपद्रव

१. दाह का विस्तार तथा गहराई अधिक होने से शॉक (Shock) उत्पन्न होता है और हृदय-गत्यवरोध होकर मृत्यु की सम्भावना होती है।

२. ज्वर, दाह, पिपासा और मूर्च्छा होना—ये विशेष उपद्रव है।

३ यदि दग्ध शिर, वक्ष और उदर आदि मर्मस्थानो पर हो, तो मस्तिष्कावरणशोथ, फुस्फुसावरणशोथ, न्यूमोनिया आदि उपद्रव उत्पन्न होते है।

४ दग्ध स्थान मे जीवाणुओ के उपसर्ग से विसर्प, धनु स्तम्भ (टिटेनस) आदि उपद्रव उत्पन्न होते है।

५ व्रणरोहण के पश्चात् सम्बद्ध स्थान मे सकोच और कुरूपता हो जाती हे।

६ व्रणवस्तु (Scar) ऊतको मे कार्सीनोमा हो जाता है।

साध्यासाध्यता

१. वृद्धो और बालको मे दग्ध के परिणाम अच्छे नही होते।

२ शरीर के बाह्य भाग का आधे मे अधिक जल जाना घातक होता है।

३ दग्ध जितना अधिक गहरा होता है उतना ही घातक होता है।

४ मुखमण्डल, श्रोणिप्रदेश और मध्यकाय (धड) का जलना, हाथ-पैर के जलने की अपेक्षा अधिक घातक होता है ।

५ रासायनिक और विद्युद् दग्ध के परिणाम भयङ्कर होते है ।

६ पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सख्या मे दग्ध होती है या क्रूर सास-ससुर, ननद-देवर के द्वारा जला दी जाती हैं और समुचित चिकित्सा के अभाव मे वे दम तोड देती है ।

दग्धस्थान के अनुसार शरीर का १०० भागों में विभाजन

१ शिर	६ प्रतिशत
२ दोनो हाथ	१८ प्रतिशत
३ दोनो पैर	३८ प्रतिशत
४ धड (उदर और वक्ष)	१८ प्रतिशत
५ पीठ	२० प्रतिशत
	१०० प्रतिशत

दग्ध चिकित्सा की हिदायते

१ दग्ध के स्थान पर टैनिक एसिड का कोई लेप न लगाये ।

२ जले हुए भाग पर घी या मक्खन न लगाये, क्योकि इनको छुडाने मे कठिनाई होती है और सक्रमण (Infection) होने की सम्भावना होती है ।

३ खुले व्रण पर रुई नही रखनी चाहिए, क्योकि वह चिपककर कष्टकर हो जाती है ।

४. व्यापक दग्ध पर बोरिक एसिड का मल्हम नही लगाना चाहिए, क्योकि व्रण मे अधिक बोरिक एसिड पहुँचकर हानिकर हो जाता है ।

५ यदि दग्ध स्थान पर अधिक फफोले हो, तो उनके काटने की उचित व्यवस्था न होने पर उन्हे स्वय फोडना ठीक नही है ।

चिकित्सा

प्लुष्ट या हीनदग्ध-चिकित्सा

१ यदि प्लुष्ट या हीनदग्ध १० प्रतिशत से अधिक न हो, तो जले भाग को अग्नि से तपाना चाहिए ।

२ प्लुष्ट मे बाह्य आलेपन और आभ्यन्तर पान आदि मे भी उष्णवीर्यवाली औषधियाँ ही प्रयुक्त करनी चाहिए ।

वक्तव्य—दग्ध के कारण शरीर के अधिक स्विन्न हो जाने से रक्त भी स्विन्न हो जाता है । ऐसी दशा मे यदि सेचन आदि के रूप मे शीतल जल का प्रयोग किया जाय या शीतोपचार किया जाय, तो शीतल जल या औषध एकत्र हुए रुधिर को अधिक स्कन्दित (गाढा) कर देता है, जिससे जले हुए स्थान मे वेदना और दाह बढ जाते हैं । इसलिए व्रणप्रक्षालनार्थ या पीने के लिए शीतल जल का प्रयोग नहीं

करना चाहिए। इसके विपरीत उष्ण उपचार एकत्र हुए रक्त को विलीन कर देता है, जिससे प्लुष्ट दग्ध की वेदना और दाह का शमन हो जाता है।[1]

दुर्दग्ध[2] (बहुलदग्ध) चिकित्सा

१ इसमे चिकित्सक आवश्यकतानुसार अपने विवेक से उष्ण और शीत, इन दोनो उपचारो का प्रयोग करे।

२ घृत का आलेपन और सेचन का प्रयोग शीत रूप मे ही करे।

वक्तव्य—जहाँ दग्ध अधिक हो वहाँ और अधिक उष्ण चिकित्सा से हानि होती है; और यदि दग्ध हीन हो, तो उष्ण चिकित्सा करने से रुधिर विलीन (द्रव) हो जाता है, जिसमे स्थानिक तनाव कम हो जाता है।

सम्यग्दग्ध-चिकित्सा

१ इसमे वशलोचन, पाकड की छाल, लालचन्दन, सोनागेरू और गुरुच को पत्थर पर बारीक पीसकर, घृत मिलाकर दग्ध पर आलेपन करना चाहिए।[3]

२ यदि दग्ध स्थान पर या सर्वशरीर मे दाह मालूम हो रहा हो, तो पित्तविद्रधि (चरक० चि० २१) के समान चिकित्सा करनी चाहिए। जैसे आहारार्थ—फालसा, मुनक्का, अनार और आँवला के कल्क से यथाविधि बनाया हुआ जागल पशु-पक्षियो का मासरस देना चाहिए। यह तरल आहार पर्याप्त प्रोटीनयुक्त होता है।

अतिदग्ध-चिकित्सा

१ अतिदग्ध मे पहले जले हुए मास को निकालकर शीतल उपचार करे।

२ व्रण पर अगहनी चावल का चूर्ण तथा घी मिलाकर प्रलेप करे।

३ तिन्दुक की छाल के क्वाथ मे घी मिलाकर प्रलेप करे।

४ दग्ध व्रण को गुरुच या कमलपत्रो से ढँक देना चाहिए।

५ अन्य उपचार पित्तविद्रधि की तरह करना चाहिए।[4]

६ मधूच्छिष्टादि घृत का रोपणार्थ प्रयोग करना चाहिए।

योग—मोम, मुलहठी, लोध, राल, मजीठ, लालचन्दन और मूर्वा—इन्हे समभाग मे लेकर, साफ पत्थर पर पीसकर कल्क बना ले, फिर कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण जल डालकर घृतावशेष तक पाक कर ले और छानकर सुरक्षित रख ले।

---

१ प्लुष्टस्याग्निप्रतपन कार्यमुष्ण तथौपधम्। शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्न भवति शोणितम्॥
प्रकृत्या ह्युदक शीत स्कन्दयत्यतिशोणितम्। तस्मात् सुखयति ह्युष्ण न तु शीत कथञ्चन॥
—सु० सू० १२।१९-२१

२ शीतामुष्णाञ्च दुर्दग्धे क्रिया कुर्याद् भिषक् पुन। घृतालेपनसेकाँस्तु शीतानेवास्य कारयेत्॥
—सु० सू० १२।२२

३ सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकै। सामृतै सर्पिषा स्निग्धैरालेप कारयेद् भिषक्॥
—सु० सू० १२।२३

४. क्रियाञ्च निखिलां कुर्याद् भिषक् पित्तविसर्पवत्। —सु० सू० १२।२६

७ तैल-घृत आदि स्नेह द्रव्यो से दग्ध होने पर विशेषकर रूक्ष क्रियाएँ करनी चाहिए।

दग्ध की तात्कालिक चिकित्सा

१ सर्वप्रथम मार्फीन ¼ ग्रेन का इण्ट्रामस्कुलर इञ्जेक्शन दे।

२ दग्ध-शरीरावयव को स्वच्छ वस्त्र से ढँक दे और यदि बन्धन-योग्य हो तो व्रणबन्धन करे।

३ यदि रोगी के कपडो मे आग लगी हो और पास मे कोई नही हो, तो जमीन पर लेटकर करवटे लेनी चाहिए।

४ आग की लपटो को बुझाने के लिए कम्बल आदि लपेट ले।

५ खुली हवा मे न भागे और सहायता के लिए चिल्लाना चाहिए।

६ नगर या मकान मे आग लगी हो तो फायर ब्रिगेड को सूचित करे।

७ रोगी को किसी एकान्त स्थान मे लिटाना चाहिए।

८ ए० टी० एस० १५०० यूनिट्स का इण्ट्रामस्कुलर इञ्जेक्शन दे।

९ आवश्यकता समझे तो ऑक्सीजन सुघाये।

१० गम्भीर दग्ध मे एव २५ प्रतिशत से अधिक जलने पर रुधिराधान करना चाहिए। रक्त रोगी के रक्त के ग्रुप का ही होना चाहिए।

११ रक्त मिलने की व्यवस्था होने तक ग्लूकोज सेलाइन को सिरामार्ग द्वारा विन्दु-पद्धति (Drip method) से देना चाहिए।

१२ २५ प्रतिशत से अधिक जलने पर रुधिराधान आवश्यक है।

१३ यदि किसी बच्चे मे शरीर का बाह्य स्तर १० प्रतिशत से अधिक जल गया हो अथवा युवक मे १५ प्रतिशत से अधिक भाग जल गया हो, तो प्लाज्मा, डेक्स्ट्रान (Dextran), डेक्स्ट्रावेन (Dextraven) अथवा किसी प्लाज्मा के यौगिक का तत्काल प्रयोग आवश्यक है। हो सके तो रुधिराधान करे, जिससे स्तब्धता का भय दूर हो जाये।

१४ अधिक दग्ध होने पर डेकाड्रान (Decadran), वेटनीसोल, (Betnesol) आदि का इञ्जेक्शन प्रतिदिन दें।

१५ रोगी को पर्याप्त मात्रा मे विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स, विटामिन सी०, डी०, ई० देते रहना चाहिए। दूध, छेना, फलो का रस तथा पर्याप्त मात्रा मे जल पिलाते रहना चाहिए।

१६ सक्रमण के रक्षार्थ व्रण को स्टेरिलाइज्ड वस्त्र से ढँक कर रखना चाहिए।

१७ जले हुए स्थान को डेटाल आदि एण्टी-सेप्टिक की सहायता से साफ कर विकृत तन्तुओ को कैंची से काटकर अलग कर दे। तत्पश्चात् पेनिसिलीन, सिवाजोल, वर्नाल या सीटावेलान को किसी स्वच्छ वस्त्र पर फैलाकर व्रण पर रख दे।

१८ अल्पदग्ध मे वर्नाल, विटाप्लेक्स, टेनोफेक्स जेली अथवा सुप्रामाइसीन लगाना चाहिए।

१९ जलने के २४ घण्टे के भीतर ही रोगी को A T S १५०० यूनिट्स का इण्ट्रामस्कुलर सूचीवेध देना चाहिए, जिससे आगे चलकर टिटेनस होने की सभावना न रहे। साथ मे टिटेनस टॉक्साइड का भी अन्त पेशी प्रयोग करना चाहिए। चार-छह सप्ताह मे पुन एक सूचीवेध देना चाहिए।

२० बन्धन रहित विधि (Exposer method)—व्रण स्थान को भलीभाँति स्वच्छ तथा शुष्क कर उस पर सल्फोनामाइड पेनिसिलीन पाउडर अधिक मात्रा मे छिडककर खुला छोड दे। इस प्रकार व्रण पर जो आवरण बनता है, वह सक्रमण रोकने मे सहायक होता है। एतदर्थ जेन्सियन वायोलेट, एक्रिफेवीन और ब्रिलियेण्ट ग्रीन का बनाया हुआ योग—'पेण्ट ऑफ क्रिस्टल वायोलेट कम्पाउण्ड' का भी प्रयोग होता है।

हिमदग्ध
(Frost bite)

परिचय—जब वायुमण्डल का तापमान शून्य डिग्री से नीचे चला जाता है, तब हवा मे ठिठुरन बढ जाती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि हाथ-पैर की अँगुलियाँ, नाक, कान आदि कटकर शरीर से अलग हो जायेंगे और ये अग शून्य हो जाते है।

कारण

अतिशय शारीरिक परिश्रम, दीर्घकालीन रोगजन्य दुर्बलता, अस्वस्थता, चिरकालीन मदात्यय और लगातार अनशन करने से शरीर पर शीत का अधिक प्रभाव पडता है। बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था और अधिक समय तक शीत मे रहने से अल्पशक्ति वाले व्यक्ति को पाला मार जाता है और वह हिमदग्ध का रोगी हो जाता है।

चिकित्सा

१ रोगी को मोटे कम्बल या रजाई से अच्छी तरह ढँक देना चाहिए।

२ रोगी के बिछावन पर गरम जल मे भरी हुई थैली या गरम जल की बोतले रख देनी चाहिए।

३ सर्वशरीर मे गरम तेल की मालिश करनी चाहिए।

४ रोगी को चाय, काफी, ब्रॉण्डी तथा गरम दूध पिलाना चाहिए।

५ हिमदग्ध अग को गरम फलालेन के कपडे से ढँक कर रखे। दग्ध स्थान पर दबाव नही पडना चाहिए।

६ यदि रोगी अधिक उच्च भूभाग मे हो, तो ऑक्सीजन देना चाहिए।

७ ऐसी औषधे दे जिससे रक्तवाहिनियाँ प्रसारित हो और रुग्ण अग मे रक्त का

सञ्चार बढे। जैसे—मकरध्वज, समीरपन्नग रस, मल्लसिन्दूर, रसराज रस, वृहद्वात चिन्तामणि, महायोगराज गुग्गुलु, शृङ्गभस्म आदि।

एवञ्च प्रिस्कोफेन (Prescophen), प्रिस्कोल (Prescol), कोम्प्लामिन (Complamina), अर्लिडीन (Arlidin) और डुआडाइलान (Duadilan) की गोली या इञ्जेक्शन आवश्यकतानुसार देना चाहिए।

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा

१ शीतलहरी के समय पर्याप्त ऊनी वस्त्र धारण करना चाहिए।

२ हाथो मे दस्ताने, पैरो मे मोजे, शिर मे कनटोप और बूट जूता पहनना चाहिए।

३ उष्ण वातावरण मे रहना चाहिए। हीटर अथवा अँगीठी जलाकर कमरे को गरम रखना चाहिए।

४ गरम जल का प्रयोग तथा गरम तेल की मालिश करनी चाहिए।

विद्युत् तथा रासायनिक पदार्थो से दाह

१ बिजली के तीव्र करेण्ट के लगने से यह दाह होता है। इसमे हृदय अथवा श्वाससम्बन्धी उपद्रव होते है। इसमे सर्वप्रथम विद्युत् स्तब्धता की चिकित्सा करनी चाहिए।

२ **रासायनिक पदार्थों से दाह**—यह दाह शरीर के किसी अग पर तेजाब या तेज क्षारीय पदार्थ के गिर जाने से होता है।

चिकित्सा

१ सभी जले कपडो को हटा देना चाहिए, उसके बाद जले भाग को देर तक पानी से धोना चाहिए।

२ धोने के बाद तेजाब से जले भाग को सोडाबाईकार्ब के २०% के घोल से धोना चाहिए एव क्षारीय पदार्थ से जले भाग को सिरके के मन्द घोल से धोना चाहिए।

३ कार्बोलिक एसिड से दाह होने पर दग्ध स्थान पर अल्कोहल मलकर धोना चाहिए।

४ यदि नेत्र मे कार्बोलिक एसिड पड जाये, तो हलका सेधानमक डालकर बनाये हुए गुलाबजल के द्रव से नेत्र को धोना चाहिए। तत्पश्चात् नेत्रबिन्दु या लाकुला आदि का ड्रॉप डालते रहे।

इन्द्रवज्राग्नि दग्ध (बिजली मारना)

परिचय—यह एक जानलेवा सकट की घडी होती है, जब कि आसमान से किसी मनुष्य के शरीर पर बिजली गिर पडती है। वर्षा ऋतु मे या बे-मौसम भी जब आकाश मे बादलो का भीषण गर्जन-तर्जन उमड-घुमड के साथ तूफान उमडता है, तो ऐसे मौसम मे दिल को दहला देनेवाली तडप और आँखो के सामने चकाचौंध

न्धा देनेवाली चमक के साथ विजली गिरती है। उसकी चपेट मे आनेवाला शायद ही कोई भाग्यशाली जीवित बचता है।

सुरक्षा-कवच

१ जब बरसात का मौसम अन्धड और तूफान के साथ उतर आया हो और रह-रहकर बिजली की कडक हो और रोशनी भी चमक जाती हो, तो उस समय अपने जीवन की रक्षा के लिए किसी कमरे के भीतर रहे और खिडकी-दरवाजे बन्द कर लें।

२ आग, बिजली की मेन स्विच, रेडियो तथा टेलिविजन के तार से दूर रहना चाहिए।

३ यदि कही रास्ते मे ऐसा हो, तो वहाँ किसी टीले पर या टूटे मकान मे या मोटरकार मे शरण लें।

४ किसी खाई या गढे मे तब तक लेटे रहे जब तक कि वर्षा न रुके।

५ यदि कपडे भीगे हो तो तुरन्त बदल दें, क्योकि गीले वस्त्र के माध्यम से विद्युद् धारा (करेण्ट) प्रवाहित होती है।

६ दुर्दिन मे अकेले पेड के नीचे, दीवार के पास या पोखरा या नदी के किनारे रहना खतरा मोल लेना है।

चिकित्सा

जिस पर बिजली गिरी हो, उसे किसी खुले तथा सुरक्षित स्थान पर ले जाकर कृत्रिम श्वास देना चाहिए। यह क्रिया पर्याप्त समय तक करे। रोगी को बेहोश देखकर निराश नही होना चाहिए। हृदय की उत्तेजना के लिए शरीर को गरम करने का प्रयत्न करे। कोरामिन, कार्डियाजोल, वेरीटाल, इनमे से किसी एक का इञ्जेक्शन दें।

तीव्र रक्तस्राव : कारण और प्रकार

रक्त को जीवन का आधार माना गया है—'रक्त जीव इति स्थिति'। किसी भी कारण जब शरीर से रक्त का स्राव होने लगता है, तब शरीर निस्तेज, शिथिल और निर्बल हो जाता है। ओठ, गला एव मुख सूखने लगते है, जिससे प्यास अधिक लगती है। यदि रक्तस्राव शीघ्र नही रोका जाता है तो मृत्यु भी हो सकती है।

शरीर की जिन प्रणालियो से रक्त का सवहन होता है, वे तीन प्रकार की है, इसलिए स्राव भी तीन प्रकार के है—

१ धमनी का रक्तस्राव (Arterial haemorrhage)।

२ सिरा का रक्तस्राव (Venous haemorrhage)।

३ कोशिका का रक्तस्राव (Capillary haemorrhage)।

निम्नलिखित धमनियो से ३ मिनट से अधिक समय तक रक्तस्राव का होना प्राणघातक होता है—

१ गले की धमनी (Carotid artery) ।
२ कक्षा धमनी (Axillary artery) ।
३ बाहु की प्रगण्ड धमनी (Brachial artery) ।
४ पैर की ऊरु धमनी (Femaral artery) ।

रक्तवाहिनी भेद से स्राव के प्रकार

१ धमनियो से होने वाला रक्तस्राव प्राय लाल और चमकीला (किन्तु फुप्फुसीया धमनी को छोडकर) और वेग के साथ निकलता है ।

२ सिराओ से होने वाला रक्तस्राव (फुप्फुसीया सिरा को छोडकर) कालिमा लिए हुए अशुद्ध और बिना वेग के निकलता हे ।

३ केशिकाओ से होने वाला रक्तस्राव लालवर्ण का होता है । यह रक्त तन्तुओ से धीरे-धीरे स्रवित होता हे और अधिक घातक नही होता । इसे आसानी से रोका जा सकता है ।

बाह्य स्राव और उपचार

१ **शिर का रक्तस्राव**—शखप्रदेश से रक्तस्राव होने पर शखधमनी पर सीधे दबाव डालना चाहिए। इसमे चेहरे पर पीलापन, नाडीगति-मन्दता, श्वासकष्ट और हाथ-पैर ठडा होना, ये लक्षण होते है ।

उपचार—रक्तस्राव को रोकने के लिए शिर पर ठडे जल की पट्टी या वर्फ रखना चाहिए। ग्रीवा की सामान्य कैरोटिड धमनी (Common carotid artery) पर दबाव डालकर रक्तस्राव को रोके । यदि रोगी बेहोश हो तो सावधानी के साथ धमनी पर दबाव डालना चाहिए। रोगी को एकान्त स्थान मे रखना चाहिए। बाह्य आघात मे क्षतस्थान पर सामान्य चिकित्सा करे। किसी भी सक्रमणरोधी औषध से ड्रेसिग करे। बडा क्षत हो तो टाँका लगाये । यदि रोगी बेहोश हो, तो उसे समभाग नौसादर और चूना किसी सीसी मे डालकर हिलाकर वन्द रखे और उसे सुँघाये । चेहरे पर बारी-बारी से ठडे एव गरम जल के छीटे दे । कपालास्थि-भग्न हो तो विशेषज्ञ के पास चिकित्सार्थ भेजे ।

२ **कर्ण-रक्तस्राव**—हाथ के तलवे से झापड मारने से या किसी अन्य प्रकार से कनपटी पर चोट लगने से बाह्यकर्ण या कर्णपाली या कर्णपटल के फट जाने से कर्णरक्तस्राव होता है ।

इससे तत्काल रूई के फाहे से क्षतस्थान के रक्त को साफ कर लाइकर एड्रीनलीन के साथ कोई जीवाणुनाशक औषध मिलाकर कर्णकुहर पर रख दे और कान के चारो ओर ठडे पानी की पट्टी या बर्फ रखे ।

३ **नासिका-रक्तस्राव**—इस तरह का स्राव बच्चो मे अधिकाश होता है । उच्च रक्तचाप, जीर्ण प्रतिश्याय, पीनस एव रक्तपित्त के कारण और आघात लगने से नासा-रक्तस्राव होता है ।

ऐसी स्थिति मे रोगी को किसी ठडे स्थान मे खुली हवा मे सिरहाना नीचा रखकर सुलाये। छाती पर के कसे कपडे ढीले कर दे। नाक और गरदन पर बर्फ के पानी मे भीगे कपडे रखे। रोगी को मुख खोलकर श्वास लेने को कहे। शिर मे हिमांशु या हिमसागर तैल की मालिश करे।

रक्तस्तम्भक नस्य[1]—१ नीलकमल पुष्प, गेरू, शखभस्म और सफेद चन्दन को चीनी के शर्बत मे पीस-छानकर नाक मे बूँद-बूँद टपकायें।

२ आम की गुठली, लज्जावन्ती, धाय का फूल, मोचरस और पठानी लोध को चीनी के शर्बत से पीस-छानकर नस्य दे।

इसी प्रकार अलग-अलग—३ अगूर का रस, ४ ईख का रस, ५ गोदुग्ध, ६ दुर्वा-स्वरस, ७ जवासामूल-स्वरस, ८ प्याज-स्वरस और ९ अनार की कली के स्वरस का नस्य देने से नासा-रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

४ दाँत का रक्तस्राव—किसी ठोस वस्तु से चोट लगने से जब दाँत टूट जाते हैं, तो कष्ट के साथ रक्तस्राव होने लगता है। क्षत पर फिटकरी का चूर्ण रखकर रूई से दबा देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

५ जिह्वा का रक्तस्राव—कभी-कभी दाँतो के नीचे अचानक जीभ के आ जाने से वह क्षतिग्रस्त हो जाती है और उसमे रक्तस्राव होने लगता है। क्षत को अँगुली से दबा दे और उस पर बर्फ का टुकडा रगडकर फिटकरी का चूर्ण डालकर कुछ देर रूई से दबा दे। जब तक क्षत का रोहण न हो, तब तक तरल और शीतल आहार दे।

६ ओठ का रक्तस्राव—किसी ठोस वस्तु की टक्कर लगने अथवा अन्य आघात लगने से ओठ कट जाता है और उससे रक्तस्राव होने लगता है। क्षत पर सिवाजोल पाउडर या फिटकरी का चूर्ण लगाना चाहिए। अधिक कटा हो तो टाँका लगाये।

७ गुदा से रक्तस्राव—पित्तार्श,[2] रक्तार्श,[3] रुधिरार्बुद,[4] भगन्दर,[5] रक्तातिसार,[6] अधोग रक्तपित्त, सरक्ता प्रवाहिका[7] आदि मे गुदा से रक्त का स्राव होता है। इनमे मृदु-ग्राही औषध का प्रयोग करे।

---

१ नीलोत्पल गैरिकशङ्खयुक्त सचन्दन स्यात्तु सिताजलेन।
नस्य तथाऽऽम्रास्थिरस समङ्गा सधातकीमोचरस सलोध्र ॥ —च० चि० ४ ९९

२ तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदव श्लथा। —माधवनिदान

३ स्रवन्ति सहसा रक्त तस्य चातिप्रवृत्तित। भेकाभ पीड्यते दु खै शोणितक्षयसम्भवै ॥ —मा० नि०

४ करोत्यजस्रं रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद् रुधिरात्मकं तु। —मा० नि०

५ बहुवर्णरुजास्रावा पिटका गोस्तनोपमा। —मा० नि०

६ तदोपजायतेऽभीक्ष्ण रक्तातीसार उल्बण। —मा० नि०

७ प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसम्भवा च ता स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥ —मा० नि०

चिकित्सासूत्र

१ रक्तस्राव को रोकने के लिए रक्तवाहिनियो पर सीधा दबाव डाले एव क्षत के ऊपर अनेक तह किया हुआ विमक्रमित गॉज रखे ।

२. क्षत-स्थल के किनारो को अँगुली से पकडकर क्षत को शुद्ध गॉज से ढँक देना चाहिए ।

३ जिस स्थान से रक्तस्राव हो रहा हो, उसको हृदय की सतह से काफी ऊपर उठाकर रखना चाहिए ।

४ शिरा या केशिका से होनेवाले रक्तस्राव मे स्रावस्थान से पार्श्व को पकडकर जीवाणुरहित गॉज रखकर सुरक्षित कर देना चाहिए ।

५ किसी मर्मस्थान से रक्तस्राव की गम्भीर स्थिति हो, तो प्राथमिक उपचार के पश्चात् रोगी को तुरन्त विशेषज्ञ चिकित्सक या चिकित्सालय मे स्थानान्तरित कर देना चाहिए ।

६ रक्तस्राव को रोकने के बाद उससे उत्पन्न स्तब्धता (Shock) को दूर करने का प्रयास करना चाहिए ।

७ रक्तस्राव का रोगी घबडाया हुआ, बेचैन और भयग्रस्त होता है । उसे आश्वासन देकर एव धैर्य बँधाकर उसके भय को दूर करना चाहिए ।

८ रोगी को पूर्ण ऑक्सीजन मिल सके, इसके लिए उसे स्वच्छ एव खुले स्थान मे रखे ।

९ यदि रोगी बेहोश न हो अथवा उदरीय आघात (Abdominal injury) न हो, तो उसे पर्याप्त जल या अन्य तरल पदार्थ देते रहना चाहिए ।

१० जब तक रक्तस्राव रुक न जाय, तब तक उसे गरम चाय, काफी या कोई उत्तेजक पदार्थ न दे ।

आन्तरिक रक्तस्राव

१ **फुप्फुस**—जब फुप्फुस से रक्तस्राव होता है, तो खाँसी के साथ कफमिश्रित रक्त बाहर निकलता है, जिसका रग लाल होता है । जैसे—[1]रक्तपित्त, [2]उर क्षत, [3]क्षतज कास, [4]राजयक्ष्मा, [5]तृष्णा आदि का रक्तस्राव ।

२ **आमाशय**—यदि आमाशय से रक्तस्राव होता है, तो वमन के साथ वह लाल

---

१. सान्द्र सपाण्डु सस्नेह पिच्छिल च कफान्वितम् । —मा० नि० रक्तपित्तनि०

२. उरोरुक् शोणितच्छर्दि. कासो वैशेषिक क्षते । —मा० नि० क्षतक्षीणनि०

३ रूक्षस्योर.क्षत वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् । —मा० नि० कासनि०

४ भक्तद्वेषो ज्वर. श्वास. कास शोणितदर्शनम् । —मा० नि० राजयक्ष्मानि०

५. क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्या तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु । —मा० नि० तृष्णानि०

रग का होता हे। यदि आमाशय मे देर का रक्तस्राव हुआ है तब कॉफी के रग का रक्त वमन के साथ दिखलाई देगा। जैसे—अम्लपित्त[1] आदि मे।

३. यदि आँतो से शनै शनै. रक्तस्राव होता है, तब वह मल के साथ काले रग का होता है। जैसे—आन्त्रिकज्वर,[2] अतिसार[3] आदि मे।

४ जब आँतो के बहुत निचले भाग से रक्तस्राव होता है, तब मल के साथ लाल धारी दिखलाई देती है और जब धारी अधिक हो जाती है तो समूचा मल रक्तयुक्त हो जाता है।

५ वस्ति—मूत्रकृच्छ्र,[4] मूत्राघात[5] एव प्रमेह[6] मे मूत्र के साथ रक्त आता है।

वक्तव्य—कारण एव स्थान आदि के अनुसार रक्तस्राव के अनेक प्रकार है, उनमे से कुछ का सकेत किया गया है, किन्तु यह सकेत अति सक्षिप्त है। अलग-अलग नामो मे—१. रक्तष्ठीवन, २ रक्तवमन, ३ नासारक्तस्राव, ४ रक्तातिसार, ५ प्रवाहिका, ६ रक्तार्श, ७ रक्तपित्त, ८ रक्तमेह, ९ मञ्जिष्ठामेह, १० रक्त-प्रदर, ११ त्वचागत रक्तस्राव तथा १२ विषभक्षणजन्य त्वचागत रोमकूपो द्वारा रक्तस्राव आदि मुख्य हैं।

रक्तष्ठीवन—खाँसी के साथ रक्तस्राव को रक्तष्ठीवन कहते है। इसके कारणो मे **राजयक्ष्मा** (Pulmonary tuberculosis) रोग प्रधान है तथा **श्वासपथ मे व्रण, दक्षिण-हृदयातिपात** (Congestive heart failure), **रक्त के रोग, फुप्फुस अन्तः-स्राव, फुप्फुस अर्बुद, फुप्फुस मे विद्रधि, कर्दम** (Gangrene), **उच्च रक्तनिपीड, वक्ष पर आघात** आदि के कारण भी इस प्रकार का रक्तस्राव होता है।

रक्तवमन—यह आमाशय मे रक्तस्राव होने से होता है। आमाशय मे रक्तस्राव होने से पूर्व हृल्लास (वमनेच्छा) तथा मूर्च्छा होती है। यह रक्तवमन **मद्यज यकृद्वृद्धि एवं आमाशयिक व्रण** (Gastric ulcer) के कारण सम्भावित है। आमाशयिक विकार मे कण्ठ मे पीडा, वमन तथा रक्तवमन ये प्रधान लक्षण है। वमन मे रक्त कॉफी की तरह धूसर या ब्राउनिश आता है। यह भोजन द्रव्य से मिला हुआ या स्वतन्त्र भी हो सकता हे। आमाशय मे अर्बुद (Cancer) से कारण भी रक्तवमन हो सकता है।

---

१ वान्त हरित्पीतकनीलकृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम्।
मांसोदकाभ त्वतिपिच्छिलाच्छ श्लेष्मानुजात विविध रसेन॥ —मा० नि० अम्लपित्तनि०

२ दशाहात् परत क्वापि दारुणो रक्तनि स्रव। —सि० नि० आन्त्रिक ज्वरनि०

३ पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके। तदोपजायतेऽभीक्ष्ण रक्तातिसार उल्बण॥ —मा० नि० अतिसारनि०

४. पीत सरक्त सरुज सदाह कृच्छ्र मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्। —मा० नि० मूत्रकृच्छ्रनि०

५ मूत्र हारिद्रमथवा सरक्त रक्तमेव वा। कृच्छ्रात् पुन पुनर्जन्तोरुष्णवात ब्रुवन्ति तम्॥ —मा० नि० मूत्राघातनि०

६ विस्रमुष्ण सलवण रक्ताभ रक्तमेहत॥ —मा० नि० प्रमेहनि०

सापेक्ष निदान

रक्तष्ठीवन	रक्तवमन
१ रक्त निकलने के पूर्व खाँसी आती है।	१ रक्तवमन के पूर्व मे मिचली और वमन होता है।
२ रक्त फेनयुक्त होता है।	२ रक्त के माथ भोजनकण मिलते ह।
३ ष्ठीवन क्षारीय व रक्तवर्ण का होता हे।	३. वमन अम्लीय होता है।
४ यह अनेक दिवसस्थायी होता है।	४ यह आकस्मिक होता है।
५ श्वसन-सस्थान के रोग का इतिहास मिलता है।	५ पाचन-सस्थान के रोगो का इतिहास मिलता है।

नासा-रक्तस्राव—अधिक मात्रा मे नासिका से रक्त निकले तो उसे रक्तपित्तज जानना चाहिए। अधिक व्यायाम, वायुमण्डल का ताप अत्यल्प या अत्यधिक होने से, वायुमण्डल के दवाव की कमी होने से या अप्राकृतिक ऋतु के कारण नासा रक्तस्राव होता है। नासाव्रण, कण्ठशालूक, तीव्र नासाव्रणशोथ, नासागत शल्य या रक्ताधिक्य, नासार्श, फिरग या घातक अर्बुद के कारण भी रक्तस्राव होना सम्भव है।

गुदामार्ग—रक्तातिसार, प्रवाहिका, रक्तार्श तथा अधोग रक्तपित्त, आन्त्रिक ज्वर, पेप्टिक अल्सर, कालाजार, अन्त्रगत कर्कटार्वुद, क्षय एव व्रण के कारण गुदा से रक्तस्राव हो सकता है।

मूत्रमार्ग—वृक्कशोथ, वृक्कीय अर्वुद, वस्तिगत अश्मरी एव अर्बुद के कारण मूत्रमार्ग से रक्तस्राव सम्भावित है।

चिकित्सा-सहायक उपचार

१ दाह-शमनार्थ शीतल गर्भगृह, रमणीय उद्यान, शीतल वातावरण, शीतल पदार्थों का सस्पर्श, शीतल जल से भीगे पखे की हवा, कूलर की हवा और शीतल प्रदेह, प्रलेप, अभ्यङ्ग, अवसेचन आदि करना चाहिए।

२ सफेद चन्दन, खस, सुगन्धवाला, कमलदण्ड, नीली दूब, सेवार, अनन्तमूल तथा गूलर, महुआ, लोध, पीपर की गीली छाल का बारीक कल्क बनाकर लेपन करना चाहिए। इससे रक्तपित्तज दाह शान्त होता है।

३ पैंतान की ओर खाट के पायो के नीचे दो-दो ईट रखकर ऊँचा करे।

४ घातक रक्तस्राव मे रक्तप्रमाण की रक्षा के लिए रुधिर का आभरण कराये।

५ रोगी को आतुरालय मे रखकर पूर्ण विश्राम दे।

६ रोगी की नाडी और रक्तभार की अनेक बार परीक्षा करे।

७ पथ्य मे धान का लावा, साबूदाना, मूँग, मसूर, पुराना बासमती चावल, भिण्डी, परवर, सेमर का फूल, कचनार का फूल एव पलाण्डु दे। वकरी या गाय का दूध दे। घी, मक्खन, अनार, आँवला, फालसा, सिंघाडा, किसमिस, कच्ची गरी, गन्ने का रस तथा मिश्री भी देना चाहिए।

शीतल जल-स्नान, शीतल चन्दनानुलेप, कमल, गुलाब, बेला या चमेली की माला, चन्द्रिका, सुरम्य उद्यान एव नदी या नद तट का सेवन करना चाहिए।

औषधीय चिकित्सा

बाह्य रक्तस्राव—१ रक्तस्राव को रोकने के लिए लाइकर एड्रीनलीन (Lq. Adrenaline) १ · १०००, फिटकरी का घोल, टिक्चर फेराई परक्लोर (Tin Ferri perchlor) को रुई के फाहे मे भिगोकर बाँध दे।

२ शुद्ध फिटकरी अद्भुत रक्तस्तम्भक है। किसी भी कारण से होनेवाले बाह्य रक्तस्राव मे शुद्ध फिटकरी का चूर्ण बुरकना चाहिए। दाँत से होनेवाले रक्तस्राव मे इसका चूर्ण दाँत के मूल, मसूडे एव कोटर मे लगाने से खून आना बन्द हो जाता है।

३ कुकुरौधा के पञ्चाङ्ग को पीसकर उसकी लुगदी बनाकर रक्तस्राव के स्थान पर रखकर बाँध देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—१ विटामिन-सी १०० मि० ग्रा०, विटामिन-के १० मि० ग्रा०, कैलसियम लैक्टेट १५ ग्रेन—इन्हे मिलाकर ३ मात्रा बनाकर दिन मे ३ बार दे।

२ अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कैलसियम ग्लूकोनेट १० सी० सी० १० प्रतिशत, २५ सी० सी० २५ प्रतिशत सुपर ग्लूकोज सोल्यूशन मे मिलाकर उसमे ५०० मि० ग्रा० विटामिन-सी मिलाकर शनै शनै सूचीवेध करने से रक्तस्राव शीघ्र बन्द हो जाता है।

३ **ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे** अरूस पञ्चाग, मुनक्का और बडी हर्रे के फल का छिलका समभाग लेकर क्वाथ बनाकर ५० मि० ली० ले। उसमे नीलकमल, शुद्ध स्फुटिका, फूलप्रियगु, लोध और रसौत—इनका मिलित चूर्ण ४०० मि० ग्रा० तथा मिश्री मिलाकर प्रात -साय पिलाये।

४ लाक्षाचूर्ण बारीक ३ ग्राम की १ मात्रा को मधु ५ ग्राम और घी १० ग्राम के साथ दिन मे ३-४ बार दे। यह तुरन्त लाभ करता है।

५ काँचनार, फूलप्रियगु और सेमर के समभाग फूल के चूर्ण को ३-३ ग्राम की मात्रा मधु से दिन मे ३-४ बार दे।

६ रक्तपित्तकुलकण्डन रस ½ ग्राम, शुद्ध स्वर्णगैरिक १ ग्राम, बोलपर्पटी २ ग्राम—इनकी ४ मात्रा बना ले तथा अरूस के स्वरस और मधु से ४ बार दे।

७ **उशीरादि चूर्ण** या **किराततिक्तादि चूर्ण** (दोनो च० चि० अ० ४) ३-३ ग्राम की १ मात्रा दिन मे ४ बार अरूस के रस और मधु से दे।

८ **प्रियङ्ग्वादि पेय**—फूलप्रियगु, सफेद चन्दन, पठानी लोध, अनन्तमूल, महुआ, नागरमोथा, खश और धावा के फूल को समभाग मे कूटकर चूर्ण बनाकर रख लें। इसमे से १०० ग्राम चूर्ण को १ लीटर जल मे रात मे भिगो दे और सवेरे मसलकर

छान ले और उसमे कचंटी मिट्टी वाल रयान का निथरा जल और चावल का धोवन ५०-५० मि० ली० मिलाकर बार-बार पिलाना रक्तस्तम्भक है।[1]

९ अधोग रक्तपित्त मे रक्तपित्तकुलकण्डन ५०० मि० ग्रा०, बोल २ ग्राम, शुद्ध स्वर्णगैरिक २ ग्राम, मोचरस चूर्ण ६ ग्राम/४ माशा, तण्डुलोदक ५० ग्राम और मधु से दिन मे ४ बार दे।

१० बरगद, गूलर, पीपर, पाकड, जामुन के समभाग छाल का चूर्ण २ ग्राम, मोचरस १ ग्राम और लाक्षाचूर्ण १ ग्राम/१ माशा, मधु से ३-४ बार प्रतिदिन।

मूत्रमार्गवत् रक्तपित्त—

११ शतावरीक्षीर[2]—शतावर और गोखरु, दोनो का क्वाथ आधा-आधा लीटर और इनका कल्क १००-१०० ग्राम डालकर १ लीटर दूध को दुग्धावशेष पाक कर, थोडा-थोडा करके पिलाने मे शूल के साथ मूत्रमार्ग मे निकलने वाला रक्त बन्द हो जाता है।

१२ गुदमार्गगत[3] रक्तपित्त—इसमे मोचरसकल्क से सिद्ध गोदुग्ध अथवा बरगद की बरोह और ठूसे के कल्क से सिद्ध गोदुग्ध अथवा सुगन्धवाला, नीलकमल और सोठ के कल्क से पकाया गया गोदुग्ध पिलाना लाभकारक होता है।

१३ वासाघृत[4]—अरुस के पञ्चाङ्ग का क्वाथ बनाये और उसमे अरूस के ही फूल का कल्क डालकर विधिवत् गोघृत का निर्माण करे। इस घृत मे मधु मिलाकर सेवन करने से शीघ्र ही रक्तपित्त का शमन हो जाता है। पथ्य मे दूध-भात देना चाहिए।

---

१ प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम्।
समृत्प्रसाद सह षष्टिकाम्बुना सशर्कर रक्तनिबर्हण परम्॥ —च० चि० ४।८१

२ शतावरीगोक्षुरकै श्रृत वा श्रृत पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभि।
रक्त निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात् सरुज प्रयाति॥ —च० चि० ४।८५

३. विशेषतो विट्पथसम्प्रवृत्ते पयो मत मोचरसेन सिद्धम्।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा॥ —च० चि० ४।८६

४ वासा सशाखा सपलाशमूला कृत्वा कषाय कुसुमानि चास्या।
प्रदाय कल्क विपचेद् घृत तत् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम्॥ —च० चि० ४।८८

चतुर्दश अध्याय

तीव्र उदरशूल, तीव्र श्वासकाठिन्य एवं वृक्कशूल

तीव्र उदरशूल

परिचय—उदर-प्रदेश में शंकु (खूंटा) धँसाने के समान तीव्र वेदना का होना तीव्र उदरशूल कहा जाता है।[1]

सामान्य निदान

वात (अपानवायु), मूत्र तथा मल के वेग को रोकना, अत्यधिक भोजन करना, अजीर्ण, अध्यशन, अधिक परिश्रम, विरुद्ध भोजन और उड़द पीसकर बने पदार्थ तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ का खाना शूलरोग का कारण होता है। नाडी-तन्तुक्षोभ के कारण भी शूल होता है। सभी शूलों मे वायु की प्रधानता रहती है।

उदरशूल सापेक्ष निदान

परिणामशूल	अम्लपित्त	अन्नद्रवशूल	गुल्म
१ शूल-पच्यमान अथवा पक्वावस्था मे	पच्यमानावस्था मे	निरन्तर	जीर्णावस्था मे विशेष
२ दोष-वातप्रधान	पित्तप्रधान	पित्तप्रधान	वातप्रधान
३ वमन-क्वचित्	अम्लपित्त का वमन	विदग्ध पित्त-वमन	नही
४ उदर की स्थिति-दवाने से स्पर्शासहत्व	-	—	उत्सेध (भ्रमणशील) स्पर्शासहत्व
५ शमन-स्निग्ध, उष्ण भोजन तथा मर्दन से	वमन मे	वमन से	स्निग्ध, उष्ण भोजन एवं मर्दन से
६. अन्य लक्षण-विवन्ध, आध्मान	हृत्कण्ठदाह, अरुचि, अग्निमान्द्य	दाहयुक्त शूल	विवन्ध, आध्मान

१ शङ्कुस्फोटनवत् तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदना।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्मात् शूलमिहोच्यते॥ —सु० उ० त० ४२

वातप्रधान[1] **शूल**—यह वातप्रकोपक आहार-विहार से होता है। यह भोजन के पच जाने पर, सायकाल, वर्षाऋतु तथा शीत के समय विशेष रूप से वढ जाता है। यह वार-वार घटता-वढता रहता है। इसमे मल तथा वायु का अवरोध हो जाता है। इसमे सूई के समान चुभन और भेदनवत् (तोडने जैसी) पीडा होती है।

चिकित्सासूत्र[2]—स्वेदन, अभ्यङ्ग, मर्दन तथा स्निग्ध एव उष्ण गुणयुक्त आहार देना लाभकर होता है।

चिकित्सा

१ सर्वप्रथम गरम जल भरे वोतल अथवा हॉट वाटर वैग (Hot water bag) से उदर को सेकना चाहिए।

२. उदर पर महानारायण तैल या अन्य उपलब्ध वातघ्न तैल की मालिश कर, खीर या खिचडी (स्निग्ध) की पोटली वनाकर तवे पर वार-वार गरम कर सहन करने योग्य होने पर उससे उदर को सेंकना चाहिए।

३ तदनन्तर राई और सहिजन की छाल सममात्रा मे लेकर गाय के मट्ठे मे पीसकर गरम कर लेप करे। अथवा —

४ देवदारु वुरादा, वच, कूठ, सौंफ, हीग और सेधानमक—इन्हे सम प्रमाण मे लेकर वारीक पीसकर उदर-प्रदेश पर सुखोष्ण लेप करे। अथवा—

५ जौ का आटा २५० ग्राम और जवाखार ५० ग्राम लेकर मट्ठे मे पीसकर गरम कर उदर पर लेप करे।

६ **आभ्यन्तर प्रयोग**—घी मे भुनी हीग ३०० मि० ग्रा० सुखोष्ण जल से निगलवाना वातानुलोमक और तीव्र उदरशूलनाशक है।

७ **शिवाक्षार पाचन चूर्ण** ३ ग्राम और मीठा सोडा १ ग्राम/१ मात्रा सुखोष्ण जल से दे। आधा-आधा घण्टे पर ४–५ वार उक्त मात्रा दे। दवा देने के वीच के समय मे १–१ गोली हिंग्वादि वटी चूसने को दे।

८ **कुबेराक्ष वटी**—वालू मे भुना करञ्ज वीज (छिलका रहित), कालानमक, सोठ, घी मे भुना लहसुन प्रत्येक १०–१० ग्राम, घी मे भुनी हीग और भुना सोहागा ५–५ ग्राम लेकर सहिजन की छाल के रस मे घोटकर गोली वनाये और १–१ ग्राम की मात्रा आधे-आधे घण्टे पर सुखोष्ण जल से दे।

९ **शूलवज्रिणी वटी** २–२ गोली गरम जल से आधे-आधे घण्टे पर दे। अधिक तीव्रशूल मे शूलवज्रिणी २ गोली, शखभस्म २५० मि० ग्रा०, क्षारराज १ ग्राम या सोडावाईकार्व १ ग्राम मिलाकर थोडी-थोडी देर पर देते रहे।

१० **विबन्धजन्य शूल मे** इच्छाभेदी रस ३०० मि० ग्रा० ठडे जल मे दे। अथवा नाराच रस २०० मि० ग्रा० शीतल जल से दे।

---

१ जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोप समुपैति गाढम्।
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपौ विड्वातसस्तम्भनतोदभेदै ॥ —मा० नि०

२ सस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यै स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शर्म प्रयाति। —मा० नि०

११ **पित्तजशूल** मे नीम की पत्ती पीसकर उसे पिलाकर वमन कराये । तत्पश्चात् एनीमा दे अथवा निशोथ चूर्ण ४ ग्राम खिलाये ।

१२ शूल-शमनार्थ नारिकेल लवण १–२ ग्राम की मात्रा मे वार-वार दे ।

१३ अर्कलवण १ ग्राम, शम्बूक भस्म २५० मि० ग्रा० और शूलवज्रिणी वटी २ गोली/१ मात्रा जल से आधे-आधे घण्टे पर दे ।

१४ **अविपत्तिकर चूर्ण** २-२ ग्राम २-२ घण्टे पर २-३ वार दे ।

१५ केवल सोडावाइकार्ब १-१ ग्राम १५-२० मिनट वाद ३-४ वार देते रहे ।

१६ **अन्नद्रवशूल या परिणामशूल** मे शूलवज्रिणी १ गोली, शम्बूक भस्म २५० मि० ग्रा०, क्षारराज १ ग्राम/१ मात्रा १-१ घण्टे पर दे ।

१७ धात्री लौह या सप्तामृत लौह १ ग्राम, मुक्तागुक्ति भस्म २५० मि० ग्रा०/१ मात्रा आँवले के १ मुरब्बे से दिन मे ४ वार दे ।

१८ **आनाह या उदावर्तज शूल** मे वातानुलोमन उपचार करे और सममात्रा मे जौ मिश्रित चने का सत्तू घी-चीनी २०-२० ग्राम मिलाकर खाने के लिए थोडी-थोडी देर पर देते रहे ।

तीव्र श्वासकाठिन्य

(Acute Respiratory Failure)

परिचय—इसमे श्वास ग्रहण करने एव छोडने मे वडा भयङ्कर कष्ट होता है तथा प्राणान्त हो जाने का भय और त्रास होता है । रोगी श्वास लेने मे अत्यधिक वेदना का अनुभव करता है । वह शिर नही सम्भाल पाता एव वह पीछे की ओर झुक जाता है । आँखे बाहर निकल जाती है, मुखमण्डल नीला पड जाता है और श्वास लेने की कोशिश करने पर पेट मे वायु भर जाती है । रक्त मे ऑक्सीजन अल्प अनुपात मे पहुँचता है और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा बढ जाती है तथा वह निकल नही पाती है । फुप्फुस के वायुप्रकोष्ठ अपना कार्य ठीक से नहीं कर पाते है और श्वसनकर्म मे व्यवधान हो जाता है । यदि श्वसन-सकटावस्था (Respiratory emergeny) का तुरन्त निराकरण नही किया जाता, तो प्राण-सकट उपस्थित हो जाता है ।

कारण

१ श्वासप्रणाली मे वाह्य पदार्थ—भोजन के कण, वमन के पदार्थ एव कृत्रिम दाँत आदि का पहुँचना ।

२ अत्यधिक मद्यपान, स्वररज्जुशोथ (Swelling of vocal cords), पर्वतीय प्रदेशो मे ऊँचाई पर ऑक्सीजन की कमी होना ।

३ रक्तसवहन की विकृति, मस्तिष्क आघात, अहिफेन विष एव यूरीमिया ।

४ वालपक्षाघात, कपालास्थि का अस्थिभग तथा गर्दन का अस्थिभग ।

५ निद्राकर औषध-सेवन, जैसे -कोडीन, मार्फिया, वार्विट्यूरेट आदि गैसे

जैसे—सल्फर-डाइ-ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, एमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड, हाइड्रोजन साइनाइट, कार्बन मोनोक्साइड आदि।

६ मुँह और नाक का एक साथ बन्द होना, सीने को जोर से दबाये रखना, खिडकी-दरवाजा बन्द कर एक कमरे मे अधिक व्यक्तियो का सोना तथा बन्द कमरे मे कोयल की अगीठी जलाकर सो जाना।

७ श्वसन केन्द्र की क्रियाहीनता, मस्तिष्कगत रक्तन्यूनता।

८ हृदय-फुप्फुस-श्वासप्रणाली तथा महाप्राचीरा पेशी के विकार, आमाशय का आध्मान, वृक्क विकार, रक्तवाहिनियो के उच्च रक्तचाप युक्त विकार, विषमयता।

९ अत्यधिक रक्ताल्पता, मधुमेहजन्य सन्यास, जनपदव्यापी शोथ।

१० तुण्डिकेरी (Tonsilitis), रोहिणी (Diphtheria), निमोनिया, राजयक्ष्मा या किसी अन्य कारण से श्वासपथ का सकीर्ण हो जाना।

११ श्वासकर्म-सहायक पेशियो के कार्य मे किसी तरह का व्यवधान हो जाना, जैसे—उर स्थल या उदरशोथ के कारण पीडा का होना, वक्ष स्थ पेशियो का घात होना, महाप्राचीरा पेशी की अकर्मण्यता, आध्मान, उदावर्त या जलोदर होना—ये कारण है जिनसे श्वासकाठिन्य होता है।

श्वासकाठिन्य के प्रकार

श्वासकृच्छ्रता के अनेक रूप होते है, जैसे—

१ **अन्त श्वसन-कृच्छ्रता**—इसमे श्वास लेने मे कष्ट होता है। इसे इन्स्पिरेटरी डिस्प्नोइया (Inspiratory dispnoea) कहते है। इसमे श्वास छोडने मे कष्ट नही होता। यह लैरिंग्स (Larynx) मे रोहिणी (Diphtheria) होने से होती है।

२ **बहि श्वसन-कृच्छ्रता** (Expiratory dispnoea)—इसमे श्वास छोडने के समय कष्ट होता है। यह वक्ष मे वायु के भरे होने से होता है। श्वास छोडने मे उदर की पेशियो को अधिक क्रियाशीलता की जरूरत पडती है।

३ **श्वासप्रणालीगत् श्वासकृच्छ्रता** (Bronchial asthma)—इसमे श्वास ग्रहण करने और छोडने दोनो समय कष्ट होता है। इसके होने मे मूत्रविषमयता, जनपदव्यापी शोथ और मधुमेहजन्य सन्यास, ये कारण होते है।

चिकित्सासूत्र

१ सावधानी से निदान कर रोगजनक कारणो का परिवर्जन तथा निदान के विपरीत भेषज, आहार-विहार और उपचार करे।

२ लवणमिश्रित वातहर तैल से स्नेहन करके यथोचित स्वेदन करे।

३ भरपेट इक्षुरस पिलाकर मदनफल १० ग्राम, पीपर २ ग्राम, सेधानमक २ ग्राम इन्हे पीसकर मधु से चटाकर वमन कराये। वमन से कफ के निकल जाने से प्राणवह स्रोत के अवरोध के हट जाने पर वायु का सञ्चार निर्बाध होने लगता है। तत्पश्चात् शेष कफ को हटाने के लिए धूमपान कराना चाहिए।

४ हरिद्रा, तेजपात, एरण्डमूल, लाक्षा, मन शिला, देवदारु, जटामसी—इन्हे पीसकर धूमवर्ती बना घी मे भिगोकर धूमपान कराये।

५ कफ-वातनाशक, उष्ण तथा वातानुलोमक औषध, अन्न, आहार-विहार और पेय पदार्थों का सेवन कराये[१]।

६ श्वासप्रणाल को उत्तेजित करनेवाली औषधे दे तथा ऑक्सीजन उपलब्ध कराये। आदी को महीन कूच कर मधु मिलाकर चूसने को दे या त्रिकटुचूर्ण और मधु मिलाकर मुख मे चुभलाने के लिए दें।

७ अग्निमान्द्य, आमरस-दुष्टि, आध्मान, उदावर्त तथा प्राणवह स्रोत के अवरोध को ध्यान मे रखते हुए दीपन-पाचन, आमदोष-नाशक, कफवातघ्न और प्राणवह स्रोतस् शोधक उपचार करना चाहिए।

चिकित्सा

१ तमक श्वास मे वेगशमनार्थ एड्रीनलीन (Adrenalin 1 1000) को अधस्त्वक् मार्ग से प्रति मिनट ५ बूंद की दर से ½ से १ सी० सी० तक देना चाहिए। अथवा आइसोप्रोपेनील (Isopropanyl) या नियो एफीनीन (Neo ephinine) की टिकिया जीभ के नीचे रखने के लिए दे।

२ श्वासवेगाधिक्य के कारण होने वाली बेचैनी और श्वासावरोध के शमनार्थ —

श्वासकासचिन्तामणि	५०० मि० ग्रा०
शृग भस्म	१½ ग्राम
नरसार	७५० मि० ग्रा०
मुलहठी चूर्ण	१० ग्राम
	५ मात्रा

इसे अरूस के रस और मधु से, प्रति २ घण्टे पर देते रहे।

३ सुखोष्ण घी मे महीन सेंधानमक और कपूर मिलाकर छाती के दोनो ओर हल्की मालिश करे।

४ एक लीटर गरम जल मे २ चम्मच सोडाबाइकार्ब और २ चम्मच सेंधानमक मिलाकर रख दें और इसे सुखोष्ण कर आधा-आधा कप बार-बार पिलाते रहे।

५ श्वासोपद्रव-शमनार्थ निम्नाङ्कित योग दें—

इफेड्रिन हाइड्रोक्लोर	½ ग्राम
प्रेडनीसोन	५ मि० ग्रा०
एमिनोफाइलिन	१½ ग्राम
फेनोबार्बीटोन	½ ग्राम
	१ मात्रा

३–४ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार देते रहे।

---

१. यत्किञ्चित् कफवातघ्नमुष्ण वातानुलोमनम्। भेषज पानमन्न च तद्धित श्वासहिक्किने ॥
—च० चि० १७

अथवा—

६. शृङ्गाराभ्र ५०० मि० ग्रा० तथा अर्क लवण ५ ग्राम/४ मात्रा। पान के स्वरस १ चम्मच और मधु मे २-२ घण्टे पर दें। अथवा—

७. सोमचूर्ण १० ग्राम, रससिन्दूर १ ग्राम, श्वासकुठार १ ग्राम/११ मात्रा। २-२ घण्टे पर सुखोष्ण जल मे दे।

८. शृग्यादि चूर्ण ३ ग्राम और शुद्ध टकण २५० मि० ग्रा०/१ मात्रा। १-१ घण्टे पर मधु मिलाकर ५-७ बार दे।

९ शुद्ध टकण २५० मि० ग्रा० की मात्रा मे जर्दारहित पान के बीडे मे रखकर चूसने को दे। अथवा—

१० शुद्ध मन शिला ५० मि० ग्रा० पान के लगे बीडे मे रखकर चूसने के लिए दे। इसे २-२ घण्टे पर देते रहे।

११ सभी प्रकार के श्वासकष्ट मे देने योग्य योग—

श्वासकासचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
शृगाराभ्र	५०० मि० ग्रा०
शिलाजत्वादि लौह	५९० मि० ग्रा०
श्वासकुठार	५०० मि० ग्रा०
सोमचूर्ण	१ ग्राम
यवक्षार	५०० मि० ग्रा०
तालीशादि चूर्ण	६ ग्राम
३-३ घण्टे पर मधु से दे।	४ मात्रा

१२ कफप्रधान तमकश्वास मे—

श्लेष्मान्तक रस	५०० मि० ग्रा०
कपूरादि चूर्ण	५ ग्राम
श्वासकुठार रस	५०० मि० ग्रा०
३-३ घण्टे पर आर्द्रक स्वरस व मधु से।	५ मात्रा

१३ वातप्रधान तमकश्वास मे—

मल्लसिन्दूर	५०० मि० ग्रा०
अभ्रकभस्म	१ ग्राम
३-३ घण्टे पर मधु मे।	५ मात्रा

१४ कतिपय सिद्ध योग—

चूर्ण—१ शृग्यादि चूर्ण	(रसतन्त्रसार, भाग १)
२ तालीशादि चूर्ण	(भै० र०)
३. समशर्कर चूर्ण	(,,)

४. यवक्षारादि चूर्ण (शा० स०)
५ सौवर्चलादि चूर्ण (च० चि० १७)
अवलेह—१ वासावलेह (भै० र०)
२ व्याघ्री हरीतकी (,,)
३ भार्गी गुड़ (,,)
रस—१. श्वासकुठार (,,)
२ चन्द्रामृत (,,)
३ मल्लसिन्दूर (रसतन्त्र०)
४ पिप्पल्यादि लौह (भै० र०)
५ श्वासकासचिन्तामणि (,,)
६ नागार्जुनाभ्र (,,)
७. पचामृत रस (,,)
८ निद्रोदय (,,)
आसव-अरिष्ट—१. कनकासव
२ वासारिष्ट
३ द्राक्षारिष्ट

१५ **श्वासहर द्रव्य**—श्वासोच्छ्वास मे रुकावट और श्वास के प्रकोप को दूर करनेवाली औषधियाँ—

१ अभ्रक भस्म, २. शृगभस्म, ३ मन शिला, ४ काकडासिंगी, ५ मदार के फूल, ६, अरूस, ७ नवसादर, ८ कलमीसोरा, ९ मीठाबच, १० शहद, ११. कटकारी, १२ अपामार्गक्षार।

१६ **श्वासकेन्द्र उत्तेजक**—१ तमाखू के व्यसनी को तमाखू का धूम्रपान कराये। २ पूर्णचन्द्रोदय रस, ३. लवग, ४ धतूरा, ५ गाँजा, ६ भाँग, ७ दालचीनी, ८ पीपर, ९ सोठ, १० कालीमिर्च ११ तेजपात आदि का सुविधानुसार प्रयोग करे।

१७ **विशेष निर्देश**—१ रोगी के पहने वस्त्रो को एकदम ढीला कर दे।

२ मुख, नाक और कफ को निकालते और पोछते रहे तथा ठड से बचाये।

३ रोगी के पूर्ण स्वस्थ होने तक उसे अकेला न छोडे।

४ श्वासावरोध होता देखें तो तत्काल विशेषज्ञ चिकित्सक द्वारा कृत्रिम श्वास देने की व्यवस्था करे।

५ सावधानी से पथ्य-परहेज का पालन करे एव शीघ्र अस्पताल मे दाखिल करे।

वृक्कशूल

(Renal Colic)

परिचय—यह शूल मूत्र की रचना तथा मूत्र-निर्गमन मे भाग लेनेवाले अवयवों मे सम्बद्ध है। वे अवयव हैं—दो वृक्क (Kidneys), दो गवीनियाँ (Ureters), एक वस्ति (Bladder) और एक मूत्रप्रसेक (Urethra)।

वृक्क—द्रव मल को शरीर से विसर्जित करने वाले कोष्ठाङ्ग वृक्क है। ये दो हे, जो सेम के बीज के आकार के होते है और उदरगुहा के पृष्ठभाग मे अन्तिम पर्शुकाओ पर दक्षिण और वाम पार्श्वों मे एक-एक कर स्थित है। वृक्को मे सूक्ष्म रक्तवाहिनी केशिकाओ का जाल होता है और उनसे **आन्त्र** नामक प्रणाली के कोष मूत्राश का निर्हरण कर लेते है। आन्त्रो के सूक्ष्म छिद्रो से रिस-रिस कर मूत्र क्रमश वृक्क, गविनी और वस्ति को पूरित करता है। प्रत्येक वृक्क से एक-एक **गविनी** मूत्र को वस्ति मे भेजती है।

वस्ति—तुम्बी के आकार का अल्पमासमय आशय है, जिसका मुख नीचे होता है। यह नाभि-पृष्ठ-कटि-वृपण-गुद-वक्षण और उपस्थ के बीच मे स्थित है। वस्ति मे मूत्र एक नियत प्रमाण मे ही रह सकता हे और अधिक होने पर मूत्र का वेग उठता है तथा वस्ति का अधोवर्ती मुख खुलकर वस्ति के सकोच से **मूत्रप्रसेक** (शिश्नमार्ग) द्वारा मूत्र वाहर निकल जाता है।

मूत्रप्रसेक—यह पुरुपो मे एक वालिश्त तथा स्त्रियो मे लगभग १½ इञ्च लम्बा होता है। पुरुषो मे मूत्रप्रसेक का आदि भाग वस्तिशिर (Prostate) नामक ग्रन्थि से वेष्टित हे। यह ग्रन्थि १¼ इञ्च मोटी, ¾ इञ्च लम्बी और १¼ इञ्च ऊँची होती है। मूत्रप्रसेक मे इस ग्रन्थि के स्राव के अतिरिक्त वृषणो, शुक्राशयो और शिश्नमूल ग्रन्थियो के हर्पादिवश उत्पन्न स्राव भी अपनी-अपनी वाहिनियो द्वारा स्रुत होते है। वृद्धावस्था मे कदाचित् वस्तिशिर ग्रन्थि मोटी हो जाती है, जिससे **मूत्रकृच्छ्र** हो जाता है। इसे मूत्रग्रन्थि कहते है।

मूत्र—मूत्र मे ९६% जल होता है और शेष ४% घन द्रव्य होते है, जिसमे अर्धांश यूरिया होता है। यह प्रोटीन के धातुपाक से उत्पन्न मल है। इसके अतिरिक्त अन्य भी सेन्द्रिय अथवा निरिन्द्रिय घन द्रव्य होते हे।

निदान एवं सम्प्राप्ति

अश्मरी-शर्करा-वृक्कशूल—जब वायु वस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त या कफ को दूपित कर सुखा देती है, तो अश्मरी की उत्पत्ति होती है। मूत्र मे घनत्व की वृद्धि होना अश्मरी का मुख्य कारण है। जब चयापचय (Metabolism) की विकृति से यूरिक एसिड और फॉस्फेट की अधिक उत्पत्ति होकर उनके कण एकत्र होने लगते हैं तो श्लेष्मा के सहयोग से परस्पर मिलकर अश्मरी का रूप धारण कर लेते है।

एव जब अश्मरी के टुकडे होते है, तो वडे टुकडे को **शर्करा** और छोटे कण को **सिकता** कहते है। इनकी रचना और स्थिति वृक्क, गविनी या मूत्राशय मे कही भी हो सकती है। इनके वृक्क या गविनी मे अवरुद्ध होने से **वृक्कशूल** होता है। यह शूल वृक्क, गविनी या वस्ति मे जमे हुए रक्त, कफ, पूय आदि के रुकने एव उनके द्वारा अवरोध होने पर भी उत्पन्न होता है।

लक्षण

१ सिकता कणों के एकत्र होकर मूत्रप्रवृत्ति में अवरोध उत्पन्न करने से वृक्क-शूल होता है।

२. मूत्र अम्लीय हो जाता है।

३. मूत्र का वर्ण गाढा धूमर हो जाता है और परीक्षण करने पर मूत्र में कैल्सियम ऑग्जलेट की उपलब्धि होती है। इसके कण जब मूत्र-प्रणाली में क्षत उत्पन्न करते हैं तो मूत्र में रक्त आने लगता है।

४. इनमें कटि के ऊपरी पार्श्व में उत्पन्न हुई पीडा वंक्षण तथा वृषणकोश की ओर फैलती है।[1]

५. मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र, कुक्षिशूल, उष्णवात, अरुचि और तृष्णा आदि के होने की सम्भावना होती है।

६. मूत्र में सिकता, अश्मरीकण, रक्त या पूय की उपस्थिति हो सकती है।

७. वेग के साथ वृक्कप्रदेश (कटि) में शूल होता है, जो ऊरु और वृषण की ओर फैलता है।

८. वमन, कटिप्रदेश में स्पर्शासहिष्णुता, बार-बार मूत्रत्याग की इच्छा एवं कदाचित् मूत्राघात हो जाता है।

चिकित्सासूत्र

१ पर्याप्त मात्रा में जल या गन्ने का रस, फलों का रस अथवा ठढई में कासनी खीरे का बीज, सौंफ आदि डालकर भरपेट पिलायें।

२ थोडी-थोडी देर पर पचतृणमूल क्वाथ अथवा वरुणादि क्वाथ पिलाते रहें।

३ स्नेहन-स्वेदन, वातहर उपचार, मूत्र-विरेचनीय प्रयोग, मूत्रविशोधन तथा अश्मरीहर द्रव्यों का प्रयोग करें।

४. तीव्र वृक्कशूल में उष्ण कटिस्नान और उष्ण पेय दें।

५ अपेक्षित व्यायाम और विभिन्न आसन-स्थितियाँ अश्मरी को गविनी में से निकालने में सहायक होती हैं।

---

१ सुश्रुत-निदानस्थान अ० १ में इसी प्रकार के लक्षणों से युक्त दो वातरोगों का वर्णन किया गया है, जिन्हें तूनी और प्रतितूनी कहते हैं—

(क) अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा **तूनी** नाम नामतः॥

अर्थात् जो पीडा मलाशय और मूत्राशय से उठकर नीचे की ओर जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय का भेदन करती हुई सी प्रतीत हो, उसे **तूनी** कहते हैं।

(ख) गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता।
वेगैः पक्वाशयं याति **प्रतितूनी**ति सोच्यते॥

अर्थात् जो पीडा गुदा और मूत्रेन्द्रिय से आरम्भ होकर ऊपर की ओर पक्वाशय तक जाती है, उसे **प्रतितूनी** कहते हैं।

६. गविनी के अधोभाग मे अवरुद्ध अश्मरी को सकीरण (मूत्र) शलाका (Bougies) के प्रयोग से शस्त्रकर्म के विना भी निकाला जा सकता है ।

७ अतिमात्रा मे तरल-द्रव पीने से कैलशियम फॉस्फेट की अश्मरियाँ घुलकर निकल जाती है ।

८ सिस्टीन की वनी छोटी अश्मरी क्षारीय मूत्र मे घुल जाती है, एतदर्थ अम्लीय मूत्र को क्षारीय बनाने के लिए सोडियम साइट्रटे एव सोडा वाईकार्ब (Sod citrate & Soda bicarbonate) मिक्श्चर पिलाना चाहिए ।

चिकित्सा

१ तीव्र व्यथा मे मार्फीन १० मि० ग्रा० अथवा पेथीडिन १०० मि० ग्रा० का सूचीवेध करके वेदना का निवारण करे ।

२ नोवाल्जीन या वेरालगन ४-५ ग्राम आवश्यकतानुसार दे ।

३ पेण्टाजोसीन (Pentazocine) ३० मि० ग्रा० का पेशीगत सूचीवेध करे ।

४. शक्तिसरक्षणार्थ—मकरध्वज, वसन्ततिलक, हृदयार्णव रस, विश्वेश्वर रस का उचित मात्रा मे प्रयोग करे ।

५ अश्मरी-शर्करा पातनार्थ—त्रिविक्रम रस, पाषाणभिद् रस, बदरीपाषाण भस्म, क्षारपर्पटी, अश्मरीहर वटी तथा चन्द्रकला रस, वरुणादि क्वाथ, तृण पञ्चमूल क्वाथ आदि का यथायोग्य प्रयोग करे ।

पञ्चदश अध्याय

मूत्रावरोध, अन्त्रावरोध, हृच्छूल तथा मूर्च्छा

मूत्रावरोध

(Retention of Urine)

परिचय—एक सौ सात मर्मस्थानो मे तीन (१ वस्ति २ हृदय और ३ शिर) प्रधान मर्म कहे गये है। उनमे वस्ति अन्यतम मर्म है। वस्ति शब्द से मूत्र-निर्माण एव सवहन यन्त्र अभिप्रेत है, जिसके अन्तर्गत वृक्क, गविनी, वस्ति (मूत्राशय) और मूत्रप्रसेक है। यह एक प्रधान रक्तशोधक कोष्ठाङ्ग है और इसके रुग्ण होने पर शिर, हृदय और समस्त शरीर रोगी बन जाता है। जब मूत्रसस्थान रुग्ण हो जाता है, तब रक्त से मूत्र मे छनकर जाने वाले विषात्मक द्रव्य रक्त मे ही रह जाते हैं और शरीर मे व्याप्त होकर विषवत् प्रतिक्रिया करते है, जिसे **यूरीमिया** कहते है।

वृक्क और सम्बद्ध अवयवो की क्रियाहानि होने पर मूत्र-निर्माण न होने अथवा मूत्र के बनते रहने पर भी मूत्राशय की दुर्बलता या मूत्र-मार्ग के अवरोध के कारण मूत्रोत्सर्ग न होने की स्थिति का नाम मूत्रावरोध है।

इस आत्ययिक स्थिति को व्यक्त करनेवाले आयुर्वेद मे दो रोग कहे गये है—

१ मूत्रकृच्छ्र (Painful diminished output of urine)।

२ मूत्राघात (Obstructed micturition)।

इनमे मूत्राघात का सम्बन्ध मूत्रावरोध से है। मूत्राघात १३ प्रकार का कहा गया है, उनमे से—१ **वातवस्ति** २ **मूत्रोत्सग** और ३ **मूत्रक्षय**, ये तीन मूत्रावरोध के लक्षणवाले स्पष्टत दीख पडते है[1]।

कारण

१ वातवस्ति, मूत्रोत्सग और मूत्रक्षय (इन मूत्राघातो का) होना।

२ नरसिंह रूप अर्धाङ्गवात (Paraplegia) होना।

वातवस्ति—मूत्र के वेग को धारण करनेवाले व्यक्ति का वायु उसकी वस्ति मे प्रबल अवरोध उत्पन्न कर देता है, जिससे मूत्र बाहर नहीं निकलता और मूत्रसग हो जाता है, जिसे वातवस्ति कहते हैं।

मूत्रोत्सग—प्रकुपित वायु वस्ति या शिश्नमणि मे अवरोध उत्पन्न करके वेदना के साथ या बिना वेदना के थोडी-थोडी मात्रा मे कभी-कभी सरक्त मूत्र की प्रवृत्ति कराता है, उसे मूत्रोत्सग कहते हे।

मूत्रक्षय—रूक्ष प्रकृतिवाले पुरुष जब अधिक परिश्रम करते हैं, तब उनका वस्तिगत पित्त और वायु प्रकुपित होकर मूत्र का क्षय करते हैं। मूत्र के क्षय से वस्ति रिक्त रहती है और उसमे दाह तथा पीडा उत्पन्न होती है।

—सुश्रुत० उ० अ० ५८

३ मूत्राशय से सम्बद्ध अवयवों की क्रियाहानि ।

४ तीव्र विषमयता एव मूर्च्छा तथा सुषुम्ना के रोग होना ।

५ अष्ठीलावृद्धि या मूत्राशय की अश्मरी से मूत्रवहस्रोतोऽवरोध ।

६ अशुघात, दक्षिण हृदयातिपात की गम्भीर स्थिति ।

७ जलाल्पता, भय, सत्रास, आतक आदि का वातावरण । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से निम्न तीन ऐसी स्थितियाँ है, जिनमे मूत्रावरोध की सभावना होती है—

१ डिसयूरिया[1] (Dysuria–painful micturition)—मूत्रकृच्छ्र ।

२. रिटेंशन आफ यूरिन[2] (Retention of urine)—मूत्राघात ।

३ ओलीगूरिया[3] (Oliguria–diminished output of urine)—वातकुण्डलिका ।

चिकित्सासूत्र

१ निदान का परित्याग दृढतापूर्वक करना चाहिए । विकृति का सही निदान कर मूत्रावरोध को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

२ मूत्रल, दीपन, पाचन, मूत्रवह स्रोतस् और शामक औषध दें ।

Causes—

1 (i) Urethral Acute urethritis, gonorrhoea, balanitis
(ii) Prostatic. Acute gonococcal prostatitis, carcinoma
(iii) Bladder diseases. Acute cystitis, bladder-stone.
(iv) Gynaecological and rectal Fibroids, carcinoma

2 (i) Urethral causes Stricture or calculus
(ii) Prostatic Congestion or inflammation.
(iii) Bladder Atony due to overd istention
(iv) Past-operative
(iv) Post-anaesthetic After spinal anaesthesia
(vi) Neurological Spinal cord lesion
(vii) Psychogenic, Nervousness

3. (i) Physiological. Humidity, environment, work
(ii) Poor intake of fluids
(iii) Loss of fluids Dehydration
(iv) Excess of sugar and salt in diet
(v) Cardiac, congestive failure, left ventricular failure
(vi) Renal Acute nephritis, collagen disease, uraemia.
(vii) Drugs. Sulfonamides, mercury
(viii) Vascular Thrombosis of renal artery or vein or of inferior vena cava

—Clinical Diagnosis Rustomjal Vakil p 55-56, ed 1977

३. स्वेदन, उष्ण कटिस्नान एव मूत्रशलाका का प्रयोग कर मूत्र का उत्सर्ग करायें तथा क्षार और द्रव पदार्थ पीने को द ।

४. स्निग्ध विरेचन दें, उत्तरवस्ति का प्रयोग करे तथा वातहर उपचार करें।

५. कल्मीसोरा, नौसादर और कपूर ३–३ ग्राम लेकर २०० ग्राम जल मे मिलाकर घुला लें, फिर इस द्रव मे चार परत का वस्त्रखण्ड भिगोकर या गद्दीदार रुई भिगोकर नाभि के नीचे रखें । अथवा—

६ कल्मी सोरा और कपूर बराबर-बराबर लेकर पीसकर भीगी हुई रूई मे लपेट कर नाभि के नीचे रखे और थोडी-थोडी देर पर ४–६ बूंद जल रूई पर डालते जाये ।

७ प्रतिदिन पोटास के हल्के घोल या एक्रिफ्लेविन (1 10000) या मरक्यूरोक्रोम (1 1000) के घोल मे मूत्राशय प्रक्षालित करने के बाद मूत्रशलाका बदल देनी चाहिए। ३–४ दिनो तक इस क्रम मे मूत्र का शोधन करते रहने पर मूत्राशय का सकोच-सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है और अपने आप मूत्र का उत्सर्ग होने लगता है ।

चिकित्सा

१ फर्मेथीड आयोडाइड (Furmethide iodide) की १० मि० ग्रा० की गोली ८–१० घण्टे के अन्तर पर देने मे अगघातजनित मूत्रावरोध दूर होता है ।

२ कैफीन सोडा बेंजोएस (Caffin soda benzoas) की १० ग्रेन की मात्रा को २ सी० सी० जल मे पेशी द्वारा या डाइयूरेटिन का मुख द्वारा विवेकानुसार प्रयोग करे ।

३. यवाखार ½ ग्राम और चीनी १ ग्राम मिलाकर आधा-आधा घण्टे पर ठण्डे जल से ४–५ बार दें ।

४ कूष्माण्डस्वरस, कदलीस्तम्भ जल, नारीकेल जल अथवा चीनी के शर्बत मे १ ग्राम क्षारपर्पटी डालकर प्रति आधा घण्टे पर लाभ होने तक दे ।

५. गोक्षुरादि गुग्गुलु १ ग्राम, चन्द्रप्रभावटी १ ग्राम, शिलाजतु १ ग्राम और चन्दनादिचूर्ण १० ग्राम लेकर ५ मात्रा बनायें और २–२ घण्टे पर इक्षुरस या वरुणादि क्वाथ या पुनर्नवाष्टक क्वाथ अथवा पञ्चतृणमूल क्वाथ के साथ देना चाहिए ।

६ वरुणादि लौह, चन्द्रकलारस, त्रिविक्रमरस और बृहद्गोक्षुराद्यवलेह तथा एलादि चूर्ण का आवश्यकतानुसार प्रयोग करे ।

७ एकल द्रव्यो मे शीतल चीनी, नौसादर, कलमीसोरा, यवाखार, पलाश-पुष्प, पुनर्नवा, राल, छोटी इलायची, कुलथी, मुलहठी, कमलगट्टा, ईसबगोल की भूसी, गोखरू, अनन्तमूल, छोटी दूधिया, सोडावाटर, दूध-जल की लस्सी, गन्धा-बिरोजा, सतावर, तालमखाना और पाषाणभेद --इनका आवश्यकतानुसार आभ्यन्तर और बाह्य प्रयोग करना चाहिए ।

अन्त्रावरोध/बद्धगुदोदर
(Intestinal Obstruction)

परिचय—यह एक गम्भीर आत्ययिक स्थिति है, जब कि अन्त्र के पूर्णत अवरुद्ध हो जाने से मल तथा अधोवायु की प्रवृत्ति एकदम बन्द हो जाती है। अथवा मल गुदनली मे अटक जाता है और कष्टपूर्वक थोडा-थोडा निकलता है। उदर मे पीडा होती है, वमन होता है, जिसमे पहले पित्त सहित भुक्तान्न, फिर अन्त्र मे रुका हुआ मल निकलता है। इसमे उदरशूल, वमन और मलावरोध, ये तीन विशिष्ट लक्षण होते है।

निदान[1]

१ पिच्छिल, अभिष्यन्दी और ग्राही गुणयुक्त आहार का अधिक सेवन।

२ भोजन के साथ बाल तथा बालू आदि के कणो का अन्त्र मे जाकर रुकावट करना।

३ उदावर्त, आनाह या अर्शाकुरो से गुदमार्गावरोध होना।

४ बच्चो मे सन्निरुद्ध गुद (Strictur of the rectum) का होना।

५ अन्त्रान्त्र-प्रवेश (आँतो का उलझ जाना), उदरगुहा के भीतर अर्बुद, ग्रन्थि अन्त्र-सकोच एव गण्डूपद कृमि (Round worms) का होना।

सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणो से आँतो की अवरोधात्मक विकृति होने से प्रकुपित अपानवायु जठराग्नि को मन्द करके आँतो मे मल, पित्त एव कफ का सचय कर बद्धगुदोदर या अन्त्रावरोध रोग को उत्पन्न करती है।[2]

लक्षण

१ मल-मूत्र एव अपानवायु के निर्गमन का पूर्णत अवरोध या अधिकाशत अवरोध होने पर कष्ट के साथ अल्पश प्रवृत्ति होना।

२ मलावरोधजन्य मल की सडन और उससे दुर्गन्धित गैस की उत्पत्ति तथा गैस का जमाव होना।

३ गैस-सचय से हृदय और नाभि के मध्य उभार होना।

४ गैस-सचय से उत्पन्न विष का आँतो मे लीन होकर शीतकाय वमन, नाडीक्षीणता आदि घोर लक्षणो की उत्पत्ति होना।

---

१ यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहित यथावत्।
मञ्चीयते तस्य मल सदोष क्रमेण नाल्यामिव सङ्करो हि॥
निरुद्ध्यते चास्य गुदे पुरीष निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदर विट्समगन्धिक च॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्य॥ —सु० नि० ७

2 Intestinal obstruction is a condition in which passage of faeces and flatus through the bowel is delayed or prevented (Savill).

५ सिर, हृदय, नाभि और गुदा में शूल, अरोचक, अविपाक होना।
६. कदाचित् पुरीष के समान गन्धवाला वमन होना।
७ उदर स्थिर, निश्चल एवं नाभि के ऊपर गोपुच्छाकृति का उभार होना।
८ तृष्णा, दाह, ज्वर, मुख-शोष, कास-श्वास, दौर्बल्य आदि।

चिकित्सासूत्र

१ महानारायण तैल का अभ्यंग कर स्वेदन करे।

२ उत्तम कोटि की हींग ५०० मि० ग्रा० लेकर मोटा चूर्ण कर २०–२५ ग्राम घी में हल्का भूनकर पिलाना चाहिए।

३ गुदा में गुदवर्ती (सपोजिटरी) लगाना चाहिए।

४ तीक्ष्ण औषध युक्त निरूहवस्ति एवं अनुवासनवस्ति दें।

५ वातानुलोमन औषध द्वारा वायु के अनुलोम हो जाने पर तीक्ष्ण विरेचन औषध इच्छाभेदी रस या नाराच रस आवश्यकतानुसार दें।

६. वातनिरोध-प्रधान अन्त्रावरोध में स्नेहन-स्वेदन करके आस्थापन वस्ति दे तथा पुरीषनिरोध में आनाहरोग-नाशक उपचार करे और मूत्रनिरोध में मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरीरोग-नाशक चिकित्सा करे।

७ अन्त्रान्त्रावरोध—आँतों के उलझने की स्थिति में रोगी को शल्य-चिकित्सक के पास भेजें।

८. वातानुलोमन तथा मलनि:सारक द्रव-प्रधान औषध एवं आहार दें।

व्यवस्था-पत्र

१ १–१ घण्टे पर ४–४ बार—

नारायण चूर्ण	१५ ग्राम
शिवाक्षारपाचन चूर्ण	१५ ग्राम
पथ्यादि चूर्ण	१० ग्राम
गरम जल से।	५ मात्रा

तत्पश्चात् हिंग्वादि वटी २–२ गोली चूसना।

अथवा—

२. १–१ घण्टे पर —

हिंगुद्विगुत्तरादि चूर्ण	१५ ग्राम
सोडा बाईकार्ब	५ ग्राम
गरम जल से।	५ मात्रा

३ विबन्ध की प्रबलता में—

एरण्ड तैल	७०–८० मि० ली०
१ गिलास गरम में पिलाये।	१ मात्रा

अथवा—

४ नाराच चूर्ण	१० ग्राम
गरम जल से।	१ मात्रा

५ नाभि पर लेप—देवदारु, वच, कूठ, सौफ, हिंगु और सेंधानमक समभाग लेकर गरम कर नाभि के नीचे लेप करे।

६ रसोन योग—लहसुन का स्वरस २० मि० ली०, एरण्डतैल १० ग्राम, सेंधानमक ३ ग्राम, शुद्ध हीग ½ ग्राम/१ मात्रा सभी को एक मे मिला गरम कर पिलाये।

७ त्रिकट्वादि वर्ती—सोठ, मरिच, पीपर, सेंधानमक, सरसो, कूठ, मदनफल सब समभाग लेकर कपडछन चूर्ण कर समभाग गुड मिलाकर चासनी पकाये और अगूठे जितनी मोटी यवाकार वर्ती बनाये। वर्ती तथा गुदा मे घी या तेल लगाकर वर्ती को धीरे-धीरे गुदा मे प्रविष्ट करे।

पथ्य-अपथ्य

पुराना चावल और मूँग की दाल की पकी अधिक घी डाली खिचडी, पतली मूली, बथुआ, सहिजन की फली, हीग, अदरक, कागजी नीबू, मुनक्का, दूध, समान मात्रा मे घी-चीनी मिला जौ-चने का सत्तू, ये पथ्य है।

गुरु, आलू तथा कन्द, बेसन के बने पदार्थ, कसैले पदार्थ, कटहल, कोहडा, दहीवडा आदि अपथ्य है।

हृच्छूल

परिचय—शरीर मे एक सौ सात मर्म-स्थान है, जिनमे तीन (हृदय-वस्ति-शिर) प्रधान है और उनमे भी सबसे प्रधान हृदय है[1]। हृदय की धडकन जब तक होती है तब तक ही जीवन है और धडकन का बन्द होना मृत्यु है। **मर्म**[2] उस स्थान को कहते है जिस पर आघात होने से या जिसके विकृत होने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

हृदय रस या रक्त का स्थान है। आहार का तेजस्वी सारभाग **रस** या **रक्त** है और वह अहर्निश गतिशील रहकर शरीर का पोषण, धारण और सवर्धन करता रहता है[3]। पुरुष को रस से ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिए। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष सावधान[4] होकर हितकर अन्न, पान और आचार मे रस की रक्षा करे।

---

१ सप्तोत्तर मर्मशत यदुक्त शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेभ्य ।
मर्माणि बस्ति हृदय शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञा ॥
प्राणाश्रयात् तानि हि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति । —च० चि० २६।३-४

२ म्रियतेऽनेन 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु० आ० अ०) 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ० ४।१४५)।
—अमर० ३।५।३० रामाश्रमी

३. कृत्स्न शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति च । —सु० सू० १४।३

४ रसज पुरुष विद्याद्रस रक्षेत्प्रयत्नत । अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रित ॥
—सु० सू० १४।१२

रस आदि सात धातुएँ शरीर का धारण करती हैं, इसलिए उन्हे धातु कहा जाता है और इन धातुओ की क्षीणता और वृद्धि का कारण रक्त है[1]। रक्त का निर्माण रस धातु से होता है।

रक्त-परिभ्रमण का यन्त्र हृदय है और जब तक रक्त समस्त शरीर मे परिभ्रमण करता रहता है, तब तक जीवन सुरक्षित रहता है। जब हृदय की आङ्गिक विकृति अथवा क्रियाहानि होती है तब हृच्छूल उत्पन्न होता है।

रक्त-परिभ्रमण (Blood circulation) हृदय के सङ्कोच से रक्त बडे वेग से वृहद् धमनी मे प्रवेश कर उसकी विभिन्न शाखाओं द्वारा समस्त शरीर मे फैलता है। धमनी से रक्त धमनिका तथा केशिकाओं (Capillaries) मे जाता है तथा उनकी दीवारों से परिस्रुत पोषक रस एव प्राणवायु से अङ्ग-प्रत्यङ्ग पोषित होते हैं। फिर केशिकाओ के मिलने मे शिराएँ बनती है, जिनसे रक्त हृदय की ओर वापस आता है और अन्त मे नीचे तथा ऊपर गया हुआ रक्त अधोगा महाशिरा तथा ऊर्ध्वगा महाशिरा द्वारा हृदय के दक्षिणालिन्द मे आ जाता है। [2]हृदय के दक्षिण नियल से रक्त शुद्ध होने के लिए फुफ्फुसो मे जाता है तथा वहाँ से शुद्ध होकर शिराओं द्वारा हृदय के वामालिन्द मे वापस आ जाता है। फिर वहाँ से वामनिलय मे होकर वृहद् धमनी मे जाकर समस्त शरीर मे भ्रमण करता रहता है। एक बार के रक्तपरिभ्रमण मे अनुमानत १५ सेकण्ड लगते है।

शरीर मे चार प्रकार के रक्त-परिभ्रमण माने गये हैं—

१ शारीरिक रक्तपरिभ्रमण (General blood circulation)।
२ फुफ्फुसीय रक्तपरिभ्रमण (Pulmonary blood circulation)।
३. याकृत रक्तसवहन (Partal blood circulation)।
४ वृक्कीय रक्तसवहन (Renal blood circulation)।

हृदय का रक्त द्वारा सम्यक् रीति से पोषण न होने के कारण होनेवाला अथवा हृदय के अवयव-सम्बन्धी विकार के कारण या क्रिया-सम्बन्धी विकार के कारण हृदय मे होनेवाला शूल हृच्छूल है। हृदय मे आघात या विकार का होना घातक होता है। आयुर्वेद मे वात-पित्त-कफ —त्रिदोष और कृमि से होने वाले ५ प्रकार के हृद्रोग कहे गये है। उनमे वातज हृद्रोग मे शूल एक प्रधान लक्षण है। कोई भी शूल विना वायुप्रकोप के नही होता—'नर्तेऽनिलाद् रुक्'। इसलिए वातज हृद्रोग को हृच्छूल समझना चाहिए। रसक्षय मे भी शूल एक विशेष लक्षण है।

आयुर्वेद[3] मे रसक्षय के जो लक्षण दिये गये है, वे हृच्छूल के अतिशय के निकट है, जैसे—

---

१. तेषा क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते। —सु० सू० १४।२१
२ हृदो रसो नि सरति तत एव च सर्वत । सिराभिर्हृदयञ्चैति। —भेलसहिता
३ (क) रसक्षये हृत्पीडा, कम्प, शून्यता तृष्णा च। —सु० सू० १५।२३
(ख) घट्टते सहते शब्द नोच्चैर्द्रवति शूल्यते। हृदय ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये॥ —च० सू० १७।६४

१ हृत्पीडा (Angina or pain in heart) ।
२ कम्प (Murmur or tremor) ।
३ शून्यता (Lightness) ।
४ तृष्णा (Thirst) ।
५ घट्टन—हौलदिल-घबडाहट (Palpitation) ।
६ उच्च शब्द की असहिष्णुता—जोर की आवाज बर्दास्त न होना ।
७ हृदयद्रव—धडकन बढ जाना ।
८ तीव्रशूल ।
९ हृदय मे ग्लानि (दिल बैठ जाना) ।

निदान[1]

१ शोक, २ उपवास, ३ व्यायाम, ४ रूक्ष-शुष्क आहार, ५ अल्पाहार, ६ अतिवमन, ७ अतिविरेचन, ८ अतिवस्ति, ९ चिन्ता, १० भय, ११ त्रास, १२ वेगावरोध, १३ शारीरिक, हार्दिक या मानसिक आघात आदि । १४ रसक्षय, १५ रक्तक्षय, १६. हृदयपेशी-धमनी-सिरा विकृति, १७ हृत्पेशीशोथ तथा १८ शिरागत वात आदि ।

सम्प्राप्ति[2]

रसक्षय आदि उक्त कारणो से हृदय की पेशी मे अवरुद्ध कफ एव पित्त वायु के साथ रक्तसवहन मे अवरोध कर पेशी मे विकृति कर हृदय मे शूल उत्पन्न करते है । एव हार्दिक या मानसिक आघात लगने से बढी हुई वायु हृदय-प्रदेश मे जाकर अत्यधिक शूल उत्पन्न करती है ।

वक्तव्य—एञ्जाइना पेक्टोरिस (Angina pectoris) और कोरोनरी थ्रोम्बो-

---

१ आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से निम्न रोगों मे हृच्छूल हो सकता है—
(i) Angina pectoris
(ii) Coronary thrombosis
(iii) Coronary occlusion
(iv) Intermediate coronary syndrome
(v) Pericarditis
(vi) Myocarditis
(vii) Indocarditis
(viii) Ischaemic diseases of the heart
(ix) Cardiac nurosis
(x) Congenital heart disease
(xi) Hypertension
(xii) Rheumatic heart disease

२ कफपित्तावरुद्धस्तु मारुत रसमूर्च्छित । हृदिस्थ. कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधक परम् ॥
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसम्भव. ।

सिस (Coronray thrombosis) मे हृच्छूल अनिवार्य रूप से रहता है। इन दोनो मे शूल की प्रकृति तथा अन्य लक्षणो मे भिन्नता होती हे, जो नीचे के कोष्ठक मे प्रदर्शित है—

एन्जाइना (Angina)	हृदयवाहिनी घनास्रता (Caronary thrombosis)
१ परिश्रम, भावावेश अथवा भोजनोपरान्त शूल का आक्रमण।	१ रात्रि मे आराम के समय आक्रमण।
२. रोगी निश्चल खडा रहता है, हिलने से डरता है, चेहरा पीला पड जाता है, पसीना आ जाता है और शीत का अनुभव करता है।	२ रोगी बेचैन होकर इधर-उधर घूमता रहता है, शरीर गरम होता है, चेहरे पर श्यावता (Cyanosis) होती है।
३ कुछ मिनट मे आवेग समाप्त हो जाता है।	३ आवेग कुछ घण्टो तक भी रह सकता है।
४ शूल का प्रचलन अनिवार्य रूप से वामवाहु या कभी-कभी दोनो वाहु की ओर होता है।	४ शूल का इस प्रकार मे प्रचलन नही होता। यह उर फलक के पीछे और कुछ नीचे तक रहता है।
५ रक्तवाहिनी-प्रसारक औषधियो के प्रयोग से शूल शान्त होता है।	५ ऐसी औषधियो के प्रयोग से शूल की वृद्धि होती है।
६ धमनीगत रक्त का दाव वढ जाता हे।	६ धमनीगत रक्त का दाव कम रहता हे और शिरागत दाव वढ जाता है।
७ ज्वर नही रहता।	७ ज्वर अल्प अश मे रहता है।
८ रक्तगत घनता साधारण होती है।	८ रक्त की घनता वढ जाती है।

लक्षण[1]

१ हृदय-प्रदेश मे पीडा, हृदय की धडकन वढ जाना, हृदय मे ऐंठन होना, हृदय की गति मे रुकावट होना तथा हृदयशून्यता।

२ हृदय-दौर्वल्य, भेदनवत् या मन्थनवत् पीडा, हृत्कम्प।

३ हृदय मे खिचावट, सूचीवेधनवत् पीडा, कर्तनवत् पीडा।

४ मूर्च्छा, भय, त्रास, चक्कर आना, शब्दासहिष्णुता।

५ श्वासावरोध, शोक, दैन्य, विवन्ध, आध्मान।

चिकित्सासूत्र

१. पूर्ण विश्राम करे और क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता आदि से दूर रहे।

---

१ च० सू० १७।३१ तथा सु० उत्तर० ४३।६ एव च० चि० २६।७९।

२ अधिक बोलना, भाषण-प्रवचन, विवाद और धूप से बचे।
३ ब्रह्मचर्य का पालन करे, कामवासना एव उद्दीपक कारणो से बचे।
४ सभी प्रकार की उत्तेजनात्मक परिस्थितियो से परहेज करे।
५ रोगी को सान्त्वना व आश्वासन दे और भीडभाड से बचाये।

चिकित्सा

१ तत्काल उचित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिए।

२ एन्जीसेड (Angised) या सार्बिट्रेट (Sorbitrate) की गोली रोगी की जीभ के नीचे रखवाना चाहिए।

३ नाइट्रोग्लिसरीन (Nitroglycerine) $\frac{1}{100}$ ग्रेन की १–२ गोली रोगी की जीभ के नीचे रखवाये या पेनिट्रेट (Penetrate) अथवा डायलेट्रेन (Dilatrane) की गोली का प्रयोग कराये।

४. पैथिडीन ५० से १०० मिलीग्राम का सूचीवेध प्रयोग करे।

५ एमाइनोफाइलिन (Aminophylline) $1\frac{1}{2}$ ग्रेन की गोली दिन मे ३ बार दे।

६ क्षीरपाक-विधि से अर्जुन की छाल या शालिपर्णी या वरियार अथवा दशमूल डालकर पकाया हुआ दूध दे।

७ नागवली, अर्जुनत्वक्, पुष्करमूल, जटामसी, सोठ तथा कुटकी के समभाग का चूर्ण २–२ ग्राम की मात्रा मे २–२ घण्टे पर दूध के साथ दे।

८ घबडाहट, बेचैनी और उद्वेग होने पर अजवायन का अर्क या लताकस्तूरी का अर्क अथवा सौंफ या पुदीना का अर्क गुलाबजल मिलाकर थोडा-थोडा पीने को देते रहे।

९ **सिद्ध योग**—नागार्जुनाभ्र, प्रभाकर वटी, हृदयार्णव रस, मृगश्रृङ्ग भस्म, चिन्तामणि रस, जवाहरमोहरा, अर्जुनारिष्ट, हिंगुग्रगन्धादि चूर्ण, हिंग्वादि चूर्ण, हिंग्वादि वटी आदि का आवश्यकतानुसार प्रयोग करे।

व्यवस्थापत्र

१ २–२ घण्टे पर—

मकरध्वज	५०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	१ ग्राम
मृगश्रृङ्ग भस्म	१ ग्राम
प्रभाकर वटी	५०० मि० ग्रा०
जवाहरमोहरा पिष्टी	५०० मि० ग्रा०
अर्जुनचूर्ण १ ग्राम एव मधु से।	५ मात्रा

अथवा ३–३ घण्टे पर—

नागार्जुनाभ्र	१ ग्राम
योगेन्द रस	५०० मि० ग्रा०
भृग भस्म	१ ग्राम
वातकुलान्तक	५०० मि० ग्रा०
पुष्करमूल चूर्ण १ ग्राम एव मधु से ।	४ मात्रा

२ भोजन के वाद २ वार—

अर्जुनाद्यरिष्ट	४० मि० ली
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

३ १–१ घण्टे पर—

हिंग्वादि वटी १–१ गोली चूसना ।

४ प्रात -साय—

अर्जुनत्वक्-सिद्ध क्षीर का प्रयोग ।

५ रात मे सोते समय—

हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण ४ ग्राम सुखोष्ण जल से ।

पथ्य

गेहूँ की रोटी, मूँग की दाल, पुराना चावल, परवर, करेला, आँवले का मुरब्बा सेव का मुरब्बा, पेठा, मुनक्का, किसमिस, अगूर, अजवायन, सोठ, छोटी हर्रे, लहसुन, पतली मूली, गुलावजल, अजवायन अर्क आदि पथ्य है ।

अपथ्य

श्रमजनक कार्य करना, व्यायाम, गुरु आहार, कषायरस वाले द्रव्य, वेगावरोध, अध्यशन, नदी जल, खट्टे पदार्थ, मट्ठा, महुआ का फल और पत्रशाक अपथ्य हे ।

मूर्च्छा

(Fainting)

परिचय—सज्ञाहीनता, बेहोशी, अचेतनता, ये मूर्च्छा के पर्याय हैं । हृदय मे पीडा, जँभाई, किसी कार्य को करने मे अनिच्छा और चेतना-ह्रास एव सुख-दु ख के विवेक का नाश कर तमोगुण तथा पित्तप्रधान दोष व्यक्ति को बेहोश वना देते हैं और वह कटे हुए वृक्ष की तरह गिर पडता है । इस अवस्था को मूर्च्छा कहते हैं । दोषो के प्रकोप का आवेग जव शान्त हो जाता है तो रोगी स्वय सचेत हो जाता है । यदि वह खडा होता है तो मूर्च्छा का वेग आने पर अचेत होकर पुन गिर पडता है और नाडी निर्वल और तेज चलने लगती है अथवा अत्यन्त धीमी पड जाती है । श्वास अनियमित रूप से तेज या लम्बी चलने लगती हे और मुख पीला पड जाता है ।

निदान

१. शरीर की धातुओ की क्षीणता ।

२ अत्यधिक तम-प्रित्तप्रधान दोप-प्रकोप ।

३. अधारणीय वेगो का धारण ।

४ मस्तिष्क का तीव्र आघात ।

५ मस्तिष्क तथा अन्य धातुओ मे रक्तसवहन-वाधा ।

६ किसी विष के प्रभाव से मस्तिष्क की वडी धमनी का फट जाना ।

७ सज्ञाहर औषध का दुष्प्रभाव ।

८. उच्च रक्तचाप ।

९ अतितीव्र सताप, लू लगना या आग का साहचर्य ।

१० मादक द्रव्य (अफीम, भाग, धतूरा, मद्य आदि) का सेवन ।

११ हीन मनोवल—हिस्टीरिया एव अपस्मार सदृश रोग होना ।

१२ अहितकर आहारजन्य अम्लोत्कर्ष (Acidosis), क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) अथवा मूत्रविषमयता (Uraemia) ।

वक्तव्य—मूर्च्छा का विशेष सम्वन्ध हृदय या सम्पूर्ण रक्तवहसस्थान और मस्तिष्क की विकृति से होता है । अत इसे सिनकोप (Syncope) और कोमा (Come) की मिली हुई अवस्था कह सकते है ।

रक्त-सवहन के विकार (Circulatory disturbances) दो प्रकार के होते है—१ हृदय-सम्बन्धी (Cardiac) और २ परिसरीय (Peripheral) । पहले प्रकार की विकृति का केन्द्र हृदय ही होता है । रक्त की पर्याप्त मात्रा रहते हुए भी वह हार्दिक पेशीगत तथा हार्दिक कपाटगत विकृति के कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओ मे पोषण के लिए रक्त की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने मे असमर्थ रहता है । दूसरे परिसरीय रक्तसवहनावरोध प्रकार मे कुछ अगो मे केशिकाओ का विस्फार (Dilatation) होने के कारण हृदयगामी शिरागत रक्तप्रवाह स्वभावत कम हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप हृदय मे रक्त की कमी हो जाती है । हृदय मे रक्त की कमी होने से मस्तिष्क को सामान्यतया मिलनेवाली मात्रा भी कम हो जाती है ।

दोनो प्रकार से होनेवाला रक्तसवहनावरोध (Circulatory failure) मस्तिष्क मे रक्त की कमी तथा तज्जन्य मूर्च्छा का उत्पादक होता है, फिर भी परिसरीय प्रकार का कारण विशेष महत्त्व रखता है ।

सम्प्राप्ति

दुर्बल मनोबल वाले व्यक्ति की सज्ञावाहिनी नाडियाँ पूर्वोक्त कारणो से जब दोषावृत हो जाती है, तो आँखो के आगे सुख एव दु ख के विवेक को नष्ट कर देने वाला अन्धकार या तमोगुण छा जाता है और सुख-दु ख का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मनुष्य कटी डाल की तरह जमीन पर गिर पडता है, इसे ही मूर्च्छा कहते हैं ।

मूर्च्छा के भेद एवं लक्षण
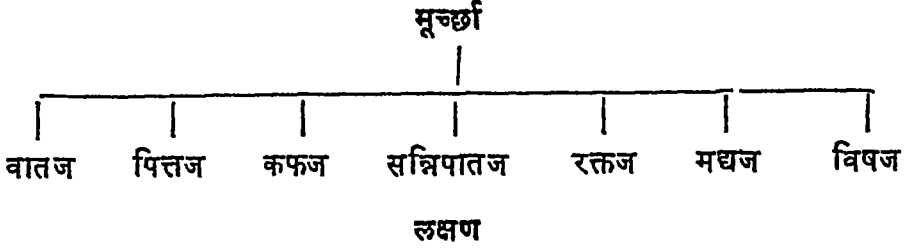
लक्षण

वातज—१ आकाश को नील, कृष्ण या अरुण रग का देखते हुए मूर्च्छित होना। २ शीघ्र होश आना। ३ कृशता, कम्प, अगमर्द, झाँईदार या गुलाबी चेहरा।

पित्तज—१ आकाश को रक्त, हरा या पीले रग का देखते हुए मूर्च्छित होना। २ पसीना होकर होश आना। ३ तृष्णा, दाह, लाल-पीली व्याकुल आँखे। ४ पीताभ एव अनियन्त्रित मल-त्याग।

कफज—१ आकाश को मेघाच्छन्न होते देखकर बेहोश हो जाना। २ देर से होश आना। ३ अगो का गुरु तथा आर्द्रवस्त्र या चर्म से आवृत-सा लगना। ४ लालास्राव एव मिचली होना।

सन्निपातज—१ सभी दोषो के पूर्वोक्त लक्षण और २ शीघ्र बेहोश होना।

रक्तज—१ रक्त के गन्ध या दर्शन मात्र से मूर्च्छित होना। २ अगो मे जकडन। ३ आँखो मे टकटकी और ४ गहरी श्वास लेना।

मद्यज—इसमे रोगी प्रलाप करता हुआ सज्ञाहीन या विक्षिप्त चित्त होकर हाथ-पैर पटकता हुआ तब तक मूर्च्छित रहता है जब तक कि मद्य का परिपाक नही हो जाता।

विषज—कम्पन, निद्रा, तृष्णा, आँखो के सामने अँधेरा छा जाना तथा विष की उग्रतानुसार मृदु, तीव्र या अतितीव्र लक्षणो का होना।

सापेक्ष निदान

मूर्च्छा	अपस्मार	संन्यास
१ वेग क्रमिक	वेग सहसा	वेग सहसा
२ आक्षेप नही	आक्षेप उपस्थित	आक्षेप नही
३ प्राय हृद्विकारजन्य	मनोदोषज	मनोदोषज
४ प्रत्यावर्तन-क्रिया विद्यमान	प्रत्यावर्तन-क्रिया विकृत	प्रत्यावर्तनक्रिया अनुपस्थित
५ वेग स्वय शान्त	वेग स्वय शान्त	वेग औषध से शान्त

चिकित्सासूत्र

प्रबोधनार्थ उपचार—

१ सर्वप्रथम रोगी को समुचित रूप से करवट या पेट के बल सुलाये ।

२. रोगी को निकट के किसी आतुरालय मे प्रविष्ट कराना चाहिए ।

३ रोग के कारण के अनुरूप चिकित्सा करना उत्तम है । अधिकतर पित्तदोष की अधिकता या प्रबलता मूर्च्छा को उत्पन्न करती है ।

४ वेहोशी दूर करने के लिए तत्काल—१ अञ्जन, २. अवपीडन नस्य, ३ तीव्र गन्ध द्रव्य का धूम, ४ सूचीवेध, ५ केशलुञ्चन, ६ दाहकर्म, ७ शीतल जलावसेचन, ८ आत्मगुप्तावघर्षण (केवाँच की फली के रोये देह मे रगडना), ९. दन्तदशन तथा १० प्रधमन नस्य का सुविधा के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ।

५ पखे की ठडी-ठडी हवा (कूलर लगाकर या खस का पखा गुलाबजल मे तरकर), शीतल सुगन्ध माला का धारण, सुरुचि पूर्ण इत्र का अनुलेप, अगो का मृदुल सवाहन या उद्घर्षण कर रुग्ण का प्रबोधन करे ।

होश आ जाने पर पुनः बेहोशी के निवारणार्थ उपचार—

१ आश्चर्यचकित करना, २ मनोऽनुकूल प्रसङ्ग छेडकर मनोविनोदन, ३ प्रिय गीत-वाद्य ध्वनि सुनाना, ४ विचित्र वार्ता-प्रसङ्ग सुनाना, ५ रोगी के बल तथा दोष का विचार कर स्नेहन-स्वेदन पूर्वक पञ्चकर्म कराना, ६ तीक्ष्ण धूम-अञ्जन और कवलग्रह कराना, ७ रक्तमोक्षण, ८ व्यायाम, ९ विचित्र वस्तु का दर्शन कराना और १० चिन्ताजनक परिस्थितियो को बचाना चाहिए तथा ११ घृत-दुग्ध, रसायन-वाजीकरण औषध, अनिद्रा एव मूर्च्छाहरण औषध-सेवन का प्रयोग करायें ।

चिकित्सा

प्रबोधन (ससज्ञ) करने हेतु प्रयोग—

१ सोठ-मरिच-पीपर को समभाग वारीक पीसकर इनका अञ्जन लगाये ।

२. चन्द्रोदयावर्ती या तुत्थकादिवर्ती का अञ्जन लगाये ।

३ (क) रक्तज मूर्च्छा मे शीतजलावसेचन या बरफ रगडना चाहिए ।
(ख) मद्यज मूर्च्छा मे हलका मद्य पिलाये और निद्राप्रद औपध दे ।
(ग) विषज मूर्च्छा मे विषनाशक औषधो का प्रयोग करें ।

४. कट्फल की छाल का महीन चूर्ण कागज की सिगरेट मे रखकर नस्य दे । सिगरेट मे नस्य रखकर रोगी की नाक मे फूंक दे ।

५. माहेश्वर धूप जलाकर रोगी की नाक मे धुआँ दे ।

६. किसी निरापद औषध का सूचीवेध करें या सूई से कष्ट दे ।

७ शिर के दो चार बालो को पकडकर खीचना चाहिए ।

८ समभाग चूना और नौसादर किसी बन्द सीसी मे रखकर १–२ बूंद जल डालकर हिलाकर रोगी को सुँघाने से तुरन्त होश आता है।

९ नाक और मुख बन्द करना तथा नखो मे सूई धँसाना सज्ञाकारक है।

१० शलाका गरम कर ललाट पर दागना अथवा केवाच की फली के रोयें शरीर मे लगाना, ये बेहोशी को दूर करते है।

औषध-प्रयोग—

१ **कोलमज्जादि चूर्ण**—सूखी वेर का गुद्दा, काली मरिच, खस और नागकेशर के समभाग का चूर्ण ३–३ ग्राम शीतल जल से दिन मे ३ बार दें।

२ प्रात काल १० ग्राम आदी और २० ग्राम गुड खिलायें और रात मे ६ ग्राम त्रिफला चूर्ण मधु से चटाये।

३ मीठा बच चूर्ण १–१ ग्राम प्रात -साय गोदुग्ध से दे।

४ मूर्च्छान्तक रस ३०० मि० ग्रा०/२ मात्रा सबेरे-शाम गोदुग्ध से दे।

५ अनिन्द्रा मे सर्पगन्धा चूर्ण २ ग्राम गुलकन्द के साथ रात मे दें।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय-मध्याह्न—

चन्द्रावलेह (सि० यो० स०)	३० ग्राम
गोदुग्ध से।	३ मात्रा
अथवा—	
स्मृतिसागर	३०० मि० ग्रा०
योगेन्द्र रस	३०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	६०० मि० ग्रा०
मधु से।	३ मात्रा
अथवा—	
मूर्च्छान्तक रस	१ ग्राम
३-३ घण्टे पर आँवले के मुरब्बे के साथ।	५ मात्रा

२. भोजनोत्तर दो वार—

अश्वगन्धारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल से पीना।	२ मात्रा

३ रात मे—

सर्पगन्धा घनवटी १ ग्राम गोदुग्ध से।

४ शिर मे—

हिमांशु तैल की मालिश करे।

पथ्य

छाया, वर्षा का पानी, शतधौत घृत, मृदु तथा तिक्त पदार्थ, लाजमण्ड, पुराना जौ, अगहनी चावल, पुराना घी, मूँग का यूष, गोदुग्ध, परवर, केला, अनार, नारियल, अद्भुत वस्तुओ का दर्शन, उच्च स्वर मे गायन-वाद्य आदि।

मूर्च्छितावस्था मे रोगी की नाक तथा मुख की वायु को रोकना, आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन, लघन का प्रयोग, भयभीत करना, क्रोध उत्पन्न करना, कष्ट प्रद शय्या पर सुलाना, विचित्र कथा सुनाना, मनोहर दृश्य दिखलाना, उबले जल मे स्नान, मलयचन्दन का लेप लगाना—ये सब पथ्य है।

अपथ्य

ताम्बूल-भक्षण, सरसो आदि का शाक, धूप-सेवन, विरुद्ध आहार, मैथुन, स्वेद, कटुपदार्थ, पिपासा और निद्रा के वेग को रोकना और तक्र या मट्ठा—ये सभी मूर्च्छा मे अपथ्य है।

षोडश अध्याय

मधुमेहजन्य उपद्रव, उदर्याकलाशोथ, अन्त्रशोथ, तीव्र ज्वर तथा औषध-प्रतिक्रिया एवं विपाक्तता

मधुमयताधिक्य

(Hyperglycaemia)

मधुमेह या ओजोमेह मे मूत्र के साथ अपर ओज का निष्कासन होता है। इस रोग मे निकलने वाला अपर ओज मधुर स्वभाव का होता है, अतएव मधुररस-लोभी चीटियाँ उस मूत्र से आकृष्ट होकर रसपान करती है। ओज को सुवोध भाषा मे ग्लूकोज (Glucose) कहते है, इसे मधु, शर्करा एव मधुशर्करा भी कहते हैं। साधारणतया नीरोग व्यक्ति के मूत्र मे शर्करा का क्षरण नही होता। प्राकृत अवस्था मे मूत्र का सापेक्ष गुरुत्व (Specific gravity) १०१५ से १०२५ तक होती है, किन्तु शर्करा की उपस्थिति होने पर यह १०३० से अधिक हो जाती है।

मूत्र मे शर्करा की उपस्थिति का प्रधान कारण कार्वोहाईड्रेट्स (Carbohydrates) के समवर्त (Metabolism) की विकृति है, जिसका ज्ञान कर लेना अनिवार्य है—

कार्वोहाइड्रेट आन्त्रिक पाचन के द्वारा ग्लूकोज के रूप मे परिणत होकर शोषित हो जाता है और रक्तवाहिनियो द्वारा यकृत् मे पहुँचकर ग्लाइकोजन के रूप मे सचित हो जाता है। इसका कुछ भाग पेशियो मे भी सचित होता है। आवश्यकता पडने पर यह पुन ग्लाइकोजिनेज नामक किण्व (Enzyme) के द्वारा ग्लूकोज के रूप मे परिवर्तित होकर शरीर के काम मे आता है। रक्त मे भी यह एक निश्चित परिणाम मे बना रहता है, जो पेशियो को शक्ति प्रदान करता है। सामान्यतया रक्त मे इसकी मात्रा ००८ से ०१८ तक होती है। शर्कराबहुल पदार्थों के अधिक सेवन से इसकी मात्रा वढती है और बन्द कर देने पर घटती है। रक्त मे आवश्यकता से अधिक शर्करा होने पर यकृत् मे उसका सचय ग्लाइकोजन के रूप मे हो जाता है। जव यकृत् भी इससे परिपूर्ण हो जाता है, तो ग्लूकोज मेद के रूप मे परिवर्तित होकर शरीर की विभिन्न धातुओ मे सचित हो जाता है।

शर्करा रक्त से वृक्को द्वारा छन कर ही मूत्र मे आती है। सामान्यत जब तक रक्त मे १ ८ प्रतिशत से कम शर्करा होती है, तब तक वृक्क उसे नही छानते। इसे वृक्क-देहलीमर्यादा (Renal threshold) कहते है। जब शर्करा की प्रतिशत मात्रा इस मर्यादा को अतिक्रान्त कर जाती है, तब वृक्क द्वारा शर्करा का क्षरण होने लगता है। कुछ रोगियो मे जव वृक्क-देहलीमर्यादा ही स्वभावत कम होती है,

तब उक्त प्रमाण से कम प्रतिशत प्रमाण मे रहने पर भी उसका क्षरण हुआ करता है। इसे वृक्कज मधुमेह कहते है।

वृक्क के अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट-बहुल पदार्थों के अधिक सेवन से वृक्क-देहली मर्यादा का अतिक्रमण होने पर भी मूत्र मे शर्करा की उपस्थिति मिलती है। इसे सन्तर्पणजन्य मधुमेह कहते हैं। यह स्थिति चिन्ताजनक नही है, क्योकि आहार मे कार्बोहाइड्रेट की मात्रा घटा देने से यह विकृति ठीक हो जाती है।

मधुमेह का मुख्य कारण कुछ अन्त स्रावी ग्रन्थियो के स्रावो की विकृति है। अग्न्याशय (Pancreas), चुल्लिकाग्रन्थि (Thyroid), अधिवृक्क (Suprarenal) तथा पीयूषग्रन्थि (Pituatry body)—ये चार ग्रन्थियाँ कार्बोहाइड्रेट के समवर्त का नियन्त्रण करती हैं।

अग्न्याशय—इससे दो प्रकार के स्राव निकलते हैं—१ अग्न्याशय रस (Pancreatic juice) पच्यमानाशय (Duodenum) मे पित्त के साथ मिलकर प्रधानतया वसा तथा आहार के अन्य अवयवो का भी पाचन करता है और २ अन्त स्राव इन्स्युलीन (Insulin) है, जो रक्तप्रवाह मे मिलकर क्रिया करता है। यह पेशियो द्वारा शर्करा का उपयोग तथा यकृत् के द्वारा इसका सचय करता है।

इसका अभाव होने पर पेशियाँ शर्करा का उपयोग नही कर सकती और न यकृत् मे ही इसका सचय हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप रक्तगत शर्करा बढकर वृक्क-देहलीमर्यादा का अतिक्रमण करके मूत्र के द्वारा क्षरित होने लगती है। इस शर्कराधिक्य की स्थिति को **डायबिटिक हाइपर ग्लाइसीमिया** कहते हैं।यह चिन्ताजनक स्थिति है। इस अवस्था मे वृक्क पूर्णतया स्वस्थ रहते हैं। शेष तीन ग्रन्थियाँ मधुनिषूदनी (Insulin) की क्रिया को रोकती है। इस प्रकार इन्स्युलीन की कमी या उसकी सक्रियता के ह्रास से यह स्थिति उत्पन्न होती है।

यह रोग ८० प्रतिशत पचास वर्ष से ऊपर की आयु मे होता है। आनुवशिकता, स्थूलता, व्यायाम का अभाव, समृद्ध आहार का अधिक मात्रा मे उपयोग, नवीन अन्न का प्राय प्रयोग, मधुर पदार्थों का अतिसेवन और आलस्य, इस रोग के जनक हैं। यह एक जीर्ण रोग है। इसका प्रभाव कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा और एलेक्ट्रोलाइट के सवर्त (Metabolism) पर पडता है। कदाचित् इस रोग के गम्भीर परिणाम होते है। शरीर की सेलो पर इसका क्रियात्मक और रचनात्मक दोनो तरह का प्रभाव होता है। इसका प्रभाव नेत्र, वृक्क और नाडीमण्डल पर ह्रासात्मक होता है। मुख्य रूप से यह अन्त स्रावी ग्रन्थियो की क्रिया की अव्यवस्था से होने वाला रोग है।

चिकित्सासूत्र

१ रोगी के बल और दोष का तथा स्थूलता और कृशता का विचार कर यथायोग्य सशोधन या सशमन उपचार करना चाहिए।

२ रोग के कारणो का परिवर्जन करना चाहिए।

३ आलस्य, नवान्न, दही और मधुर पदार्थों का परित्याग करे।
४ नियमित रूप से यथाशक्य व्यायाम करे।
५ रूक्ष अन्न जौ, चना, सावाँ, कोदो, टागुन (पुराने) का सेवन करे।

चिकित्सा

१. एकल द्रव्यो मे निम्बपत्र, वट, पीपर, बबूल, गूलर, बिल्व, खैर, करञ्ज, गुग्गुलु, त्रिफला, जम्बूबीज, विजयसार, सप्तरंगी, गुडमार, लामज्जक, पलाण्डु, रसोन आदि का सुविधानुसार प्रयोग करे।

२. वसन्तकुसुमाकर, त्रिवंग भस्म, स्वर्णवंग, नागभस्म, चन्द्रप्रभा वटी, चन्द्रकला वटी, हरिशंकर रस, मेहकुञ्जरकेशरी आदि का उचित मात्रा और अनुपान मे प्रयोग करें।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय—

वसन्तकुसुमाकर रस	२४० मि० ग्रा०
हरिद्राचूर्ण ३ ग्राम के साथ।	२ मात्रा

अथवा—

शिवा गुटिका	४ वटी
गोदुग्ध के साथ।	२ मात्रा

२ ९ बजे व ४ बजे—

न्यग्रोधादि चूर्ण	६ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

३. रात मे—

चन्द्रप्रभावटी	२ ग्राम
दूध से।	१ मात्रा

पथ्यापथ्य

पथ्य—गेहूँ, चना, जौ, मूँग, अरहर, परवल, करेला, मरिच, सेंधानमक, तिक्तशाक तथा टहलना, घूमना, खेती, बागवानी या अन्य श्रम के कार्य पथ्य है।

अपथ्य—अधिक समय तक बैठना, दिन मे सोना, नवीन अन्न, दही, चावल, धूमपान, वेगधारण, इक्षुरस, सुरा, स्वेदन आदि अपथ्य है।

नोट—विशेष अध्ययन के लिए लेखक की 'कायचिकित्सा' भाग २ देखें।

उपमधुमयता

(Hypoglycaemia)

पूर्व मे यह कहा जा चुका है, कि मधुमेह का मुख्य कारण अन्त स्रावी ग्रन्थियो के स्रावो की विकृति है। चारो ग्रन्थियो के अन्त स्रावो की प्राकृत अवस्था शर्करा के परिवर्तनो का नियन्त्रण करती है।

जव मधुनिषूदनी (इन्स्युलीन) की क्रिया वढ जाती है, तो रक्तगत शर्करा प्राकृत मान से भी कम हो जाती है, इसे उपमधुमयता या **हाइपोग्लाइसीमिया** (Hypoglycaemia) कहते है। यह एक चिन्ताजनक स्थिति है। यदि शीघ्र ही प्रभावकारी उपायो द्वारा रक्तगत शर्करा की वृद्धि का प्रवन्ध न किया गया, तो रोगी के प्राण सकट मे पड जाते है। यह स्थिति इन्स्युलीन लेने के पश्चात् तुरन्त ग्लूकोज न लेने पर भी देखी जाती है। इस प्रकार जव किसी सामान्य व्यक्ति को गलने योग्य इन्स्युलीन का अधिक प्रयोग कराया जाता है अथवा मुख द्वारा शर्करा कम करनेवाली औषधियो का अधिक प्रयोग किया जाता है, तो उपमधुमयता या **हाइपोग्लाइसीमिया** हो जाती हे।

लक्षण

इस स्थिति के लगातार वने रहने पर रोगी म दुर्वलता, शून्यता, क्षुधा, स्वेद-निर्गमन, हृदयगति की अधिकता, कँपकँपी, वेहोशी, शिर शूल, जडता और मानसिक व्याकुलता, ये लक्षण होते है। रोगी को यह भय वना रहता है कि पुलिस उसे किसी अपराध के चलते गिरफ्तार न कर ले।

हाइपो-ग्लाइसीमिया एड्रीनलीन के स्राव को वढा देती है, जिसके कारण हृदय की गति तीव्र हो जाती है और शरीर मे कम्पन होने लगता है। एड्रीनलीन लीवर के ग्लाइकोजन की सक्रियता वढाकर हाइपोग्लाइसीमिया से युद्ध करता है। जव गलनशील इन्स्युलीन का प्रयोग अधिक मात्रा मे किया जाता है तो **हाइपोग्लाइसीमिया** की स्थिति वार-वार होती है। जव इन्स्युलीन अपना अधिकतम प्रभाव डालती है, तो शिर शूल, रात्रिस्वेद, वमनेच्छा या वमन की प्रवृत्ति, मानसिक असन्तुलन, शारीरिक क्लेश, तद्रा और मूर्च्छा होना, ये लक्षण होते है।

चिकित्सा

१ सबसे महत्त्वपूर्ण वात यह है कि पहले रोगी की स्थिति का निरीक्षण किया जाये और प्रथम होने वाले लक्षणो को जाना जाय।

२ रोग के कारण को दृढतापूर्वक दूर किया जाय।

३ ऐसे रोगियो को मयमित आहार और शारीरिक श्रम करना आवश्यक है, इसलिए भोजन को सन्तुलित करने तथा नियमित व्यायाम करने का उपदेश करे।

४ इन रोगियो को अपने पास सदैव ग्लूकोज की गोलियाँ अथवा चीनी की राशि रखनी चाहिए, जिसका कि आत्ययिक स्थिति मे प्रयोग किया जा सके।

५ यदि कोई रोगी, ऐसा जड हो, जो ग्लूकोज की गोली न निगल पाता हो, तो उसे २५ ग्राम ग्लूकोज (५०% घोल का ५० मिली०) का अन्त शिरीय सूचीवेध करना चाहिए। इसकी पुनरावृत्ति भी करनी चाहिए। यदि यह उपलब्ध न हो, तो १ १००० घोल का ० ५ मिली० एड्रीनलीन का अधस्त्वगीय इन्जेक्शन देना चाहिए, किन्तु यह अपेक्षाकृत अल्पप्रभावकारी होता हे।

६ जैसे ही रोगी कुछ निगलने लायक हो जाये, उसे ३० ग्राम चीनी मुखसे देनी चाहिएँ।

७ हाइपो-ग्लाइसीमिया के प्रसग की पुनरावृत्ति होने से रोगी की दशा बिल्कुल क्षीण हो जाती है। अत सावधानी वर्तनी चाहिए, जिससे इसकी पुनरावृत्ति न हो।

८ वेहोशी दूर करने के लिए कट्फल के चूर्ण का या अपामार्गबीजादि चूर्ण का नस्य देना चाहिए।

९ शक्ति-सरक्षणार्थ मकरध्वज १२० मि० ग्रा० की २-३ मात्रा ३-३ घण्टे पर मधु से देनी चाहिए।

१० वसन्तकुसुमाकर रस १२० मि० ग्रा०/१ मात्रा का प्रयोग गुडूचीसत्त्व के साथ प्रात-साय करना चाहिए।

११ रोगी के रक्तपरीक्षण द्वारा ग्लूकोज की मात्रा का ज्ञान करते रहे तथा नार्मल से नीचे न जाने देने के लिए अपेक्षित उपाय का प्रयोग करते रहना चाहिए।

उदर्याकलाशोथ

(Peritonitis)

उदर्याकला का परिचय

उदर्याकला एक लम्बी-चौडी दो तह वाली थैली है, जो उदरगुहा-स्थित सभी अङ्गो को आवृत करती है, फिर भी वे अङ्ग इस कला के बाहर रहते हैं, जैसे किसी सोये हुए व्यक्ति के शरीर को रजाई से ढँक दिया जाय, तो भी उसका शरीर रजाई के बाहर ही रहता है। रजाई के दो तहो की तरह इस कला के दो तह होते है और इन दोनो तहो के बीच मे (रजाई की तहो के बीच मे जैसे रूई होती है, उसी तरह) एक स्निग्ध पदार्थ रहता है, जो दोनो तहो के भीतरी भाग को स्निग्ध बनाये रखता है।

उदरगुहा-स्थित अन्त्र आदि अवयव श्वास-क्रिया के दबाव से गतिमान रहते हैं और इससे उदर्याकला के दोनो तह परस्पर रगड खाते रहते है, किन्तु उन तहो के मध्य स्निग्ध पदार्थ होने से कोई हानि नही होती। उदर्याकला समस्त अन्न को उदरक पृष्ठवश से बाँधे रखती हे, अत एव गति करते हुए भी उदरस्थ अङ्ग अपने स्थान पर सुरक्षित और स्थिर रहते है। इस कला के रुग्ण हो जाने से अन्त्र की गतियो मे विकृति आ जाती है, जिसके फलस्वरूप शारीरिक क्रियाओ मे बाधा पडती है।

उदर्याकलाशोथ

यह उदर्याकला के सन्ताप और विस्तार की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाला कीटाणुजन्य शोथ है, जिसमे उत्पन्न विष शीघ्र लीन होकर अति घोर लक्षण उत्पन्न करता है।

निदान

यह रोग कीटाणुओ के आक्रमण से होता है। ये कीटाणु तीन प्रकार से उदर्याकला मे पहुँचते है—

१ **आगन्तुक कारण**—किसी हथियार या लकडी के कुन्दे के आघात से व्रण होने पर कीटाणु उदर्याकला मे प्रविष्ट होकर शोथ उत्पन्न करते है।

२ **रक्त द्वारा**—रक्तविषमयता, पूयरक्तता आदि रोगो के होने पर कीटाणु रक्त द्वारा उदर्याकला मे प्रविष्ट होकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार आन्त्रिक ज्वर, वृक्क शोथ, उष्णवात आदि के कीटाणु भी इस रोग को उत्पन्न करते हैं।

३ आमाशय या अन्त्र आदि के फटने से उनका सक्रमण उदर्याकला मे पहुँच जाने से शोथ उत्पन्न हो जाता है।

उदर्याकलाशोथ के तीन प्रकार

१ **विस्तृत शोथ**—उदर्याकला रक्तमय हो जाती है, इससे जो स्राव निकलता है, उसमे जमने की शक्ति अधिक होती है और वह जमकर तन्तु वन जाता है, जिसे तान्त्विक स्राव कहते है।

२ **स्थानिक शोथ**—यह शोथ उदर्याकला के सीमित स्थान मे होता है, इसलिए इसके लक्षण मृदु होते हैं। स्राव तन्तुल होता है, जिसके कारण वहाँ तन्तु बनकर कला की दोनो तहो को मिला देते हैं।

३ **ग्रथित शोथ**—इसमे स्राव तन्तुल होने से स्राव से तन्तु वन जाते है, जो कला के दोनो पृष्ठो को परस्पर ग्रथित कर सटा देते हैं और दोनो पृष्ठ एकजुट हो जाते हैं।

लक्षण

यह रोग आगन्तुक कारण या आमाशय या पक्वाशय आदि के व्रण के फट जाने से अथवा उपान्त्र विद्रधि आदि के उदर मे फट जाने से होता है। इसके लक्षण दो प्रकार के होते है—

१ **स्थानीय**—वेदना पहले एक स्थान पर और असामान्य-सी होती है, फिर फैल जाती है। दीर्घ श्वास लेने से तथा अन्त्र की अनुलोम गति से वेदना अधिक हो जाती है। रोग के आरम्भ मे ही आध्मान होता है, जिसके क्रमश बढ जाने से उदर मे तनाव हो जाता है और स्पर्श करने पर उदर कठोर प्रतीत होता है। कदाचित् उदर्याकला मे कुछ स्राव भी होने लगता है, जिसके एकत्रित होने से **जलोदर** रोग हो जाता है।

२ **शारीरिक लक्षण**—जिह्वा शुष्क, मलिन और फटी हुई होती है। जिह्वा का गीला रहना अच्छा एव शुभ लक्षण है। क्षुधा का नाश और प्यास की अधिकता होती है। अकारण वमन होने लगता है। हिक्का का होना अरिष्ट लक्षण है।

निद्रा नहीं आती और बेचैनी बनी रहती है, क्षीणता बढती जाती हे, ऑखे भीतर धँस जाती है, गाल पिचक जाते है, चेहरे पर रौनक नही होती हृदय दुर्बल होता है और नाडी क्षीण हो जाती है। नाडी की गति का अति तीव्र होना अरिष्ट लक्षण है।

सापेक्ष निदान

जब आमाशयिक या पक्वाशयिक व्रण या उपान्त्र विद्रधि या अधिक आध्मान के साथ आन्त्रिक ज्वर मे यह रोग उपद्रव के रूप मे हो जाता है, तो बद्धोदर और उदर्याकलाशोथ मे भेद करना कठिन हो जाता है, इसलिए इनका विभेदक लक्षण जानना आवश्यक हे।

उदर्याकलाशोथ	बद्धोदर
१ आरम्भ मे ज्वर और उदर मे किसी एक स्थान पर पीडा।	१ आरम्भ मे न तो ज्वर और न उदर मे पीडा।
२. औदरिक तनाव, कठोरता और हाथ लगाने पर पीडाधिक्य।	२ उदर मे आध्मान, स्पर्श मे मृदु एव हाथ लगाने पर पीडा का अभाव।
३ आरम्भ मे अधिक पीडा और अन्त मे कम।	३ आरम्भ मे पीडा का अभाव और धीरे-धीरे पीडा मे वृद्धि।
४ पूर्ण कोप्ठवद्धता नही होती, अधो वायु निकलती है और वस्ति का प्रयोग सफलता पूर्वक होता है।	४ कोष्ठबद्धता पूर्णत, अधोवायु अवरुद्ध, वस्ति-प्रयोग असफल।
५ वमन होता हे, किन्तु उसमे मल नही आता।	५ वमन मे धीरे-धीरे मल आने लगता है।

चिकित्सा

१ रोगी को पीठ का सहारा देकर बैठाना चाहिए।

२ उदर को नार्मल सैलाइन से धोना चाहिए।

३ आध्मान अधिक हो या कष्टदायक हिक्का हो, तो एट्रोपीन का इन्जेक्शन देना चाहिए।

४ उदर पर टिक्चर आयोडीन लगाना चाहिए। अथवा पञ्चक्षीरी (वट-गूलर-पीपर-बड-महुआ) वृक्षो की छाल पीस कर लेप करना चाहिए।

५ पूयावस्था मे या विद्रधि के फटने मे मात्र शल्यकर्म ही करणीय है।

अन्त्रशोथ

(Enteritis & Colitis)

परिचय—अन्त्र की श्लैष्मिककला के शोथ को अन्त्रशोथ कहते हैं। यह अन्त्र के किसी एक भाग मे अथवा समस्त अन्त्र मे हो सकता है। क्षुद्रान्त्रशोथ को

इण्टेराइटिस (Enteritis) और बृहदन्त्रशोथ को कोलाइटिस (Colitis) कहते है। इनके कारण समस्त महास्रोत का व्यापार अव्यवस्थित हो जाता है। पाचन-प्रणाली के विभिन्न भागो मे जठराग्नि के विभिन्न स्वरूप है, जो अग्नि के विभिन्न पाचन-व्यापार को सम्पन्न करते है। उनकी दुर्बलता से अग्निमान्द्य हो जाने से अजीर्ण, अतिसार, विलम्बिका, अलसक, ग्रहणी, अनुलोमक्षय और अन्त्र सम्बन्धी अनेक प्रकार की व्याधियाँ होती है, परम्परया अन्त्रशोथ भी उनमे से एक है।

वक्तव्य—पाचन-प्रणाली की भद्रता और अभद्रता पर ही मनुष्य की स्वस्थता और अवस्थता निर्भर है। सक्षेपत पाचन-क्रिया का कथन प्रासगिक है—'मुख द्वारा गृहीत आहार मुख से आमाशय मे पहुँचता है। वहाँ अशत पचनकर्म और सघात का भेदन होने के पश्चात् वह अर्धपक्व या अर्धपक्व अवस्था मे ग्रहणी या पच्यमानाशय मे पहुँचता है। यहाँ विभिन्न प्रकार के पाचक रसो का भली-भाँति सम्मिश्रण होता है। पित्ताशय से पित्त और अग्न्याशय द्वारा आया हुआ अग्न्याशयिक रस यहाँ मिलते है और अन्न का पूर्णतया पाचन करते है। इस पाचन से अन्न प्रसाद और किट्ट इन दो भागो मे विभक्त हो जाता है। ग्रहणी, पच्यमानाशय, क्षुद्रान्त्र और डुओडिनम (Duodenum) ये पर्याय शब्द है।

क्षुद्रान्त्रशोथ के कारण

तीक्ष्ण पदार्थों का अतिसेवन, अपक्व आहार या फल आदि का खाना, अधिक मद्यपान करना और अधिक चाय पीना, अम्लपित्त रोग होना एव तीव्र सक्रामक ज्वर होना, वृक्क सन्यास, वातश्लैष्मिक ज्वर, रोहिणी आदि मे उनके विष का रक्त द्वारा क्षुद्रान्त्र मे पहुँचकर क्षोभ उत्पन्न करना आदि कारणो से क्षुद्रान्त्रशोथ हो जाता है। आन्त्रिक ज्वर, प्रवाहिका, हृद्रोग, यकृद्विकार या फुफ्फुसविकार के होने पर भी यह रोग हो जाता है। शोथ के अधिक होने पर व्रेण बन जाते है।

लक्षण

क्षुद्रान्त्रशोथ मे विशेष लक्षण पीडा और अतिसार का होना है। उदरशूल होता है और विष्टम्भ हो जाता है। अकस्मात् भोजन के बाद अतिसार का होना, इस रोग का परिचायक लक्षण है।

बृहदन्त्रशोथ

क्षुद्रान्त्रशोथ के हो जाने पर साथ मे बृहदन्त्रशोथ भी हो जाता है।

कारण

कठोर, दुष्पाच्य, अपक्व और विषम भोजन करना, सक्रामक ज्वर और वृक्क-सन्यास आदि के कारण बृहदन्त्रशोथ हो जाता है। इसमे बृहदन्त्र का याकृतीय और प्लैहिक मोड ही प्राय प्रभावित होता है। इसमे उदरशूल और अतिसार होता है। यदि व्रण हो जाय तो मल के साथ रक्त और श्लेष्मा आने लगते है तथा प्रवाहिका के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

क्षुद्रान्त्रशोथ मे रक्त और श्लेष्मा मल से मिश्रित होकर आते है और वृहदन्त्र रोग मे मल पृथक् और रक्त तथा श्लेष्मा पृथक् आते हैं। वृहदन्त्रशोथ मे उदरशूल, उद्वेष्टन और कफ की अधिकता होती है। किसी-किसी मे दुर्गन्धित मल आना और आध्मान आदि लक्षण भी होते हैं।

व्रणयुक्त वृहदन्त्रशोथ

(Ulcerative colitis)

सामान्यत यह रोग २० से ४० वर्ष की आयु के लोगो मे देखा जाता है, फिर भी यह किसी भी आयु के व्यक्ति को हो सकता है। इसका प्रमुख कारण शरीर की रोगप्रतिरोधक शक्ति का ह्रास होना है, जब कि मज्जागत वैक्टेरिया या प्रतिरोध नही हो पाता और वे व्रणवस्तु का निर्माण करते है।

मुख्य लक्षण

द्रवमल-युक्त, रक्तमिश्रित और श्लेष्मा के साथ अतिसार होता है। शौच त्याग करने मे उदर के निचले भाग मे वेदना होती है। मलाशय के शोथ के कारण कुथन होती है। जब उदरावरण मे शोथ होता है, तो वहाँ की श्लेष्मलकला भी शोथाक्रान्त हो जाती है। रोग के जीर्ण होने पर अन्त्र मे तन्तुमय शोथ होने के कारण निष्क्रियता हो जाती है। रोगी का स्वास्थ्य गिरने लगता है और वह अतिसार का स्थायी रोगी बन जाता है। रोगी को थका देनेवाला अतिसार होता है। ज्वर, हृदयगति की तीव्रता और जलाल्पता होना, ये लक्षण होते हैं। विषाक्तता के विस्तार के कारण रोग तीव्र होता जाता है। झुलसा देनेवाला तापमान, उदर मे फैलाव आदि होने पर समुचित उपचार का अभाव प्राणघातक होता है। रोगी मे रक्ताल्पना होती है, यकृत् का कार्य क्षीण हो जाता है और दौर्बल्य बढ जाता है।

चिकित्सा

१ रोगी को किसी अस्पताल मे भर्ती कर समुचित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिए।

२ हृद्गति के आधिक्य, रक्ताल्पता और वजन घटने की स्थिति मे आरोग्य-लाभ-पर्यन्त हमदर्दी के साथ सेवा-सुश्रूषा की आवश्यकता होती है।

३ जलाल्पता को तत्काल दूर करे और एलेक्ट्रोलाइट्स के ह्रास का निराकरण करे।

४ वृहदन्त्रशोथ का रोगी चिन्ता और बेचैनी से क्षुब्ध रहता है, अत उसे मन-शरीर-सक्षोभनाशक ट्रैन्क्विलाइजर (Tranquiliser) औषध देनी चाहिए।

५ **स्थानिक उपचार**—यदि गुदाभाग मे शोथ होने के कारण मल का अवरोध हो तो सपोजिटरी या गुदवर्ती लगाकर अथवा एनीमा का प्रयोग कर उसे दूर करे। यह प्रयोग प्रतिदिन २ बार करे और कुछ सप्ताह तक चलने दे।

६ सल्फोनामाइड के यौगिक आवश्यकतानुसार प्रयोग करे, किन्तु यह ध्यान मे

रखे कि इसके प्रयोग से वमनेच्छा या वमन अथवा रक्त आना, ये उपद्रव कभी-कभी होने की सम्भावना रहती है । अत इसे धीरे-धीरे कम करते जाना चाहिए ।

७ यदि औषधीय चिकित्सा सफल प्रतीत न हो रही हो, तो विशेषज्ञ द्वारा शल्यकर्म कराने का निर्देश दे ।

८ कोष्ठशोधनार्थ एरण्ड स्नेह का उचित मात्रा मे प्रयोग करे ।

९ उचित समझे तो अतिसार-अधिकार की औषधो का प्रयोग करे । जैसे—गङ्गाधर चूर्ण, बिल्वादि चूर्ण, पाठादि चूर्ण, सिद्धप्राणेश्वर रस, रस पर्पटी, कुटज पुटपाक आदि । इसबगोल की भूसी भी देनी चाहिए ।

१० इस बात की सदैव सावधानी रखनी चाहिए कि विष्टम्भ और मलावरोध न होने पाये ।

११ इसकी कोई विशेष चिकित्सा नही है, इसलिए रोगी को पथ्य-सेवन का उपदेश करना चाहिए । भोजन मे सौम्य, मृदु, सुपाच्य, अनुत्तेजक, कषायरस-प्रधान, द्रवाधिक अल्प मधुर और अल्प लवण युक्त पदार्थ देना चाहिए । बिना चीनी का लाजमण्ड तथा लवण रहित मुद्गयूष देना हितकर है ।

तीव्र ज्वर

(Hyperpyrexia)

परिचय—पित्तदोष के अधिक उद्रिक्त होने से अथवा अधिक धूप लगने से या अग्निसन्ताप से अथवा औपसर्गिक कारणो से जब तापनियन्त्रक केन्द्र (Heat regulating center) अव्यवस्थित हो जाता है, तब तीव्र ज्वर होता है । ज्वर का तापमान १०४° फा० या अधिक होता है ।

लक्षण

इसके पूर्वरूप मे शिर शूल, बेचैनी, मानसिक व्याकुलता, वमन आदि लक्षण होते हैं और जब यह व्यक्त होकर अपने स्वरूप मे प्रकट हो जाता है, तब ज्वर का वेग १०४° फा० या और अधिक हो जाता है । पसीना निकलना बन्द हो जाता है, रोगी स्तब्ध हो जाता है, मुखमण्डल लाल हो जाता है, त्वचा स्पर्श मे अत्युष्ण और शुष्क प्रतीत होती है । नाडी की गति तथा श्वास की गति तीव्र होती है । जिह्वा सूखने लगती है, मूत्र का वर्ण गाढा पीला और मात्रा न्यून हो जाती है । ज्वर के बढते जाने से प्रलाप, आक्षेप, बेहोशी और मानसिक असन्तुलन की वृद्धि हो जाती है ।

चिकित्सा

तापशमनार्थ बाह्य प्रयोग—

१ शीतोपचार—ठण्डे पानी से शरीर को तब तक पोछते रहना चाहिए जब तक कि तापमान १०१° फा० तक न हो जाय ।

२ शिर पर बरफ की थैली रखी जाय, शिर को शीतल जल से धोया जाय या शिर पर शीतल जल की धारा गिरायी जाय ।

३ बरफ अनुपलब्ध होने पर ठण्डे जल (२ लीटर) मे कलमीसोरा और नौसादर का चूर्ण (५०–५० ग्राम) डालकर मिलाकर उसमे ४–६ तह किया कपडा भिगोकर शिर पर पट्टी रखे । गीले वस्त्र से शरीर को लपेट दे ।

४ सहस्रधौत घृत अथवा चन्दनादि तैल शिर पर रखे । अथवा—

५ शिर पर विष्णुतैल या अन्य कोई ठण्डा तेल अथवा सिरका और अण्डे की सफेदी को एक मे फेटकर रखना चाहिए ।

आभ्यन्तर प्रयोग—

१ स्वेदल योग—नागरमोथा, पित्तपापडा, चिरायता, खश, लालचन्दन और सुगन्धवाला—इन्हे समभाग मे लेकर ५० ग्राम को १ लीटर जल मे अर्धावशिष्ट पकाकर थोडा-थोडा पिलाये । अथवा—

२ उक्त षडङ्गपानीय मे शुद्ध नरसार, कलमीसोरा और जवाखार आधा-आधा ग्राम मिलाकर पिलाये ।

३ गोदन्तीभस्म ४ ग्राम, जहरमोहरापिष्टी १ ग्राम और रसादिवटी १ ग्राम—इन सभी को पीसकर मिलाकर ८ मात्रा बनाये और दिन मे ४ बार षडङ्गपानीय के अनुपान से दे । अथवा—

४ हिंगुलेश्वर रस १२० मि० ग्रा० और कलमीसोरा १०० मि० ग्राम/१ मात्रा जल से दिन मे ३–४ बार दे ।

५ रत्नगिरि रस (साधारण) २०० मि० ग्रा०/१ मात्रा ३–३ घण्टे पर दे ।

मूत्रल योग—

६ शर्तपुष्पार्क, अजवायन का अर्क, पित्तपापडे का अर्क, चिरायते का अर्क अथवा पञ्चतृणमूल क्वाथ या पुनर्नवा क्वाथ का उचित मात्रा मे प्रयोग मूत्रल है ।

७ रसौषधियो मे गोदन्ती भस्म, प्रवाल भस्म, विषाण भस्म, जहरमोहरा पिष्टी, ज्वरकेशरी, मृत्युञ्जय रस, त्रिभुवनकीर्ति आदि का उचित अनुपान के साथ प्रयोग करना चाहिए ।

८ सम्पन्न व्यक्तियो के लिए स्वर्णमृतशेखर, मुक्ताभस्म या पिष्टी, प्रवालपञ्चामृत, तृणकान्तमणि पिष्टी, सर्वतोभद्र रस आदि का प्रयोग करना श्रेयस्कर है ।

९ प्रवाल भस्म १२० मि० ग्रा०, विषाणभस्म २५० मि० ग्रा०, गोदन्तीभस्म १ ग्राम की १ मात्रा । ऐसी १ मात्रा २–२ घण्टे पर देते रहने से ज्वर का सन्ताप न्यून हो जाता है ।

१०. केवल त्रिभुवनकीर्ति का प्रयोग भी सन्ताप को शीघ्र उतार देता है ।

११ दाह-मूर्च्छा एव विबन्ध मे द्राक्षादि क्वाथ को प्रातःकाल पिलायें । योग—द्राक्षा मुनक्का, बडी हर्रे का छिलका, पित्तपापडा, नागरमोथा, कुटकी और अमलतास सब समभाग मे २०–२५ ग्राम का क्वाथ बना मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिए ।

१२ जिस स्थान मे जल का फुहारा हो, वहा या भूमिगृह अथवा शीतल स्थान या खस की टट्टी लगे स्थान मे रोगी को रखना चाहिए ।

१३ परिषेक, अवगाहन, विस्तर आदि सभी शीतल रखे ।

१४ लहसुनिया की भस्म, मोती की भस्म, गैरिक, गोदन्ती भस्म, सुगन्धवाला, पित्तपापडा तथा रक्तचन्दन का समुचित प्रयोग हितकर है ।

१५ पित्तपापडे का अर्क पिलाते रहे और सौम्य, मृदु और शीतल उपचार का प्रयोग कर सन्तापहरण करे ।

औषध-प्रतिक्रिया और विषाक्तता

(Medicinal Reaction And Poisoning)

प्राचीन आयुर्वेद-चिकित्सा मे चिकित्सक स्वय के ज्ञानवुद्धि-प्रदीप से आतुर के न केवल शरीर का अपितु उसके मन, बुद्धि और अन्तरात्मा का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसके रोग का निदान करता था और प्रत्येक रोगी के रोग को[1] एक अलग रोग मान कर देश-काल-बल-शरीर-आहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वय की अवान्तर अवस्थाओ[2] को बारीकी से जानने की सम्यक् चेष्टा कर रोग के मूल कारण की खोज मे तल्लीन होकर रोगी और रोग की तह[3] मे पहुँचकर निदान करने के पश्चात् औषध की व्यवस्था करता था । यह स्थिति लगभग पिछले ५०-६० वर्ष मे सर्वथा बदल गयी है और अब तो आयुर्वेद के स्नातक भी आयुर्वेद के निदान और उपचार की ओर उपेक्षा दृष्टि रखते हैं एव आधुनिकता की मानसिकता से ग्रसित हो चुके है ।

सम्प्रति पेटेण्ट दवाओ की भरमार है और रोगी के मूल रोग की खोज के झमेले मे कोई पडना ही नही चाहता, जिसके फलस्वरूप रोगी के हर लक्षण की अलग-अलग औषधे प्रेस्क्राइब कर रोगी को तसल्ली दे दी जाती है । जब एक साथ अनेक औषधे रोगी को दी जाती है तो ऐसी स्थिति मे चिकित्सक का यह नैतिक उत्तरदायित्व हो जाता है, कि वह उन देय दवाओ के गुण-दोष का आकलन करके ही प्रयोग करे । उनका एक साथ प्रयोग परस्पर विरुद्ध न हो, वे एक-दूसरे पर प्रतिकूल प्रभाव न डाले और कदाचित् विष-लक्षण न उत्पन्न करे ।

औषध की तीव्रता, उसकी अधिक मात्रा, विषाक्तता, प्रतिक्रिया और रोगी की स्थिति का विचार न करने का परिणाम घातक हो सकता है । जैसे—

१ पित्तप्रकृतिवालो को कुनीन के योग अथवा पेनिसिलीन के प्रयोग सह्य न होने से गम्भीर परिणाम ला देते हैं ।

२ अधिक मात्रा मे औषध का प्रयोग जानलेवा हो सकता है, जैसे—एड्रीनलीन द्रव की अधिक मात्रा मृत्यु ला सकती है, यदि उसका अन्त शिरीय सूचीवेध किया जाय ।

---

१. योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम् । पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तम' ॥
—च० सू० १।१२३

२. सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि ॥
—च० सू० १५।५

३. ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् । आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥
—च० विमान० ४।१४

३ प्रतिकूल होने पर कतिपय औषधे अनूर्जता (एलर्जी) जनक होती है ।

४ रेचक और ग्राहक औषधो को एक साथ देने पर तीव्र आध्मान हो जाता है । इसी प्रकार परस्पर रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव के विपरीत औषधो का एक साथ प्रयोग करना उपद्रवजनक होता है ।

सल्फावर्ग की औषधो के विषैले लक्षण

ये औषधे विषाक्त होती है । इन्हे लक्षणो के अनुसार अनेक वर्गो मे विभक्त किया गया है—

१ **सामान्य विषाक्तता**—इसमे शिर शूल, मिचली या वमन होना और त्वचा मे श्यावता होना—ये लक्षण होते हैं ।

२ **गम्भीर विषाक्तता**—इसमे अतिसार, मूत्रावरोध, अन्त्रशूल, वृक्कशूल तथा रक्तमूत्रता एव भ्रम आदि मनोविकार आदि उपद्रव होने लगते है ।

३ **भीषण दुष्परिणाम**—इसमे १०-१५ दिन बाद यकृत् शोथ, कामला, रक्ताल्पता, तन्त्रिकाशोथ (Neuritis) आदि उपद्रव होते हैं ।

४ **औषध के प्रति असहिष्णुता** (Drug intolerance)—एक बार सल्फावर्ग की औषध के प्रयोग करने के कुछ दिनो बाद पुन प्रयोग करने से त्वचा मे चकत्ते या दाने निकलना, गले मे एव चेहरे पर सूजन होना आदि लक्षण होते है ।

चिकित्सा—उन औषधो का प्रयोग रोककर लक्षणो के अनुसार चिकित्सा करे ।

साधारण पेनिसिलीन तथा प्रोकेन पेनिसिलीन की प्रतिक्रियाएँ और उपचार

१ **तात्कालिक प्रतिक्रिया**—पेनिमिलीन की सूई लगते ही अथवा १-२ घण्टे के अन्दर रोगी मे तीव्र विषैले लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । कभी-कभी रोगी की मृत्यु भी हो जाती है । मुख रूप से उपजिह्वाशोथ, गले मे शोथ, श्वासकष्ट, त्वचा मे चुनचुनाहट तथा चकत्ते निकलना, चेहरे का रग फीका पड जाना और असहिष्णुता, ये लक्षण होते है ।

२ **पश्चात्कालीन प्रतिक्रिया**—पेनिसिलीन के प्रयोग के कई दिनो बाद प्रतिक्रिया-स्वरूप चकत्ते निकलना, दाने निकलना, मुखमण्डल मे शोथ होना और ज्वर होना, ये लक्षण होते हैं ।

३ **प्रोकेन पेनिसिलीन की प्रतिक्रिया**—शिर मे चक्कर, बेचैनी, अत्यधिक पसीना छूटना, हाथ-पैर ठण्डा पडना, नाडी की गति मन्द होना, रक्तचाप गिर जाना और मूर्च्छा—ये लक्षण होते हैं। कदाचित् तीव्र आक्षेप (Convulsions), पैर मे चुनचुनाहट और त्वचा मे शीतपित्त जैसे चकत्ते उमड आते हैं । कभी-कभी ये लक्षण अत्यन्त उग्र होकर प्राणनाशक हो जाते है ।

प्रतिषेध—

१. अत्यावश्यक होने पर ही पेनिमिलीन का प्रयोग करे ।

२ व्यक्तिगत या पारिवारिक इतिवृत्त लेकर यह पता लगा लेना चाहिए कि रोगी एलर्जी से प्रभावित है या नही, अथवा पहले कभी पेनसिलीन की सूई लेने मे प्रतिक्रिया हुई है या नही।

३ हो सके तो बाँह मे या जघे मे सूई लगाये तथा सूई लगाने के स्थान के ऊपर बन्धन (Tourniquet) बाँध देना चाहिए।

४ सूई लगाते समय सदैव सिरिञ्ज के पिस्टन को पीछे खीचकर यह देख लेना चाहिए कि सूई शिरा मे तो नही चली गयी है। यदि शिरा मे हो, तो उसे निकालकर अन्यत्र मासपेशी मे लगाये तथा उस स्थान को रगडे नही।

५ जिन रोगियो मे प्रतिक्रिया होती दीखती हो, उन्हे भविष्य मे पेनिसिलीन लेने से मना कर दे।

तत्काल उत्पन्न विषाक्तता मे उपचार

१. रोगी को अविलम्ब लिटा दें और पैताने को ऊँचा कर दे। सूई लगाने के स्थान के ऊपर बन्धन (Tourniquet) लगाये।

२ रोगी के पहने हुए कपडे ढीले कर दे, जिससे श्वास लेने मे आसानी हो। मुख पर शीतल जल की धारा गिराये या छीटे दे। बेहोशी को दूर करने के लिए अमोनिया सुँघाये या एक छोटी शीशी मे समभाग चूना और नौसादर डालकर हिला दे और डाँट बन्द कर दे फिर डाँट खोलकर रोगी को सुँघाये, अथवा—कट्फल की छाल का बारीक चूर्ण सुँघायें।

३. यदि दवा देते ही विषाक्तता के लक्षण प्रकट होते दीखे, तो उस दवा को तत्काल रोक दे और दूसरी सिरिञ्ज से तुरन्त एड्रीनलीन हाइड्रोक्लोराइड का १ १००० का घोल ५ सी० सी० की मात्रा मे मासपेशी मे सूचीवेध करे।

४ हाइड्रोकॉर्टीसोन को १०० मि० ग्रा० की मात्रा मे शिरा द्वारा दे और कोई भी एण्टी-हिस्टामिनिक द्रव २५ से ५० मिलीग्राम की मात्रा मे सूचीवेध द्वारा दे या मुख द्वारा प्रयोग कराये।

५ यदि प्रतिक्रिया का प्रभाव श्वसनतन्त्र पर हो और श्वासकष्ट हो, तो एमिनोफाइलिन (Aminophylline) ० २५ से ० ५ ग्राम तथा एड्रीनलीन १·१००० का ० १ से १ सी० सी० को २५ प्रतिशत २५ सी० सी० ग्लूकोज के साथ मिलाकर सिरामार्ग से सूचीवेध करे।

६ उक्त लक्षणो के पुनराक्रमण पर उक्त चिकित्सा पुन दुहराये।

७ आवश्यक होने पर ऑक्सीजन सुँघाना चाहिए।

८ स्ट्रेप्टोमाइसिन, क्लोरेम्फिनाल तथा टेट्रासाइक्लिन के विषाक्त लक्षण प्रकट होने पर पेनिसिलीन की तरह उपचार करे।

औषधों का घातक मिश्रण

बहुत-सी औषधे ऐसी है, जिनका अज्ञानवश प्रयोग करना घातक परिणाम लाता है। जैसे—

१ जिन रोगियो मे डिजिटेलिस का प्रयोग हो रहा हो, उनमे कैलसियम का प्रयोग करने से हृदय की मासपेशी पर अत्यन्त क्षोभक प्रभाव देखने मे आता है, जिससे आगे चलकर निलय-विकम्पन (Ventricular fibrillation) होने से रोगी की मृत्यु हो सकती है । अत यह विधान है, कि जिन रोगियो को कैलसियम देना हो, उनमे कम से कम चार दिन पहले से ही डिजिटेलिस का प्रयोग वन्द कर दें ।

२ क्लोरोफार्म मज्ञाहरण (Chloroform anaesthesia) मे एड्रीनलीन का प्रयोग नही करना चाहिए ।

३ कोई भी इञ्जेक्शन लगाने के पहले उसके लेविल, निर्माणकाल और ममाप्तिकाल (एक्सपायरी डेट) को अच्छी तरह देख लेना चाहिए ।

४ कभी-कभी औपध का प्रयोग गलत मार्ग से कर देने का घातक परिणाम होता है, जैमे विना ग्लूकोज मे घोले और धीरे-धीरे एड्रीनलीन का प्रयोग शिरा द्वारा किया जाय, तो निलय-विकम्पन के कारण या तो रोगी का प्राणान्त हो जाता है अथवा उग्र शिर शूल, घवडाहट, चक्कर तथा अर्धाङ्ग पक्षाघात आदि लक्षण होते हैं ।

५ यदि कार्वाकाल (Carbacal) का शिरा द्वारा सूचीवेध किया जाय, तो वमा अन्त शल्यता (Fat embolism) के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

६ किसी भी वैक्सीन को मासपेशी मे लगाते समय पिस्टन खीचकर देख लेना चाहिए, कि सूई किसी शिरा मे तो नही गयी है । क्योंकि वैक्सीन की एक बूँद भी शिरा मे चले जाने से घातक परिणाम होता है ।

७ इसी प्रकार N A B का मासपेशी मे सूचीवेध करने से स्थानिक तथा मार्वदैहिक अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती है ।

विशेष चेतावनी—

१ डिजिटेलिस तथा स्ट्रोफैन्थिन एक साथ देने से हृदयगत्यवरोध (हार्टफेल) हो सकता है ।

२ वृद्धावस्था मे डिजिटेलिस तथा कैलसियम साथ-साथ देने से रक्त के जमने (थ्रोम्वोसिस) का भय रहता है ।

३ मुख से डिजिटेलिस देने के १४ दिन के अन्दर पुन इसका इञ्जेक्शन देने से हृदय कार्य करना वन्द कर सकता है ।

४ वृद्धावस्था मे एफेड्रिन देने से वस्ति मे मूत्र एकत्र होने लगता है और वह स्वय वाहर नही निकल पाता ।

५ जीवाणुनिरोधी, (एण्टीवायोटिक्स) औपध (जैसे —क्लोरोमाइसिटीन, टेट्रासाइक्लिन आदि) के साथ मल्टीविटामिन देना चाहिए, अन्यथा शरीर मे विटामिन की कमी हो जाने से फगस का सक्रमण हो सकता है ।

६. कैल्सीफेरोल प्रतिदिन अधिक मात्रा मे देने से रक्त मे कैलसियम की मात्रा वढ जाती है और वृद्धावस्था मे थ्रोम्बोसिस हो सकता है ।

७ किसी एक विटामिन को लगातार अधिक मात्रा मे देते समय अन्य विटामिनो को भी देना चाहिए, अन्यथा अन्य विटामिन की कमी हो जाती है ।

विषाक्तता-प्रतिषेध के उपाय

१. विषैली औषधो को अन्य औषधो से अलग किसी वॉक्स या आलमारी मे रखना चाहिए, जहाँ बच्चो की पहुँच न हो ।

२ खाने-पीने की सामग्री वाली आलमारी मे विषैले पदार्थ विलकुल न रखे ।

३ विषैले द्रव्यो के डिब्बे या शीशी पर लाल लविल लगाकर नाम लिख दें ।

४ लेविल पर नाम स्थानीय भाषा मे और स्पष्ट अक्षरो मे लिखे ।

५ जो औषध विकृत हो गई हो, उसे जमीन मे गडवा दें ।

६. अन्धेरे मे किसी को दवा न दे और न स्वय सेवन करे ।

७ विषौषधो का प्रयोग उपाधि-प्राप्त रजिस्टर्ड चिकित्सक ही कर सकता है, अन्य अनधिकृत व्यक्ति नही ।

८ यदि चिकित्सक भूल से किसी विषयुक्त औषध की मात्रा अधिक लिख दे, तो वितरणकर्ता या फार्मेसिस्ट को सन्देह होने पर चिकित्सक से पुन पूछ लेना चाहिए और उसके हस्ताक्षर के विना औषध नही देनी चाहिए ।

विषाक्तता मे चिकित्सक का कर्तव्य

१ यदि किसी रोगी के विषय मे चिकित्सक को यह सन्देह हो कि उसे मारने के लिए किसी ने विष दिया है, तो वह पुलिस को तुरन्त सूचित करे। क्योकि क्रिमिनल प्रोसीजर (Criminal procedure) की धारा ४४ के अनुसार पुलिस को खवर देना चिकित्सक का कर्तव्य हो जाता है । भारतीय दण्ड-विधान की धारा ७६ के अनुसार ऐसा न करने पर चिकित्सक स्वय दण्ड का भागी होता है ।

२ आकस्मिक दुर्घटना के तहत या आत्महत्या के लिए विष का प्रयोग होने या किये जाने मे चिकित्सक अपने विश्वास के अनुसार पुलिस को खबर दे और पुलिस की तहकीकात मे वह न्याय-सस्था की सहायता करे । चिकित्सक का यह नैतिक कर्तव्य है ।

३ प्रत्येक विषयुक्त रोगी के विषय मे पुलिस को सूचना देना चिकित्सक की दृष्टि से हितावह है और व्यवहार की दृष्टि से भी उचित है । अपराध-विवेचन पुलिस का कार्य है ।

४ आत्महत्या के प्रयत्न मे, पर-हत्या के प्रयत्न मे या दुर्घटना मे, इनमे से किसी कारणवश विषाक्त रोगी यदि मरणोन्मुख हो या चिकित्सा होने पर भी उसके जीवित रहने की आशा क्षीण हो या चिकित्सक के सामने ही उसकी मृत्यु हो जाय, तो इन परिस्थितियो मे पुलिस को सूचित करना चिकित्सक का कर्तव्य है ।

५ यदि चिकित्सक अस्पताल मे कार्यरत है, तो किसी भी प्रकार के विषाक्त रोगी की सूचना पुलिस या मजिस्ट्रेट को देना उसका वैधानिक कर्तव्य होता है ।

परिशिष्ट

इमर्जेन्सी बैग में रखने योग्य औषधें[1]

१ अमोनियम कार्बोनेट और कट्फल चूर्ण—सूँघने के लिए।

२ एपोमार्फीन हाइड्रोक्लोराइड इञ्जेक्शन के दो-तीन एम्पुल—विष-भक्षण मे या अन्य परिस्थितियो मे वमन कराने के लिए।

३. एट्रोपीन सल्फेट के दो-तीन एम्पुल—शूल तथा कोलैप्स मे अत्यधिक पसीना रोकने के लिए।

४ मॉर्फीन हाइड्रोक्लोराइड के $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रेन के दो-तीन एम्पुल—सभी प्रकार के शूलशमनार्थ प्रयोग के लिए।

५ कोरामिन, कार्डियाजोल, वेरिटाल के ४-५ एम्पुल—हार्ट-फेल्योर या अन्य घातक अवस्थाओ मे प्रयोगार्थ।

६ एड्रीनेलीन हाइड्रोक्लोराइड १ १००० के $\frac{1}{2}$ सी० सी० के कुछ एम्पुल—विभिन्न घातक अवस्था मे प्रयोगार्थ एव एण्टी एलर्जिक औषध के रूप मे प्रयोग के लिए।

७ पायलोकार्पीन के दो-तीन एम्पुल—धतूरा विष के प्रतिविष के रूप मे प्रयोगार्थ।

८ पेथिडीन हाइड्रोक्लोराइड के १०० और ५० मिलिग्राम के कई एम्पुल—मार्फिया के स्थान पर प्रयोग के लिए।

९ लोबेलीन हाइड्रोक्लोराइड के दो-चार एम्पुल—श्वासावरोध मे प्रयोग के लिए।

१० इन्सुलीन प्लेन की १० सी० सी० ४० यूनिट की वायल—मधुमेहजन्य मूर्च्छा या अन्य मधुमेहज विकारो मे प्रयोगार्थ।

११ पैराल्डिहाइड की ५ सी० सी० के कुछ एम्पुल—हिस्टीरिया आदि मानस-विकारो मे अवसादक के रूप मे प्रयोग के लिए।

१२ लार्जेक्टिल के ५० मिलीग्राम के ४-५ एम्पुल—वमन रोकने के लिए, अवसादन के लिए और उच्च रक्तचाप घटाने के लिए।

१३ एमाइनोफाइलिन के कई एम्पुल—दमा मे श्वासनलिका के सकोच तथा हृदय-धमनी-सकोच मे प्रयोगार्थ।

१४ एड्रीनेलीन एफेड्रिन के दो-चार एम्पुल—दमा दूर करने के लिए।

१५ क्रोमोस्ट्रेट, स्ट्रेप्टोक्रोम के ४-५ एम्पुल—सभी प्रकार के रक्तस्रावो को रोकने के लिए।

---

१. इस शीर्षक का विषय 'सकटकालीन प्राथमिक चिकित्सा' लेखक—डॉ० प्रियकुमार चौबे की पुस्तक से साभार उद्धृत है।

१६ हिपेरिन के वायल —सेरिब्रल थ्रोम्बोसिस मे या अन्य थ्रोम्बोसिस मे एण्टी कोएगुलेण्ट औषध के रूप मे प्रयोगार्थ ।

१७ एण्टीस्टिन, एविल, फेनर्गन, सायनोपेन के कई एम्पुल—एलर्जी एव एनाफिलेक्टिक शॉक को दूर करने के लिए ।

१८ इसगीपायरिन, नोवाल्जिन के कई एम्पुल—वेदना-निवारणार्थ।

१९ स्टेमेटिल, सीक्विल के कई एम्पुल—विभिन्न प्रकार की उत्तेजना और वमन को दूर करने के लिए ।

२० वाल (B A L) के कई वायल या एम्पुल—समस्त प्रकार के धातवीय विष के प्रतिविष के रूप मे प्रयोगार्थ ।

२१ टिटेनस एण्टी-टॉक्सिन के कई एम्पुल—प्रतिषेधार्थ और रोगोपचार के लिए ।

२२ सर्पापिल १ ग्राम के दो-चार एम्पुल—उच्च रक्तचाप को कम करने के लिए ।

२३ सुपर ग्लूकोज सोल्यूशन के २५ प्रतिशत घोल के २५ सी० सी० के ४-५ एम्पुल ।

२४ ग्लूकोज सैलाइन की ५०० सी० सी० की कई बोतलें ।

२५ कैलसियम ग्लूकोनेट की १० प्रतिशत घोल की १० सी० सी० के कुछ एम्पुल ।

२६ पेनिसिलीन-जी क्रिस्टेलिन के १, २, ५, १० लाख यूनिट के ४-६ वायल ।

२७ प्रोकेन पेनिसिलीन ४ लाख यूनिट के कई वायल तथा पेनिसिलीन ४ लाख यूनिट ½ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन के मिश्रित योग के कई वायल ।

२८ एक्रोमाइसीन, टेरामाइसिन, स्टिक्लीन के १०० मिलिग्राम के कई वायल ।

२९ क्लोरोमाइसिटीन सक्सीनेट के कई वायल ।

३० पेरिस्टान-एन तथा एफकोलिन के कई एम्पुल ।

३१ डिजोक्सिन एव डेरिफाइलीन एम्पुल—हृदयविकार मे ।

३२ नेप्टाल, मर्सेलिल—मूत्रल औषध के रूप मे प्रयोगार्थ ।

कुछ इमर्जेन्सी टेब्लेट्स

१ पेथीडीन ५० मिलीग्राम की गोलियाँ ।

२ स्पैज्मिण्डोन या वेरालगन की गोलियाँ ।

३ नोवाल्जिन, सीवाल्जिन, इसगीपाइरीन ।

४ स्यूडोकॉर्डिल, कोराल्जिन, स्यूडोफिल, पेण्टानाइट्री ।

५ सायनोपेन फेनर्गन, एविल एव अन्य एण्टी एलर्जिक ।

६ सर्पासिल ० २५ मिलिग्राम, एलडेफेन, सर्पीरुटीन इत्यादि ।

अन्य आवश्यक उपकरण

१ २, ५, १०, २० और ५० सी० सी० की सिरिञ्ज तथा उनके क्रमानुसार पतली-मोटी अनेक सुइयाँ ।

२ एक सेलाइन आपरेटस ।
३ ईथर, एल्कोहल तथा स्पिरिट की शीशियाँ ।
४ टग डिप्रेसर, एम्पुल काटने की रेती, दियासलाई ।
५. रबर टूर्निकेट तथा विविध नम्बरो के रबर और मेटल कैथेटर ।
६ स्टेरिलाइज्ड गॉज और एक बण्डल रुई ।
७ रबर का दस्ताना और फिंगर स्टाल ।
८ चाकू और महीन चिमटी ।
९ दो आमाशय नलिका ।
१० माउथ गैग और टग फॉर्सेप्स ।
११ ऑक्सीजन सिलिण्डर ।
१२ नया सेल लगा टार्च ।
१३ स्टेरिलाइज्ड पट्टी तथा त्वचा सीने की सूई ।
१४ दो लम्बर पक्चर की सूई तथा सूखे स्टेरिलाइज्ड ट्यूब ।
१५ एण्टीसेप्टिक लोशन, डेटॉल तथा पोटैशियम परमैगनेट ।
१६ ब्लडप्रेशर की मशीन, स्टेथिस्कोप ।
१७ थर्मामीटर, स्पिरिट लैम्प इत्यादि ।

व्यवस्थापत्र (नुस्खा) के सांकेतिक शब्द

संकेत	अर्थ	संकेत	अर्थ
प्र०	प्रति	कि० ग्रा०	किलोग्राम
प्र० दि०	प्रतिदिन	ग्रा०	ग्राम
आ० अ०	आवश्यकतानुसार	सें० ग्रा०	सेण्टीग्राम
ए० प्र० दि०	एक बार प्रतिदिन	डे० ग्रा०	डेसीग्राम
द्वि० प्र० दि०	दो बार प्रतिदिन	से० ग्रे०	सेण्टीग्रेट
त्रि० प्र० दि०	तीन बार प्रतिदिन	फा०	फारेनहाइट
भो० पू०	भोजन के पूर्व	मि० ग्रा०	मिलीग्राम
मि०	मिनिम, बूँद	मि० ली०	मिलीलीटर
स०	सप्ताह	ली०	लीटर
अ०	अधस्त्वक्	भो० बा०	भोजन के बाद
पे०	पेशीमार्ग		

औषध देने का समय

१ यदि आमाशय पर कार्य करने की दृष्टि से औषध देनी हो, तो उसे खाली पेट भोजन के पहले देना चाहिए ।

२ भूख बढाने की औषध भोजन के पूर्व खिलानी चाहिए ।

३ भोजन पचानेवाली औषधे भोजन के बाद देनी चाहिए ।

४ तीव्र जुलाब की औषध प्रात काल दे और विलम्ब मे कार्य करनेवाली दवा रात मे सोते समय दे ।

५ निद्राप्रद औषध रात मे सोने के समय देनी चाहिए ।

६ नीद लाने की दवा रोगी को बिस्तर पर लेटकर लेनी चाहिए ।

७ लौह, सखिया आदि के योग भोजन के बाद लेने चाहिए ।

८ मासिकधर्म लानेवाली औषध मासिक होने के समय से एक सप्ताह पूर्व से ले ।

९. मूत्रल दवा प्रात काल लेनी चाहिए, रात मे लेने पर बार-बार मूत्रोत्सर्ग के लिए उठना पडेगा ।

१० कफवृद्धि दूर करने लिए वमन कराना हो, तो सवेरे काञ्जी पिलाकर वमनकारक औषध देनी चाहिए ।

११ अग्निमान्द्य और अजीर्ण को दूर करने के लिए औषध को भोजन के साथ देना चाहिए एव रात्रि मे भी देना चाहिए ।

१२ तृष्णा, हिचकी, श्वास और विषप्रकोप मे बार-बार औषध का सेवन कराना चाहिए ।

१३ वातरोग के शोथ पर रात्रि मे लेप न लगाये और दिन मे लगाये हुए लेप के सूखने पर उसे हटा दे ।

१४ दाहयुक्त अम्लपित्त रोग मे वमन-विरेचन से शोधन कराने के पश्चात् ही औषध-सेवन कराना लाभदायक है ।

१५. सगर्भा स्त्री को अफीम, जमालगोटा और एलुवा वाली औषधे तथा अन्य तीक्ष्ण औषधे न दे ।

औषध-सेवन के पाँच काल

प्रथम काल—प्रात काल औषध प्रदान करना—यह प्रथम काल है । यह पाँचो कालो मे सबसे उत्तम माना गया है ।

१ स्वरस, कल्क, कषाय, फाण्ट और हिम को प्रात काल देना चाहिए ।

२ वातादि दोषो के शमनार्थ स्नेहपान, पित्तनाशार्थ विरेचन, कफ प्रकोप मे वमन, मेदोवृद्धि मे लेखन औषध, मूत्रल औषध, पौष्टिक औषध, वीर्यवर्धक और रसायन औषध प्राय प्रात काल दी जाती है ।

द्वितीय काल— १ अपानवायु के कुपित होने पर भोजन के आधे घण्टे पहले वातनाशक औषध देनी चाहिए ।

२ आमाशयस्थ प्राणवायु-विकृतिजन्य अरुचि आदि मे भोजन के साथ अनेक बार थोडी-थोडी औषध दे ।

३ समानवायु प्रकोपज अग्निमान्द्य मे भोजन के मध्य मे औषध दें ।

४ व्यानवायु से प्रकोप मे भोजन के अन्त मे औषध दे ।

५ उदानवायु-विकृतिजन्य पाचनतन्त्र मे गडबडी होने पर भोजन के आदि और अन्त मे औषध देनी चाहिए ।

तृतीय काल—१ उदानवायु के प्रकोप से कण्ठ में स्वरभंग आदि होने पर सायंकाल भोजन के प्रथम ग्रास में दवा दे।

२ प्राणवायु की विकृति से अग्निमान्द्य के विकार होने पर सायंकाल भोजन के अन्त में औषध देना अधिक उपयुक्त है।

चतुर्थ काल—१. तृष्णा, वमन, हृल्लास, हिक्का, श्वास, विषदोष, सन्निपात, अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, विसूचिका—इनमे थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे और बार-बार औषध देनी चाहिए।

२ वमन, अतिसार, ग्रहणी और प्रवाहिका मे ५–८ बार अल्प मात्रा मे औषध देना विशेष लाभदायक है।

३. विसूचिका मे आधे-आधे घण्टे पर औषध दे। जब रोग का शमन होता दीखे तो औषध की मात्रा घटा दें।

४ विषप्रकोप हिक्का और तीव्र श्वासरोग मे १–१ या २–२ घण्टे पर औषध देनी चाहिए।

पञ्चम-काल—१ कण्ठ के ऊर्ध्व भाग के रोग अर्थात् नेत्र, नासा, कर्ण, मुख और मस्तिष्कगत रोगो मे प्रवृद्ध वातादि दोषों के ह्रास तथा क्षीण दोषो की वृद्धि के लिए रात्रि मे पाचन, बृंहण और शमन औषध देनी चाहिए।

२ मधुररस-प्रधान पौष्टिक औषध प्रातःकाल दें।

३. लवण मिश्रित क्षार-प्रधान औषध भोजन के पहले या भोजन के प्रथम ग्रास मे देने से आमाशयिक रस की वृद्धि होती है।

४ हींग आदि तीक्ष्ण वातघ्न ओषधियां भोजन के पहले देने से उदरवायु निकलती है और पाचक रस बढ़ता है।

५. कषायरस-प्रधान ओषधियाँ (हर्रे, कत्था, लोध, मोचरस, माजूफल आदि), अफीम तथा रसकर्पूर आदि औषधियाँ ग्राही हैं और पाचकरस की उत्पत्ति की प्रतिबन्धक होती हैं। अतः उनको भोजन से तीन घण्टा पहले देना चाहिए।

६ कड़वी औषध भोजन के साथ नहीं देनी चाहिए, अन्यथा वातप्रकोप होने की आशङ्का होती है।

दोषप्रत्यनीक (विरुद्ध) चिकित्सा की श्रेष्ठता

आयुर्वेद किसी रोग की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व दोष-दूष्य और स्थानादि के ज्ञान को आवश्यक मानता है। किस प्रकार कौन दोष दूषित हुआ, किस दोष का किन-किन दूष्यो से संयोग हुआ और कौन-कौन स्थान दूषित हुए—इन सभी बातो का निश्चय और सम्यग् बोध हो जाने पर ही चिकित्सा करने मे सफलता मिलती है।

वाग्भटाचार्य के कथनानुसार है—'दूष्य (रस-रक्तादि धातु), देश (साधारण-आनूप-जाङ्गल), बल (रोगीबल, रोगबल और दोषबल), काल (ऋतु), अग्नि,

प्रकृति, आयु, सत्त्व (मनोवल-धैर्य), सात्म्य (आहार-विहार की अनुकूलता) रोगो की सूक्ष्म-सूक्ष्म अवस्थाओ, दोप (वातादि) और औपध के गुण-प्रभाव आदि का अच्छी रीति से विचार करके जो वैद्य चिकित्सा-कार्य करता है, वह कदापि असफल नही होता'।

जैसे ताजा गोदुग्ध मेध्य, सद्य वलदायक और पुष्टिकर है, फिर भी पित्तज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, कफज खाँसी, कृमि, विद्रधि और कुष्ठ आदि रोगो मे हानिकर है। कफप्रकृति वालो के लिए हितकर औपधियाँ समान रोग होने पर भी पित्तप्रकृति वालो को हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार देश या काल-भेद से भी औपधो की योजना बनानी चाहिए।

चिकित्सा की सफलता के आधार-सूत्र

१ चिकित्सक अपने उच्चस्तरीय मानवीय सवेदना की झलक से रोगी के मन मे अपने प्रति विश्वास, श्रद्धा और निष्ठा उत्पन्न करे तथा रोगी के प्रति अपने पुत्र की तरह वात्सल्य और स्नेह जताकर आत्मीयता स्थापित करे।

२ दोष, दूष्य और निदान के विपरीत और दोष-विपरीतार्थकारी, दूष्य-विपरीतार्थकारी तथा निदान-विपरीतार्थकारी औपध, अन्न एव विहार का प्रयोग निश्चित रूप से रोग को दूर करने मे समर्थ होता है।

३ **दशविध परीक्षा**—१ दोप, २ औषध, ३ देश, ४. काल, ५. सात्म्य, ६ अग्नि, ७ सत्त्व, ८ शरीर, ९ वय और १० बल—इन दसो की ठीक-ठीक परीक्षा करके ही चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए।

४ **व्याधि-मुक्ति के बाद भी चिकित्सा की आवश्यकता**—किसी रोग के आक्रमण मे जब शरीर क्षीण हो जाता है और दोषप्रकोप होने की सभावना बनी रहती है, तो अल्प कारण के उपस्थित हो जाने पर निवृत्त हुआ रोग पुन लौट आता है। इसलिए अवश्य लाभकर औषधो का सेवन तथा पुष्टिकर औषधो का सेवन कर शरीर को पूर्णत नीरोग और पुष्ट बना लेने के लिए रोगमुक्त होने के बाद भी कुछ दिनो और औषध का सेवन कराना चाहिए, जिससे रोग के पुनराक्रमण का भय न हो। ऋणशेप, शत्रुशेष, अग्निशेप और व्याधिशेष—इन्हे नही छोडना चाहिए, अन्यथा इनका पुन बढ जाना घातक होता है।

रोगी-विषयक अपेक्षा

१ गर्भवती स्त्री को अफीम, जमालगोटा और एलुवा वाली औपधे या तीक्ष्ण औषधे न दे।

२ मन्दाग्नि के रोगी, बहुमूत्र के रोगी और सूतिकाज्वर की रोगिणी को घी का अल्प मात्रा मे सेवन कराना चाहिए।

३ शरीर मे जब तक रोग होता है, तब तक पौष्टिक औषध से लाभ नही होता। रोग दूर होने के बाद ही पौष्टिक औपध देनी चाहिए।

४. निरन्तर सेवन करने से अथवा स्वाद के न होने से यदि पथ्य मे रुचि न हो, तो उसके निर्माण के प्रकार मे थोडा परिवर्तन कर रुचिकर बनाकर दे, क्योकि मन के सन्तुष्ट होने पर ही रोग का क्षय, आरोग्य-लाभ, सुख और शरीर मे बल की वृद्धि होती है ।

५ स्त्री-रोगिणी को पुरुष की अपेक्षा कम मात्रा मे दवा देनी चाहिए ।

६ बालको को निम्नाङ्कित मात्रा मे औषध दे—

३ मास तक पूर्णमात्रा	का	$\frac{१}{३६}$ भाग	४ वर्ष तक पूर्णमात्रा	का	$\frac{१}{४}$ भाग
६ ,,	,,	$\frac{१}{१६}$,,	८ ,,	,,	$\frac{१}{३}$,,
१२ ,,	,,	$\frac{१}{१२}$,,	१२ ,,	,,	$\frac{१}{२}$,,
२ वर्ष	,,	$\frac{१}{७}$,,	२० ,,	,,	$\frac{२}{३}$,,
३ ,,	,,	$\frac{१}{५}$,,	६० ,,	,,	पूर्णमात्रा

इसके बाद शक्ति घटने पर मात्रा को क्रमश कम करते जाये ।

७ रोगी के बिस्तर, वस्त्र, स्थान और पात्र स्वच्छ रखने चाहिए ।

८ औषध, जलपान और पथ्य नियमित एव उचित प्रमाण मे दे ।

९ रुग्ण के मनोरञ्जन के लिए कमरे मे ट्रान्जिस्टर आदि रख दे ।

१० पूर्ण विश्राम दे और मिलनेवाले उनके पास अधिक समय तक न बैठे और न ही व्यर्थ की बाते करे । रोगी को धैर्य, आश्वासन और सान्त्वना दे ।

११ दीर्घकाल तक शय्या पर पडे रहनेवालो के शरीर को गरम जल मे तौलिया भिगोकर देह पोछना चाहिए ।

१२. दोष और रोग के अनुसार आहार-विहार की समुचित व्यवस्था करे । ४–४ घण्टे पर तापमान, श्वास और नाडी की गति का रिकार्ड बनाना चाहिए । मल-मूत्र के उत्सर्ग और प्रकार के विषय मे आवश्यक जानकारी रखनी चाहिए ।

रोग-विषयक अपेक्षा

१. नूतन ज्वर मे दिन मे सोना, स्नान, अभ्यङ्ग, भोजन, हवा का झोका और श्रमजनक कार्य निषिद्ध है ।

२. पीने का पानी गरम करके ठण्डा किया हुआ दे ।

३ जीर्णज्वर मे गोदुग्ध और अल्प मात्रा मे घी दे ।

४. सन्निपात मे शीतल जल नही पिलाना चाहिए ।

५ यदि रोगी को प्रस्वेद अधिक आता हो, तो उसे तुरन्त बन्द करने की चिकित्सा करनी चाहिए, अन्यथा शीताङ्ग हो सकता है ।

६ यदि तन्द्रा या बेहोशी हो तो तीक्ष्ण नस्य देकर शीघ्र होश मे लाना चाहिए ।

७ ताप चले जाने पर जब तक शरीर मे शक्ति न आ जाय, तब तक व्यायाम, मैथुन और पैदल चलने का निषेध करे ।

१० पारद, संखिया, कुचला आदि का सेवन यदि ज्यादा दिनो तक करना हो, तो दो सप्ताह तक देने के वाद एक सप्ताह छोडकर पुन आरम्भ करे।

११. आमाशय खाली रहने पर दी गई औषध शीघ्र शोषित होती है, अत सामान्य औषधे प्रात -साय खाली पेट ही दी जाती है। आसव-अरिष्ट तथा तीक्ष्ण औषधे भोजन के वाद दी जाती हैं।

आहार-विहार के कुछ नियम

१. **शीतल जलपान**—मूर्च्छा, मदात्यय, दाह, पित्तविकार, विपविकार, रक्तविकार, वमन, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, श्रम एव भ्रम मे ठण्डा जल पिलाना चाहिए।

२ **उष्ण जलपान**—अरुचि, मन्दाग्नि, आध्मान, कास-श्वास, हिचकी, सर्दी-जुकाम, पाण्डु, प्रमेह, गुल्म, नवज्वर और वातरोगो मे गरम जल पिलायें।

३ जल एक वार मे अधिक नही पीना चाहिए अपितु थोडा-थोडा करके वार-वार पीना चाहिए।

४ **दुग्ध-निषेध**—मन्दाग्नि, आमवृद्धि, कुष्ठ, उदरशूल, कफवृद्धि और कृमि-विकार मे दूध पीना हानिकर है।

५ **तक्र-निषेध**—उष्णवात, मूर्च्छा, दाह, तृपा, रक्तपित्त, अम्लपित्त, सुजाक और प्रमेह मे मट्ठा पीना वर्जित है।

६ **दही-निषेध**—रक्तपित्त, अम्लपित्त, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, कुष्ठ, वातरक्त, पीनस, प्रतिश्याय, कफवृद्धि, क्षय, शोथ, सन्धिवात, इनमे और रात्रि मे दही नही खाना चाहिए। दिन मे जव दही खाना हो, तो उसमे नमक या चीनी मिलाकर खाना चाहिए।

७ दिन मे भोजन के अन्त मे तक्र का सेवन और रात मे भोजन के वाद दूध पीना हितकर है।

८ दूध और कटहल एक साथ नही खाना चाहिए।

९ दूध का मछली के साथ पूर्ण विरोध है।

१० दही बिल्कुल ताजा या तपाकर खाना हानिकर है।

११ दही गरम-गरम और उष्णार्त के लिए अति हानिकर है।

१२ मधु और घी वरावर मात्रा मे खाना विष-कारक है।

१३ रात्रि मे सत्तू खाना काल-विरोधी है।

१४ विना जल मिलाये सत्तू का सेवन नही करना चाहिए।

१५ **ताम्बूल-निषेध**—नेत्राभिष्यन्द, रक्तपित्त, क्षत, दाह, विपप्रकोप, मूर्च्छा, मदात्यय, इनमे ताम्बूल निषिद्ध है।

१६ **अदरख-निषेध**—कुष्ठ, पाण्डु, सुजाक, रक्तपित्त, दाह और निद्रानाश मे अदरख का सेवन निषिद्ध है।